वर्ष-69 अंक-2 अप्रैल-जून, 2023

Printed by : Satyam Publication, Delhi & Patna, 09386365631

www.abdpindia.net ISSN 0974-8849

UGC Care Listed Journal : Group-I, Sl. No.-4

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष-69
अंक-2
अप्रैल-जून, 2023

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

पदाधिकारीगण

अध्यक्ष

प्रो. जटाशंकर, आचार्य एवं अध्यक्ष (से.नि.), दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002, मो. : 09415634523, 09450961736, ई-मेल : profjatashankar@gmail.com

कार्यकारी अध्यक्ष

प्रो. रजनीश कुमार शुक्ल, कुलपति, महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, मो. : 07007243163

उपाध्यक्ष

प्रो. औतार लाल मीणा, आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, जयनारायण व्यास वि.वि. जोधपुर, मो. : 09414295615

डॉ. शिवानी शर्मा, अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, पंजाब वि.वि., चण्डीगढ़, मो. : 09814481575

सचिव

प्रो. ज्योति स्वरूप दुबे, डी.के. 5/176 दानिश कुंज, कोलार रोड, भोपाल-462042 (म.प्र.), मो. : 09425187989, email-jsdubey2010@gmail.com

संयुक्त सचिव

प्रो. रवीन्द्र के. एस. चौधरी, विश्वविद्यालय, आचार्य, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग सिदो कान्हु मुर्मू विश्वविद्यालय, दुमका-814110 (झारखण्ड) मो.-9470120853

डॉ. नमिता निम्बालकर, दर्शनशास्त्र विभाग, मुम्बई वि.वि. मो. : 09819389567

डॉ. राजेश्वर यादव, दर्शनशास्त्र विभाग, लखनऊ वि.वि., मो. : 09415789303

कोषाध्यक्ष

प्रो. दिलीप चारण, अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय, नवरंगपुरा अहमदाबाद, मो. : 09825148840

प्रधान सम्पादक

प्रो. रमेशचन्द्र सिन्हा, 201-202, सप्तर्षि अपार्टमेंट, राजकिशोरी कम्पलेक्स, कंकड़बाग, पटना-800020 (बिहार), मो. : 09334306254, 09234302879, ई-मेल : rcsinha22@gmail.com

सम्पादक

डॉ. शैलेश कुमार सिंह, 401, रामपरीप्रभा मैन्सन, आनंदपुरी, वेस्ट बारिंग कैनाल रोड, पटना-800001, मो. 09431821099, ई-मेल : drsingh_7@hotmail.com

डॉ. श्यामल किशोर, साकेतपुरी, बाजार समिति, राजेन्द्र नगर, पटना-800016, मो. 8210244310, ई-मेल : shyamalkishore11@gmail.com

सम्पादक का आग्रह

- कृपया संदर्भ मूल पुस्तक के आधार पर दें।
- आलेख के साथ सी.डी. अवश्य दें तथा आलेख (PageMaker 5.0 or Adobe Page Maker 6.5/7.0 अथवा MS Word format में Font-Kruti Dev 010 (हिन्दी) में होनी चाहिए, तभी छपने के लिए विचारार्थ सम्पादक मंडल के पास प्रेषित किया जायेगा।
- आलेख में तर्कपूर्ण बातों को प्रस्तुत करें तथा अपने अभिमत को स्पष्ट करें।
- ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और पुनरावृत्ति यदि तर्क को पुष्ट करता है तभी दें। दार्शनिक पक्ष पर अधिक बल दें।
- संदर्भ ग्रन्थ का उल्लेख सावधानी से और यथोचित स्थान पर करें।
- प्रचलित स्थापनाओं से मतभेद होने पर तर्कपूर्ण रूप में अपनी बातों को रखें।
- भाषा की सरलता एवं शुद्धता पर ध्यान दें।
- आलेख ज्यादा से ज्यादा 3000 शब्दों में होना चाहिए।
- संदर्भ-सूची आलेख के अन्त में दें।
- वैसा ही आलेख छपने के लिए सम्पादक मंडल के पास दें जो अन्यत्र नहीं छपा हो।
- संदर्भ देते समय ध्यातव्य है कि लेखक का नाम, पुस्तक का शीर्षक, प्रकाशक का नाम, प्रकाशन का स्थान तथा वर्ष और अन्त में पृष्ठ संख्या अवश्य दें।
- अन्ततः अपना पूरा पता, मोबाइल, फोन और ई-मेल दें।
- आलेख में प्रस्तुत विचार लेखक के हैं। सम्पादक की सहमति/असहमति का प्रश्न नहीं उठता है।

www.abdpindia.net

ISSN 0974-8849
अभिनिर्देशित
(Peer Reviewed)

दार्शनिक त्रैमासिक

UGC Care Listed Journal : Group-I, Sl. No.-4

वर्ष-69 अंक-2 अप्रैल-जून, 2023

प्रधान सम्पादक
डॉ. रमेश चन्द्र सिन्हा
पूर्व अध्यक्ष, आई.सी.पी.आर., नई दिल्ली
प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष
दर्शनशास्त्र विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

सम्पादक

डॉ. शैलेश कुमार सिंह
आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग
ए. एन. कॉलेज, पटना
(पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना)

डॉ. श्यामल किशोर
अध्यक्ष, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग
टी.पी.एस. कॉलेज, पटना
(पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना)

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

www.abdpindia.net

ISSN 0974-8849
अभिनिर्देशित
(Peer Reviewed)

दार्शनिक त्रैमासिक

UGC Care Listed Journal : Group-I, Sl. No.-4

वर्ष-69 **अंक-2** **अप्रैल-जून, 2023**

लेखकों के विचार उनकी स्वतंत्र अभिव्यक्ति है।

प्रतियाँ : 300
: 'अखिल भारतीय दर्शन परिषद्'
प्रकाशक : प्रो. ज्योति स्वरूप दूबे
सचिव,
अखिल भारतीय दर्शन परिषद्
मुद्रक : सत्यम् प्रकाशन
बहादुरपुर, पटना – 800016
मो. 7004979511, 9386365631
E-mail : satyampublication22@gmail.com

संरक्षक मंडल

- प्रो. रामजी सिंह, भागलपुर
- प्रो. सोहन राज तातेड़, राजस्थान
- प्रो. महेश सिंह, आरा
- प्रो. राजकुमारी सिन्हा, राँची
- प्रो. जे. एम. दवे, दिल्ली
- प्रो. गुणेश विष्णु पारनेकर, पारनेर
- प्रो. यू. सी. दूबे, वाराणसी
- डॉ. अजय तिवारी, रायपुर

सम्पादक मण्डल

- डॉ. रमाशंकर आर्य, पटना
- डॉ. राजेश कुमार सिंह, पटना
- डॉ. किस्मत कुमार सिंह, आरा
- डॉ. ज्योति शंकर सिंह, पटना
- डॉ. शिवानी शर्मा, चंडीगढ़
- डॉ. नागेन्द्र मिश्र, पटना
- डॉ. वीणा कुमारी, पटना
- डॉ. विजय कुमार, मुजफ्फरपुर
- डॉ. अरविन्द विक्रम सिंह, जयपुर
- डॉ. हेमलता मोरे, पूणे
- डॉ. गायत्री शर्मा, रायपुर
- डॉ. सुधांशु शेखर, मधेपुरा

परामर्श मण्डल

- डॉ. सभाजीत मिश्र, गोरखपुर
- डॉ. आर. के. देसवाल, कुरुक्षेत्र
- डॉ. ई. आर. मठवाले, पूर्णा (ज.)
- डॉ. अवधेश कुमार सिंह, बेगूसराय
- डॉ. आर.पी. श्रीवास्तव, मुजफ्फरपुर
- डॉ. भगवंत सिंह, रायपुर
- डॉ. विजय कांत दुबे, ज्ञानपुर, भदोही

विधि सलाहकार

श्री राकेश मालवीय, नई दिल्ली

विशिष्ट सदस्य

- प्रो. सोहन राज तातेड़, राजस्थान
- प्रो. रामजी सिंह, भागलपुर
- प्रो. सुधा चौधरी, उदयपुर
- प्रो. पी. शेषाद्रि, मुम्बई
- डॉ. अनिता महतो, पूर्णिया
- डॉ. हेमलता मोरे, पुणे
- डॉ. सुधांशु शेखर, मधेपुरा
- डॉ. रजनी श्रीवास्तव, लखनऊ
- डॉ. शीलेन्द्र एस. शर्मा, राजकोट
- प्रो. राजकुमारी सिन्हा, राँची
- प्रो. ऋषिकान्त पाण्डेय, इलाहाबाद
- डॉ. यामिनी सहाय, हजारीबाग
- श्रीमती रेखा यादव, अजमेर
- डॉ. मुरली मनोहर पाठक, गोरखपुर
- प्रो. शैल कुमारी, मुजफ्फरपुर
- डॉ. धर्मेन्द्र कुमार, दिल्ली
- डॉ. शिवपरसन सिंह, आरा
- डॉ. शैलेन्द्र कुमार सिंह, बोधगया

www.abdpindia.net

ISSN 0974-8849
अभिनिर्देशित
(Peer Reviewed)

दार्शनिक त्रैमासिक

UGC Care Listed Journal : Group-I, Sl. No.-4

वर्ष-69 अंक-2 अप्रैल-जून, 2023

अनुक्रमणिका

1. हिन्दू धर्म में राम भक्ति : एक विवेचन — *प्रो. वीणा कुमारी* 1–9
2. भारत में शास्त्रीय–शोधविमर्श क्षेत्र की दशा एवं दिशा — *प्रो. किस्मत कुमार सिंह* 10–19
3. महावीर और ओशो : विमर्श की प्रासंगिकता — *डॉ. विजय कुमार* 20–23
4. भारतीय भाषा–दर्शन का आद्यात्मक तुल्यनीयता — *डॉ. जयन्त उपाध्याय* 24–42
5. वैश्विक चेतना : भारतीय दर्शन के संदर्भ में — *डॉ. कीर्ति चौधरी* 43–48
6. ''वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता'' : एक समीक्षा — *डॉ. रास बिहारी शर्मा* 49–54
7. सम्यक् श्रवण — *डॉ. रेणु बाला* 55–62
8. बौद्ध महायान, भागवद्गीता एवं मध्यकालीन साधना : एक अवलोकन — *कमलेश कुमार सिंह* 63–68
9. भारतीय ज्ञान–परम्परा के मूलभूत अर्थसन्दर्भ — *डॉ. राम नारायण मिश्र* 69–73
10. मिथिलांचल संस्कृति में लोकनाट्य : एक दार्शनिक विश्लेषण — *डॉ. रीता शर्मा* 74–81
11. 'आचार्य उदयन कृत न्यायकुसुमांजली' का मिथिला की दार्शनिक परम्परा में योगदान — *रंजना यादव* 82–90
12. ज्ञान का स्वरूप : जैन दर्शन के आलोक में — *डॉ. रामधनी राम* 91–93
13. आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा रचित श्री परात्रिंशिका में अनुत्तर तत्त्व — *डॉ. पूजा कुमारी* 94–101
14. आदिम युग में आत्मवाद एवं इसका प्रभाव : एक अवधारणात्मक अध्ययन — *डॉ. रवि शंकर कुमार* 102–106
15. योग : एक उच्चस्तरीय मनोविज्ञान — *डॉ. मो. अरशद अली* 107–113
16. अघोर सन्त अघोरेश्वर महाप्रभु की धर्म–मीमांसा — *डॉ. आशुतोष कुमार सिंह* 114–121

17. जैन दर्शन में अनेकान्तवाद ***डॉ. कुमारी प्रतिभा सिंह*** 122–132
18. भारतीय सामाजिक मूल्य एवं प्रथाएं : एक दार्शनिक विश्लेषण
पूजा भारती गोस्वामी एवं प्रो. अवतार लाल मीणा 133–143
19. बौद्ध चिंतन के दौर में राहुल सांकृत्यायन के आत्मा और
ईश्वर सम्बन्धी विचार ***ललित कुमार*** 144–148
20. ईश्वर का स्वरूप : पातंजल योग–दर्शन के सन्दर्भ में
डॉ. शशिभूषण प्रजापति 149–151
21. भारतीय दर्शन का उद्भव एवं विकास : एक अध्ययन
डॉ. रूपेश कुमार सिंह 152–157
22. मोक्षस्य सहकारिसाधनम् ***आलोक कुमार पाण्डेय*** 158–163
23. वैशेषिक दर्शन में परमाणुवाद ''पदार्थधर्मसङ्ग्रहः''
के विशेष सन्दर्भ में ***मनीष कुमार चौधरी*** 164–175
24. भारतीय धर्मों की सौन्दर्यात्मक अवधारणा ***जुली कुमारी*** 176–180
25. सूफी दर्शन में स्त्री विमर्श ***शहजादी खातून*** 181–189
26. भारत का आदर्श : विवेकानंद की दृष्टि में ***सौरभ कुमार चौहान*** 190–200
27. चेतना का स्वरूप : भारतीय दर्शन के संदर्भ में ***दीपा सिंह*** 201–205
28. जैन दर्शन का पंच महाव्रत : एक नैतिक विवेचन
(सहिष्णुता के आलोक में) ***रेशमी कुमारी एवं डॉ. नागेन्द्र मिश्र*** 206–213
29. बौद्ध दर्शन में निर्वाण की अवधारणा : एक गवेषणात्मक अध्ययन
स्नेहा कुमारी 214–219
30. आधुनिक जीवन में भौतिकवाद का स्वरूप :
एक दार्शनिक विश्लेषण ***रूपा कुमारी*** 220–225
31. धर्म परिवर्तन बनाम धार्मिक परिवर्तन : एक अध्ययन ***ऋचा सिंह*** 226–231
32. पीटर सिंगर के अनुसार "स्पीशीज़िज्म" : वर्त्तमान संदर्भ में
शिवि सिन्हा 232–241
33. भारतीय राष्ट्रवाद का एक आध्यात्मिक सिद्धांत :
एक पृष्ठावलोकन ***पंकज कुमार*** 242–258
34. भारतीय परिप्रेक्ष्य में शुभ जीवन का दार्शनिक विश्लेषण
नीलू कुमारी 259–264
35. बहुसंस्कृतिवाद : भारतीय संस्कृति की मुख्य अवधारणा
डॉ. अछिया बेगम 265–273
36. भारतीय दर्शन में योग : एक चिंतन ***अवनीश कुमार मिस्त्री*** 274–280
37. जैन परिप्रेक्ष्य में पर्यावरणीय चेतना ***दिव्यानी*** 281–288
38. ज्ञान निर्माण में काण्ट के दर्शन की प्रासंगिकता ***सुरबाला वर्मा*** 289–296

❑

संपादकीय...

'दार्शनिक त्रैमासिक' में बहुचर्चित, सफल और अतिलोकप्रिय व्यक्तियों का आलेख होना हर्ष का विषय है। किसी जमाने में दार्शनिक त्रैमासिक को अच्छे आलेख नहीं मिलते थे लेकिन अब काफी उत्कृष्ट आलेख अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के अधिवेशन में प्रस्तुत होते हैं। दार्शनिक त्रैमासिक के सफर में नये विद्वत्जन जुड़ते गये। उनमें कुछ नाम अतिविशिष्ट हैं जिनके सहयोग की मैं सराहना करता हूँ।

एक कटुसत्य है कि कुछ लेखकों ने 'दार्शनिक विधि' को ठीक से अपनाया नहीं है। वस्तुतः सम्पादक मंडल श्रृंखलाबद्ध ढंग से लिखे हुए आलेख को छापने की संस्तुति करते हैं। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् सदैव नवोदित दार्शनिकों को प्रोत्साहित करती है। बहुत सारे लेखक या दर्शन के छात्र उदासीन रहते हैं। कुछ अति उत्साहित रहते हैं। कुछ लोगों का हर वर्ष आलेख छपता है। सुधी कार्यकारिणी जैसा निर्देश देती है वैसा ही कार्य सम्पादक मंडल करता है।

इस प्रति को तैयार करने में सम्पादक मंडल के सदस्य प्रो. किस्मत कुमार एवं प्रो. वीणा कुमारी ने अथक प्रयास किया है। उन्हें धन्यवाद देते हुए अपार हर्ष की अनुभूति हो रही है। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के अध्यक्ष प्रो. जटाशंकर एवं सचिव डॉ. ज्योति स्वरूप दुबे का सहयोग सदैव प्राप्त रहा है।

डॉ. शैलेश कुमार सिंह एवं डॉ. श्यामल किशोर ने दार्शनिक त्रैमासिक के सम्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। मैं उन्हें साधुवाद ज्ञापित करता हूँ। डॉ. नीरज प्रकाश की लगनशीलता का फल है कि यह पत्रिका सभी को अधिवेशन के दौरान उपलब्ध होती है।

30 जून, 2023

रमेश चन्द्र सिन्हा
प्रधान सम्पादक
दार्शनिक त्रैमासिक
अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

हिन्दू धर्म में राम भक्ति : एक विवेचन

डॉ. वीणा कुमारी *

वैदिक युग के पश्चात् जब तत्कालीन समाज का विस्तृत विकास हुआ तब धार्मिक क्रिया कलापों में भी परिवर्तन आया। राम से संबंधित ग्रंथों में हिन्दू धर्म के विषय में विस्तृत चर्चा मिलती है जिसमें जगतनियन्ता, पालन कर्त्ता देवाधिदेव विष्णु के अवतार और पृथ्वी पर सत् की प्रतिष्ठा की चर्चा की गयी है। ज्ञातव्य है कि राम को विष्णु का अवतार माना गया है और रामायण को भारतीय इतिहास का सर्वप्रथम महाकाव्य। विद्वानों ने इसकी रचना काल 500 ई.पू. माना है।[1] रामायण के मूल लेखन 600 ई.पू. के पूर्व ही हुआ था।[2] रामायण में यह दर्शित किया है कि 'राम का चरित्र ही धर्म' है। यह चरित्र संयम, सत्य, इन्द्रिय नियंत्रण, कर्तव्य पालन, दायित्व सर्वधर्म नैतिकता, लोक मर्यादा की रक्षा, समाज व्यवस्था में योगदान आदि पर अवलम्बित था जिसके कारण यह मूर्तिमान धर्म है 'रामो विग्रहवान धर्मः।' स्पष्ट है कि वे सत्य, धर्म और सदाचार के अनुयायी थे तथा असत के विरोधी। माना गया कि राम एक ऐसा नैतिक आदर्श है जिसमें देवत्व है और वे सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिए वे अवतरित हुए हैं। संभवतः समाज में उनके गुणगान ही कालक्रम में भक्ति और प्रार्थना का विशद् स्वरूप धारण कर लिया होगा।

श्री राम भक्ति का विकासात्मक अध्ययन करने के पूर्व भारत में भक्ति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अवलोकन परम अनिवार्य है। भक्ति की इस विकसित धारणा के मूल में एक विस्तृत इतिहास है, जो हमें पौराणिक युग से भी पूर्व वैदिक युग तथा उससे भी पूर्व वैदिक काल की उपासना पद्धति से अवगत कराता है। वैदिक युग से पूर्व द्राविड़ सभ्यता में भी शक्ति–पूजा का विधान बताया जाता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि उपास्य की कल्पना स्त्री रूप में ही की जाती

** प्रोफेसर, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग, जे.डी. वीमेंस कॉलेज, पटना*

थी, वेद के पूरुष रूप की भाँति नहीं। तत्कालीन पूजा विधान की प्रेरणा बौद्धिक या हार्दिक न होकर बाह्य अथवा भय से प्रेरित थी। धर्म के कई दृष्टिकोण कहे गये हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में उसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है कि 'शब्दावलम्बी शासनपक्षदर्शी शुष्क धार्मिक के लिए धर्म राजा है',[3] जिसके सामने वह प्रजा की तरह बड़े अदब कायदे के साथ नियम और विधि के पूरे पालन के साथ करता जाता है, बुद्धिपक्षदर्शी के लिए धर्म गुरु या आचार्य है, जिसके सामने वह विनीत शिष्य के रूप में शंका समाधान करता पाया जाता है, पर भक्त धार्मिक के लिए धर्म प्यार से पुकारने वाला पिता है। उसके सामने वह भोले–भोले छोटे बच्चे की तरह जाता है, कभी उसके ऊपर लौटता है, कभी सिर पर चढ़ता है वह धर्म को प्यार करता है, धर्म उसे अच्छा लगता है। उसका आनन्द लोक भी शुष्क धार्मिक के स्वांग से ऊपर है। वह प्रिय या उपास्य का सामीप्य है।'[4] उपर्युक्त कथन के अनुसार वैदिक–युग की उपासना भयजनित ही थी। असभ्य समाज भय एवं आतंक से देव–पूजन करता था कि कहीं उनका कुछ अनिष्ट न हो सके। अतः वह सर्वप्रथम प्राकृतिक शक्तियों के प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित कर अपनी कल्याण की कामना करता था। इस पूजा का प्रकार 'द्रव्य यज्ञ' के नाम से किया जाता था। बाह्य उपादानों से विभिन्न देवों की पूजा कर लोग अपना अभ्युदय मनाते थे। इस प्रकार यह केवल बाह्य साधना थी। शनैः शनैः हृदय–पक्ष का भी संयोग हुआ। इन देव प्रार्थनाओं में केवल बाह्य शिष्टाचार के अतिरिक्त उनमें प्रेम भावना का भी संचार होने लगा। मननशीलता और भावुकता का ही प्रतीक उषा स्तुति आदि है जिसकी स्तुति की गई और भगवान् को पुरुष रूप में भावना व्यक्त की गई। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में यह व्यक्त की गई[5] और इस प्रकार नारायण रूप में उपासना प्रारम्भ हो गई। जिसका व्यापक विवेचन निम्नांकित है। हिन्दू–धर्म की ऐतिहासिक परम्परा वैदिक काल से प्रारम्भ होती है, जिसका स्थूल वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है।

1 कर्म–प्रधान वैदिक युग।

2. ज्ञान–प्रधान औपनिषद–युग।

3. भक्ति–प्रधान पौराणिक युग।

वेदों का प्रमुख चार अंग है–

1. संहिता।

2. ब्राह्मण।

3 आरण्यक ।

4. उपनिषद् ।

(क) वेदों में भक्ति–भावना : सामान्यतः लोगों की यही धारणा है कि वेद 'यज्ञ प्रधान' है अतएव उनमें भक्ति का विवरण नहीं मिलता परन्तु तथ्य ऐसा नहीं है। वेदों में भक्ति के भी बीज विद्यमान हैं।

1. संहिता में भक्ति : संहिताओं में कर्मों की विविधता प्रमुखतः वर्णित है। परन्तु इसके साथ ही इन संहिताओं में उल्लिखित विविध स्तुतियाँ संहिताओं को भक्ति का उद्‌गम स्थल प्रमाणित कर देती हैं। इन प्रार्थनाओं में अनुरागात्मिका भावना दर्शनीय है। संहिता–युग में प्रत्यक्ष देवों की स्तुतियाँ की जाती थीं क्योंकि उस युग के प्रधान देव अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वरुण, वायु माने जाते थे। इन देवों के प्रति सम्बन्ध भावना स्थापित कर प्रार्थनाएँ की गई हैं, जो कि पूर्णरूपेण भक्ति के बीज परिलक्षित करती हैं। ऋग्वेद में अग्नि की स्तुति परमेश्वर के स्तुत्य महत्व की ओर निर्देश करती है।[6] भक्त का ही रूप नहीं अपितु भगवान् की भक्त वत्सलता भी संहिता में वर्णित है।[7] संहिता में भक्त की भावना एवं भगवान् की भक्त–वत्सलता के अतिरिक्त भगवान् का स्वरूप भी वर्णित है। वह विविध रूपों में भी अक्षुण्ण एकता ही प्रतिपादित करने वाला है।[8] श्री बलदेव उपाध्याय का निष्कर्ष है कि–'भक्ति की भावना हमें सबसे अधिक मिलती है वरुण के सूक्तों में, वैदिक देवताओं में वरुण का स्थान सर्वतोभावेन मूर्धन्य है। वह विश्वतश्चक्षुः है अर्थात् सब ओर दृष्टि रखने वाला है। वह घृतव्रत (नियमों को धारण करने वाला) सुक्रतु (शोभन कर्मों का निष्पादक)। तथा सम्राट है। वह सर्वज्ञ है, वह अंतरिक्ष में उड़ने वाले पक्षियों का मार्ग उसी प्रकार जानता है जिस प्रकार वह समुद्र पर चलने वाली नावों का। स्तोता वरुण को दया तथा करुणा गुणों का निकेतन मानता है।'[9]

2. ब्राह्मण में भक्ति : 'ब्राह्मण' का शब्द व्युत्पत्ति है 'ब्रह्मणोऽयमिति ब्राह्मण' जो बहा (वेद) से सम्बन्ध है वह ब्राह्मण कहलाता है। 'ब्राह्मण' शब्द के इस व्यापक अर्थ के अनुसार वेदों की प्रत्येक ऋचा प्रत्येक प्रार्थना मंत्र–प्रत्येक वस्तु जो देवताओं को समर्पित होती है, ब्राह्मण है। वेदों का वह भाग जो विविध वैदिक यज्ञों के लिये वेद मंत्रों के प्रयोग के नियमों से उनकी उत्पत्ति एवं विवरण पूर्ण व्याख्या का कथन करना है तथा जिसमें समय–समय पर सुविस्तृत दृष्टान्तों के रूप में परम्परागत कथाओं, एवं कहानियों का समावेश रहता है।'[10] 'ब्राह्मणों' में विष्णु 'सोम' के प्रतिनिधि कहे गये क्योंकि 'सोम' में पोषण तत्व विद्यमान होता है विष्णु में भी पोषक शक्ति मानी गई। इसी प्रकार रूद्र अग्नि के प्रतिनिधि माने गये।'[11]

3. उपनिषद् में भक्ति : औपनिषद् युग ज्ञानप्रधान युग के नेता हैं। अतएव उपनिषद 'ज्ञान कांड' के प्रमुख ग्रंथ माने जाते हैं। इसमें भक्ति या कर्म की चर्चा नहीं है। उपनिषद् ज्ञान, भक्ति, वर्ग समन्वित है। उपनिषद् में प्रत्येक वस्तु का तात्विक विवेचन किया गया है। इसके साथ ही उपनिषद् में पूजा का महत्व, उपास्य का स्वरूप और उपासक के रहस्य का भी विस्तृत वर्णन है। केनोपनिषद में लिखा है– 'तद्वानमित्युपासितव्यम।'[12]

उपास्य के स्वरूप का निम्नांकित विवेचन कठोपनिषद् में वर्णित है।[13] उस परमात्म तत्व के प्रति भक्ति भावना की चर्चा इस प्रकार है।[14] इतना ही नहीं उपनिषद् में आत्मा–परमात्मा के सम्बन्ध में 'सख्य–भाव' की उपासना का भी वर्णन है।[15] उपनिषदों में प्रतीकोपासना का भी रूप अनेक स्थानों पर मिलता है। उपनिषद् काल में उपासना का स्वरूप विस्तृत होता चला गया जिसके परिणाम स्वरूप ब्रह्म का स्वरूप नर रूप में ही नहीं वरन अन्न, प्राण, मन, ज्ञान, आनन्द सभी रूपों व्याप्त माना गया।

(ख) पुराणों में भक्ति : सनातन धर्म के सुदृढ़ स्तम्भ भक्ति भावना के अमूल्य मणिरत्न इन पुराणों का भक्ति के विकास में प्रमुखतम स्थान है। जिस परम तत्व को वेदों ने गूढ़ रक्खा, इन पुराणों ने उसी को सौंदर्य शिरोमणि रूप में प्रेम–वश रूप प्रदान कर दिया। 'पुराण रत्न' श्री रसिक मोहन जी की उक्ति नितान्त संगत एवं यथार्थ है कि भक्ति साधना का जो बीज वेदों के संहिता भाग में ही निहित है, वही क्रम विकास के पथ में उपनिषद् में आकर अंकुरित और पल्लवित हुआ है। पुराणों में वह शाखा प्रशाखा–युक्त, फूल फल से समृद्ध महावृक्ष के रूप में परिणत होता है।'[16] इन 18 पुराणों में से अधिकांश पुराण वैष्णव धर्म से सम्बन्धित हैं। ग्रहा–वैवर्त्त, पद्म, विष्णु एवं श्रीमद्भागवत पुराण भगवान् विष्णु के स्वरूप उनके महत्व निरूपण तथा भक्ति निरूपण की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इन सभी पुराणों में श्रीमद्भागवत की महिमा अवर्णनीय है। यह सभी दृष्टियों में सर्वश्रेष्ठ पुराण है, भक्ति–शास्त्र है। यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि भागवत् उपजीव्यग्रन्थ है सभी पर–कालीन भक्ति सम्प्रदाय इसी पर आधारित हैं। भागवत् में भगवान् ने स्वयं अपना तात्विक निरूपण ब्रह्म से किया है,[17] जिससे यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि ब्रह्म निर्गुण, सगुण दोनों हैं, जीव, जगत् भी वही हैं जीव अविद्या से ग्रसित होने के कारण उसी ब्रह्म का प्रतिविम्ब रूप माना जा सकता है। जगत् उसी का विवर्त रूप ही है। भागवत् में भक्ति के स्वरूप एवं प्रमुख साधनों का भी उल्लेख किया गया है।[18] उक्त भक्ति में ज्ञान

एवं वैराग्य का समावेश स्पृहणीय मान गया है।'[19] कपिल मुनि ने भक्ति का तात्विक विवेचन अन्य प्रकार से किया है जिसमें भक्ति का विस्तृत निरूपण किया गया है। कपिल मुनि भक्ति के दो प्रमुख भेद करते हैं–

1. सगुण 2. निर्गुण

उन्होंने सगुणा को भी गुणों के अनुसार विभाजित किया है। निर्गुणा या अहैतुकी भक्ति सर्वोत्तम कही गई है। यही सर्वश्रेष्ठ प्रेम है।[20] इस भक्ति तक पहुँचने के लिये पहले सात्विकी भक्ति के सोपान पर आरूढ़ होना परम अनिवार्य है। इसमें भक्त कर्मजन्य संकल्पों के निवृत्ति के लिए इस भक्ति योग का अवलंब मिलता है और भगवत्कृपा से तत्वज्ञान प्राप्त कर भगवदर्पण भाव से कर्मानुष्ठान मिलता है। इस प्रकार की भावना से देह, मन, इंद्रिय, बुद्धि पवित्र होती है और आत्मा रूप फिर से जागृत भाव में प्रतिभायुक्त हो जाती है, परंतु भगवत्प्रेम साधन से साध्य, सौंदर्य और स्वभाव ही नहीं बन जाता।

(ग) तुलसीदास की उपासना का स्वरूप : तुलसीदास ने अपने मानस में स्थान–स्थान पर भक्ति के तत्वों का व्यापक निरूपण भी किया है तथा अपने पात्र पात्राओं के चरित्र चित्रण में उसका व्यवहारात्मक रूप भी निदर्शित किया है। 'भक्ति' में तीन पक्ष प्रधान होते हैं–

1. भगवान, 2. भक्त, 3. भक्ति।

आपने भक्ति को भाव प्रधान ही मानकर कहा है कि 'भावबस्य भगवान् सुख–निधान करुणा–भवन'।[21] स्वयं राम भक्ति के स्वरूप का तात्विक विवेचन करते हैं तुलसी की भक्तिपरम्परा प्राप्त शास्त्रीय–पद्धति का प्रतिरूप नहीं है, अपितु उसमें पूर्व भक्ति के सम्प्रदायों के विविध रूपों का समन्वय है, जिसमें तुलसी की सहज मौलिकता भी जाज्वल्यमान हो रही है। भगवान के प्रति भाव–समर्पण के कई रूप हैं, जिनमें से तुलसी सैद्धान्तिक रूप से तो यही कहा है कि 'तोहि मोहि गुण अनेक मनिए जो भावै, लेकिन 'दास्य' का ही प्रधान रूप है। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामी भगवंत[22] का सिद्धांत सर्वमान्य है। अनेक कथा प्रसंगों में तुलसी ने इस दास्य भावना को प्रतिष्ठित किया है। मुनि सुतीक्ष्ण भी यही कहते हैं।[23] नाथ भी राम के प्रति सर्वत्र 'नाथ' का ही सम्बोधन कर अपना दासत्व प्रगट करता है। उनके दास्य भाव से प्रणित राम भक्ति के अधिकारी उन्हें अपनी 'अमलाभक्ति' प्रदान करते हैं।[24] काग भुसुण्डि के माध्यम से तुलसी इस दास्य भावना पर अपना सैद्धान्तिक निष्कर्ष भी देते हैं।[25] यह 'कैंकर्य भाव' आजीविकोपार्जन वाला भाव नहीं है। इसमें तन्मयतासक्ति का पूर्ण रूपेण

समावेश है। इसमें तुलसी चातक[26], मीन[27], कामी पुरुष[28] तथा अविवेकी पुरुष[29] के उदाहरण देते हैं, जिनमें अनन्यता एवं पूर्णाशक्ति ही परिलक्षित है। तुलसी की भक्ति साधन नहीं अपितु साध्य स्वरूपा भी है।[30] तुलसी के विविध भक्ति के साधनों का मूल है तुलसी का समन्वयवाद। तुलसी की भक्ति स्वतन्त्र[31] होते हुए भी ज्ञान–मार्ग एवं कर्म मार्ग समन्वित है। तुलसी ने सभी वेद वर्णित साधनाओं की भी अपने भक्ति मार्ग में समन्वित किया है। उनकी भक्ति भी अन्य भक्ति नहीं है अपितु ज्ञान एवं वैराग्य से पूर्ण रूपेण समन्वित हैं जैसा कि वे स्वयं कहते हैं।[32] गोस्वामी जी ने सब प्रकार की आसक्तियों के भक्तों के दृष्टान्त उपस्थित किये हैं, यथा गुणमाहात्म्यासक्त–भक्तों में नारद, भुशुंडि एवं शिव, रूपासक्त भक्तों में मिथिला के नर–नारी, राजा जनक तथा दंडकारण्य के ऋषि, पूजासक्त भक्तों में भारत, स्मरणासक्त भक्ति की कोटि में प्रह्लाद, ध्रुव सनकादि, दास्यासक्त भक्तों में निषाद, सुग्रीव और विभीषण, कान्तासक्त भक्तों में जानकी, वात्सल्यासक्त भक्तों में मनु, शतरूपा, दशरथ तथा कौसल्यादि, आत्मनिवेदनासक्त भक्त की कोटि में विभीषण एवं हनुमान, तन्मयतासक्त भक्तों में सुतीक्ष्ण, परम विरहासक्त भक्तों में महाराज दशरथ को समझना चाहिये।'[33]

(घ) तुलसीदास के अनुसार भक्त या उपासक का स्वरूप : तुलसी के अनुसार भक्त और संत दोनों एक ही हैं। संतो के लक्षण ही भक्त के लक्षणों के रूप में अनेक स्थलों पर[34] विस्तार पूर्वक वर्णित हैं जिनका मूल है भक्त का निष्कपट रूप। भगवान् स्वयं कहते है।[35] तुलसी ने भक्त के विविध रूपों में 'शरणागति' या 'प्रपन्न भाव' का विशेष महत्त्व वर्णित किया है। स्वयं भगवान् से भी यही कहलाया है।[36] इतना ही नहीं भगवान् राम तो यहाँ तक कहते हैं–

कोटि विप्र बध लागहिं जाहू।
आएँ सरन तजऊँ नहिं ताहू ।।[37]

तुलसी की उपासना पद्धति वेद, पुराण तथा अन्यान्य सच्छास्त्रों में वर्णित सदाचार शिष्टाचार और सूक्ष्मातिसूक्ष्म धर्म तत्वों को अपनाती हुई चलती है।[38] तुलसी ने भक्ति को केवल भाव ही नहीं अपितु रस–रूप प्रदान किया है इसलिये वे कहते हैं–

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन ।
नाम सुप्रेम पीयूष ह्रद तिनहुँए मन मीन।

भक्त भरत के प्रति भी भरद्वाज इसीलिये कहते हैं–

राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु।।[39]

वस्तुतः तुलसी की भक्ति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक, उदार एवं सर्वगाह्य है भक्ति का महत्त्व एवं मुल्य निर्धारण कर तुलसी अपना निष्कर्ष भी देते हैं।[40] तुलसी द्वारा वर्णित यह भगवत्कृपा–साध्य भक्ति वस्तुतः चिन्तामणि ही है जिसके प्रकाश से जीव आलोकमय होकर तेज पुंज बन जाता है और फिर केवल एक मात्र यही उसकी पुकार शेष रह जाती है[41] और सिद्धगण भी मुक्ति निरादर भगति लुभाने होकर कृतकार्य हो जाते हैं।

संदर्भ

1. एस.के. माथुर, प्राचीन भारत का इतिहास, ज्ञानदा प्रकाशन, पृ. 105
2. डॉ. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ. 678–79
3. सूरदास भक्ति का विकास, पृ. 4
4. सूरदास भक्ति का विकास, पृ. 4
5. ऋग्वेद 213 भक्ति अंक पृ. 35
6. त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सातमसि त्वंविष्णुरुगायो नमस्यः त्वं ब्रह्मा रायविद् ब्राह्मणस्पते त्वं विधतर्रु सचसे पुरञ्चया।। –ऋग्वेद 213, भक्ति अंक
7. ऊँ गाव इव समं युयुधिरिवाश्यान वाश्रेव वत्सं सुमना दुहाना।
   पतिखि जयं अभिनोऽन्येतु धृत दिवः सविता विश्ववारः।।
   – ऋग्वेद 10(148) 4. भक्ति अंक
8. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वनमातुः। ऋग्वेद 1/164/46 भक्ति अंक, पृ. 42
9. भागवत सम्प्रदाय पृ. 67, 68
10. वैदिक साहित्य परिशीलन पृ. 87,88
11. अग्निवैसेदवः। तस्यैतानि नामानि सर्व इति
    यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा बाहीकाः।
    पशनां पती रूद्रो ताल्यस्य अशान्तान्येवेत्राणि नामानि।
    अग्निरितयेव शान्ततमम्। – शतपथ ब्राह्मण 1/7/8
12. केतोपनिषद 4/6
13. अणो रानियाँ मती महियानात्मास्य जन्तोर्निहितो
    गुहायाम तमक्रतुः पश्यति वीत्सिको धातुः
    प्रसादान्महिमानमात्मनः। –कठोपनिषद् 1/2/20

14. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुतेतेन लभ्यस्तस्योप आत्माविवृणुतनस्याम्।।
—कठोपनिषद् 1/2/3
15. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं रसायन परिपस्वजाते।
त्योरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य नश्न्नन्यो अभिवाकशीति।।
—मुण्डकोपनिषद् 3/1/1
16. भक्ति अंक पृ० 54, 55
17. भ. 2932
18. श्रवणं कीर्तनं विष्णुः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।
इति पुंसार्पिता विष्णो भक्तिश्चेन्नवलक्षणा। भा. 7/5/23,24
19. इत्यच्युतइभिजतोऽनुवृत्या भक्तिर्विर्वितर्भगवतप्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजस्ततः परां शांतिमुपैति साक्षात्।।
—भा. 11/3/43
20. भक्तियोगी बहुविधो मागर्भामिनि भाव्यते।
स्वभावमार्गेण पुंसा.....विजा मत्सेवतं जनाः।।
—भा. 3/29/7 से 13 तक
21. जाते बेगि द्रवउँ में भाई।
सो मम भगति भगत सुखदाई।। —मा. 3/15/2
22. रामचरितमानस 4/3
23. अस अभिमान जाइ जनि भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे।। रामचरितमानस 3/10/21
24. विदा किन्ह करुणायतन भगति विमल बरु देइ।। — मा. 2/102
25. सेवक सेव्य भाव वितु भव न तारिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अससिद्धि विचार।। मा. 7/119/क
26. जग जस भाजन चातक मीना । मा० 2/233/3
27. लोभिहि प्रिय जिमि दाम। मा० 7/130
28. जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहि। मा० 2/141/2
29. राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। मा0 7/118/4
30. भक्ति स्वतन्त्र सकल सुख खानी। मा0 7/445

31. (क) श्रुति संमत हरि भवित्त पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहिं न चलहि नर मोह बस कलपहिं पंथ अनेक ।।
—मा0 7/100/ख

(ख) बिरति चर्म असि ज्ञान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पिया सो हरि भगति देखु खगेस बिचारी।।
—मा० 7/120/ख

32. तुलसीदास और उनका युग – डॉ० राजपति दीक्षित पृष्ट 154,155
33. (क) रामचरितमानस 3/43 से 46 दोहे तक
(ख) रामचरितमानस 7/37 से 38 दोहे तक
34. निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मेहि कपट छल छिद्र न भवा।। मा0 5/43/5
35. जाना चहहिं गूढ्ढ गति जेऊ।
नाम जीह जपि जानहिं तेऊ।।
साधक नाम जपहिं लय लाएँ।
होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ।।
जपहिं मामु जन आरत भारी।
मिहिं कुसंकट होहिं सुखारी।।
राम भगत जग चारि प्रकारा।
सुकृती धारिउ अनघ उदारा।।
चह चतुर कहुँ नाम अधारा।
ग्यानी प्रभुहि विशेषि पिआरा।। मा० 1/21/3–7
36. रामचरितमानस 5/43/1
37. तुलसीदास और उनका युग, द्वारा डॉ० राजपति दीक्षित, पृष्ठ 158
38. रामचरितमानस 1/22
39. रामचरितमानस 2/208
40. विनिश्चतं वदामि ते न अन्यथा वचासि में।
हरि नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते।। —मा. 7/122/ग

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

भारत में शास्त्रीय–शोधविमर्श क्षेत्र की दशा एवं दिशा

प्रो. किस्मत कुमार सिंह *

जीवन और जगत को समझने–देखने की भारतीय दृष्टि और पश्चिमी दृष्टि में पूरब और पश्चिम जितना अंतर है। पश्चिमी विचार जीवन और जगत् को भौतिक छोर से देखता है जबकि भारतीय विचार उसे आत्मिक छोर से देखता है। भारतीय दृष्टि की सामान्य मान्यता है कि आत्मतत्व ही विश्वरूप का अर्थात जड़–चेतन संपूर्ण सृष्टि का एक और केवल एक मूल है।[1] उसके आलोक में ही सृष्टि को सम्यक रूप में समझा जा सकता है। पश्चिम का सामान्य विचार है कि भौतिक विश्व ही सृष्टि को समझने का मापदंड प्रस्तुत कर सकता है, क्योंकि वह इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है। इसका परिणाम यह होता है कि आत्मिक दृष्टि से देखने पर समस्त विश्व को समग्रता में और पूर्ण विस्तार में देखा जाता है, परन्तु भौतिक दृष्टि से देखने पर अनेक बातें अनदेखी और अनसमझी रह जाती हैं। पश्चिम बताता है कि प्रयास निरन्तर जारी है और एक दिन भौतिक विज्ञान इतनी प्रगति करेगा कि सृष्टि में कुछ भी अनदेखा नहीं रह जायेगा। भारतीय मनीषा इस आशावाद को सिरे से खारिज तो नहीं करती, परन्तु आजतक की ज्ञान क्षेत्र की यात्रा में, अभी न तो भारत ने न ही पश्चिम ने भौतिक छोर से यात्रा शुरू कर सृष्टि को समग्रता में जानने में यश प्राप्त किया है।

वर्तमान भारत में शोध और अनुसंधान का पश्चिमी मॉडल (प्रतिमान) ही प्रस्थापित है। वही प्रचलित और अधिकृत है। हमें उसे भारतीय स्वरूप देना है तो कुछ मूल बातों पर विचार करना होगा।

1. काफी पहले से भारत की शोध परंपरा खंडित हो गयी है। इसका कारण स्पष्ट है कि, दस बारह पीढ़ियों से भारत में शास्त्रों का अध्ययन नहीं हो रहा है,

** प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा*

अध्ययन हो भी रहा है तो वह पश्चिमी पद्धति से हो रहा है। भारत के शास्त्रों का जीवन के साथ संबंध नहीं के बराबर रह गया है। राष्ट्रीय जीवन की सारी व्यवस्था प्रायः पश्चिमी ज्ञान के आधार पर चल रही है। भारत के विश्वविद्यालयों में पश्चिमी ज्ञान दिया जाता है। परिणामस्वरूप भारतीय शास्त्रों का जीवन व्यवहार के क्षेत्र में और बौद्धिक क्षेत्र में प्रामाण्य नहीं रह गया है। शोध ज्ञान–परंपरा को देश–काल–परिस्थिति के अनुसार परिष्कृत करता है, समृद्ध बनाता है और प्रासंगिक भी बनाता है। यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित हो कर ज्ञान परंपरा को प्रवाहित और जीवित रखता है। शोध परंपरा खंडित हो जाने के कारण आज ज्ञान के अनेक क्षेत्रों में ऐसे कथन निष्कर्ष के रूप में उपलब्ध हैं, परन्तु उन निष्कर्षों तक पहुंचने की प्रक्रिया उपलब्ध नहीं है और ऐसे निष्कर्षों को मानने की प्रवृति नहीं रहती क्योंकि उन्हें सिद्ध करने वाली प्रक्रिया नहीं है। ऐसे कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं, यथा–

(अ) ज्ञानार्जन की प्रक्रिया का प्रारंभ पंचमहाभूत, तन्मात्राओं और ज्ञानेन्द्रियों के जुड़ाव से होता है। जगत् में पंचमहाभूत विविध पदार्थों के रूप में अवस्थित हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश पंचमहाभूत हैं।[2] इन्हीं के संयोजन से विविध पदार्थ बने हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इनकी तन्मात्राएं अर्थात् गुण हैं। आंख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा पंच ज्ञानेन्द्रियां हैं। ये इन्द्रियां तन्मात्राओं को ग्रहण करती हैं। यह संवेदन है। ज्ञानार्जन की प्रक्रिया का यह प्रथम चरण है। यह सर्वथा भौतिक जगत का ज्ञान–अनुभव है। इसे जाँचने, परखने, समझने के लिए भौतिक विज्ञान की प्रयोगशाला उपलब्ध है। यह जानने की प्रक्रिया को समझा जाती है, परंतु ज्ञानार्जन की प्रक्रिया का दूसरा चरण समझाने वाला कथन है–''मन ज्ञानेन्द्रियों के संवेदनों को विचार में रूपांतरित करता है।'' संवेदन के विचार में रूपांतरित होने की प्रक्रिया को समझना भौतिक विज्ञान की प्रयोगशाला में सर्वथा असंभव है। संवेदन स्थूल जगत में है जबकि विचार सूक्ष्म जगत में। संवेदन के विचार को जांचने की, स्थूल पदार्थ और सूक्ष्म विचार के समसंबंध को जानना न तो अभी भौतिक विज्ञान की प्रयोगशाला में संभव है, न मानसिक जगत की। या यूँ कह सकते हैं, मानसिक जगत की प्रयोगशाला अभी उपलब्ध ही नहीं है और यदि उपलब्ध है तो हम यही कह सकते हैं कि हमें अवगत नहीं है। परंतु मानसिक जगत की प्रयोगशाला भूतकाल में उपलब्ध रही होगी, ऐसा अनुमान तो हम कर सकते हैं अन्यथा उसके अभाव में स्थूल से सूक्ष्म में रूपांतरण का निष्कर्ष भी उपलब्ध नहीं होता। एक बात तो स्पष्ट है, फल है तो बीज से फूल तक की यात्रा भी होनी ही चाहिए। स्वामी विवेकानंद ने भी कहा है कि हर पदार्थ अपने सूक्ष्म रूप में विचार होता है और हर विचार अपने स्थूल रूप में पदार्थ। जिन

वैज्ञानिकों को इस प्रक्रिया का ज्ञान होता है वे एक स्थूल पदार्थ से दूसरे स्थूल पदार्थ में, अदृश्य को दृश्य पदार्थ में और विचार को पदार्थ में रूपांतरित कर सकते हैं, ऐसे उदाहरण हमने सुने अथवा पढ़े हैं। पश्चिमी जगत में, पश्चिमी के प्रभाव से ग्रस्त भारत के ज्ञानक्षेत्र में इसे मान्यता प्राप्त नहीं होती है, यह वास्तविकता है, परंतु इतने मात्र से उसे नकारा नहीं जा सकता है। इस विषय को समझने का प्रयास करना भारतीयता की दिशा में आगे बढ़ना है।

(आ) मनुष्य का व्यक्तित्व पंचात्मा स्वरूप है। इसे पंच कोशात्मक[3] भी कहा जाता है। ये पंचात्मा हैं–अन्नरसमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय आत्मा। इन्हें लौकिक भाषा में शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और चित्त कहा जाता है। इनमें केवल शरीर ही स्थूल जगत का हिस्सा है, शेष चार सूक्ष्म जगत का। हम प्राणमय आत्मा का ही उदाहरण लें तो प्राणमय आत्मा के वर्णन में एक निरूपण सात चक्रों का और बहत्तर हजार नाड़ियों का है। मेरूदंड के अंदर, मेरूरज्जु के भी अंतर नीचे के छोर से उपर के छोर तक और उससे भी उपर ब्रह्मरंध्र तक सात चक्र स्थित है। ये हैं–मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्त्रार चक्र। शरीर में सर्वत्र फैली हुई बहत्तर हजार नाड़ियां भी कही गयी है। इन चक्रों के शरीर में स्थान बताये गये हैं। ये चक्र कमल के पुष्प के रूप में हैं। इन कमलों की पंखुड़ियों की संख्या अलग–अलग है। इन पंखुड़ियों पर वर्णमाला का एक वर्ण है, इन प्रत्येक चक्रों का एक–एक देवता हैं। इनका रंग भी है। ध्यान देने लायक बात यह है कि इन चक्रों और नाड़ियों का वर्णन भौतिक रूप में किया गया है, परंतु भौतिक जगत के एक भी यंत्र से या प्रक्रिया से ये चक्र और नाड़ियाँ परखी नहीं जा सकती हैं। इनका ज्ञान अंतःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त से ही होता है। उस ज्ञान को अंतःकरण स्थूल जगत के संदर्भ देकर निरूपित करता है। भौतिक जगत के साधनों से इन्हें परखा नहीं जाता है, यह बात सत्य है। मानसिक जगत के अंग प्रत्यंग जांचने परखने की कोई प्रयोगशाला उपलब्ध नहीं है। परंतु भौतिक या मानसिक प्रयोगशाला में परखने की कोई व्यवस्था नहीं है। इस कारण इसे नकारा नहीं जा सकता क्योंकि युगों से चक्रों और नाड़ियों की चर्चा ज्ञानक्षेत्र में हो तो रही है, इनके अनुभव संसार का वर्णन भी उपलब्ध है।

(इ) केवल सूक्ष्म जगत की घटनाओं के कथन भी उपलब्ध हैं। जैसे कि–

(क) मन विचारों को अपनी उत्तेजना, आसक्ति आदि मिलाकर बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत करता है। स्पष्ट है कि ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव से यह भिन्न है।

(ख) बुद्धि अपने तर्क, अनुमान, संश्लेषण, विश्लेषण आदि साधनों का प्रयोग कर विचारों को निश्चय में रूपांतरित करती है, इस निश्चय को विवेक कहते हैं।

(ग) अहंकार इसमें कर्ता और भोक्ता भाव जोड़ता है।

(घ) चित्त में यह सब संस्कारों के रूप में संग्रहित होता है।

ये सारे कथन सूक्ष्म जगत से संबंधित हैं। ये कथन प्रक्रियाओं को दर्शाते हैं, परंतु प्रक्रिया का वर्णन नहीं करते हैं। स्पष्ट है कि ये प्रक्रियाएं भौतिक जगत के किसी भी साधन से परखी नहीं जातीं, परन्तु होती अवश्य हैं।

(ई) ऐसा भी कहा जाता है कि वैद्य यदि वनस्पति के पास जाकर प्रार्थना करता है तो उसका प्रभाव वनस्पति पर होता है और उससे प्राप्त औषधि के सद्भाव से रूग्ण का रोग जल्दी और अच्छे से दूर होता है। यह घटना वनस्पति के भौतिक हिस्से को माध्यम बनाकर सूक्ष्म जगत में अर्थात् भाव जगत में घटित होती है।

(उ) सृष्टि के प्रारंभ में केवल आत्मतत्व था। वह न तो इन्द्रियगम्य था, न मनोगम्य, न बुद्धिगम्य। वह केवल हृदयगम्य था। हृदय में उसका ज्ञान अनुभूति के रूप में होता है। इस कथन को भौतिक मापदंडों से तो समझाया ही नहीं जा सकता। बौद्धिक मापदंडों से इसे सिद्ध भी नहीं किया जा सकता। परंतु भारत में युगों से एक या दूसरे प्रकार से यह कहा भी जाता रहा है और माना जाता रहा है। इसके अस्तित्व के लिए यदि भौतिक प्रमाण नहीं है, तो भी इतने से ही इसे नकारा भी नहीं जा सकता है।

(ऊ) आत्मरूप ही विश्वरूप बना इसका वर्णन भी अनेक प्रकार से किया गया है। ये सब दार्शनिक परंपराये हैं, परंतु दार्शनिक परंपराओं में कारण जगत, सुक्ष्म जगत और स्थूल जगत इन तीनों का समावेश है। इनके संबंध तथा रूपांतरण की प्रक्रिया भी बताई गयी है। केवल ये प्रक्रियाएँ कैसे होती हैं, इसका शब्दों में वर्णन नहीं किया गया है। शब्द भौतिक से लेकर बौद्धिक जगत में विहार करते हैं, परंतु प्रक्रियाओं की परख उससे भी परे अनुभूति के जगत में होती है। इस अनुभूति के जगत की प्रयोगशाला भी आज हमें उपलब्ध नहीं है। अथवा है तो हम उसे प्रयोगशाला मानते नहीं हैं।

2. उपर्युक्त ये सारे उदाहरण यह स्पष्ट करते हैं कि सृष्टि स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत की बनी है। इन तीनों का परस्पर संबंध है। यह संबंध एक दूसरे में ओतप्रोत हो कर रहने का संबंध है।

3. दार्शनिक क्षेत्र के कथन वैज्ञानिक नहीं होते, विज्ञान और दर्शन एक दूसरे से भिन्न क्षेत्र हैं आदि, यह प्रतिपादन भी ठीक नहीं क्योंकि भौतिक और मानसिक, भौतिक और बौद्धिक, भौतिक और आत्मिक जगत के कथनों के द्वारा जो निरूपण होता है वह मानवीय प्रयासों के द्वारा सबके लिए समान रूप से उपलब्ध है, कोई भी उसे परख सकता है, जान सकता है। इसलिए भारत के शास्त्रग्रंथों में प्रक्रियाओं को जानने के शास्त्र को विज्ञान कहा गया है। श्रीमदभगवदगीता हो या गणपति अथर्वशीर्ष हो या अन्य वांगमय हो, ज्ञान और विज्ञान का उल्लेख साथ–साथ आता है। ज्ञान तक पहुंचने की प्रक्रिया के ज्ञान को ही विज्ञान कहा गया है। ज्ञान और विज्ञान का यह क्षेत्र केवल भौतिक नहीं है। वह भौतिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक है। यह भी मूल रूप से आत्मिक है जो विभिन्न स्तर पर बौद्धिक, मानसिक, भौतिक रूप धारण करता है।

4. शोध के क्षेत्र में प्रमाण की प्रतिष्ठा है। पश्चिमी ज्ञानक्षेत्र में इन्द्रिय प्रमाण (प्रत्यक्ष) और अनुमान प्रमाण की स्वीकृति है। निरीक्षण, परीक्षण, विश्लेषण, संश्लेषण, तर्क आदि के आधार पर सिद्धांत की स्थापना होती है। इसमें सहायक यंत्रों का भी प्रयोग होता है। इन्द्रिय प्रमाण के साथ बुद्धि प्रमाण भी जुड़ता है। यंत्रों की सहायता से इन्द्रियगत परीक्षण के आधार पर बुद्धि के साधनों की सहायता से सिद्धांत की स्थापना होती है। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में इन्द्रियानुभव और यंत्रों की सहायता से काम होता है। ऐसी प्रयोगशाला शोध का मुख्य केन्द्र बनती है। अंतःकरण विज्ञान के क्षेत्र में शुद्ध बुद्धिनिष्ठता के इन्द्रियानुभव का आधार होता है। परंतु सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में केवल बुद्धिप्रमाण की ही प्रतिष्ठा है। बुद्धि और उसके साधनों की एक कार्यप्रणाली स्थापित की जाती है जिसे रिसर्च मेथोडोलॉजी (शोध पद्धति) कहते हैं। परंतु भारत में इनके अतिरिक्त और दो प्रमाणों की प्रतिष्ठा है। एक है शब्द प्रमाण और दूसरा है अनुभूति प्रमाण। यहाँ हम अनुभूति प्रमाण को आत्मसाक्षात्कार या आत्मिक अनुभूति के अर्थरूप में ले रहे हैं।

शब्द प्रमाण को 'शास्त्र प्रमाण' भी कहते हैं और आप्त वाक्य प्रमाण भी। तीनों का एक ही स्वरूप है, वह है ग्रंथ। उदाहरण के लिए भारत में जब शास्त्रार्थ चलता था तो दर्शन के क्षेत्र में ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता आदि प्रमाण ग्रंथ माने जाते थे। राजनीति के क्षेत्र में महाभारत को प्रमाणग्रंथ माना जाता था। राज्य व्यवस्था, कानून और दंड के क्षेत्र में स्मृति ग्रंथ प्रमाण माने जाते थे। कर्मकांड के क्षेत्र में गृह्यसूत्र प्रमाण ग्रंथ माने जाते थे। समस्त ज्ञानक्षेत्र के लिए वेद प्रमाण ग्रंथ माने जाते थे। शास्त्रार्थ और लोकव्यवहार दोनों के लिए शास्त्र प्रामाण्य प्रतिष्ठित

था, परंतु शास्त्र की प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठा तभी हो सकती है जब शास्त्रार्थ करने वाले सभी पक्ष इनको प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। वर्तमान स्थिति का ही उदाहरण लें : वेद उपनिषद्, गीता, महाभारत, रामायण आदि ग्रंथों को प्रमाण मानने वाला विद्वत् वर्ग हमें विश्वविद्यालयों में उपलब्ध नहीं है। वर्तमान राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था, संविधान, कानून, दंड, कुटुंब जीवन आदि क्षेत्रों में वेद से लेकर कौटिल्य अर्थशास्त्र तक के किसी भी ग्रंथ की प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठा नहीं है। जिनके हृदय और बुद्धि में इन ग्रंथों की प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठा है वे, बहुसंख्यक विद्वज्जतनों की बुद्धि और हृदय में इन ग्रंथों का प्रमाण के रूप में स्वीकृति हो, इसके लिए कोई उपाय करने में असमर्थ है। इस स्थिति की भी यदि मीमांसा करें तो कुछ मुद्दे ध्यान में आते हैं :

(अ) बहुसंख्यक विद्वज्जनों को इन ग्रंथों का अर्थात् इनमें प्रतिपादित जीवनदृष्टि और सिद्धांतों का परिचय ही नहीं है।

(आ) जो इन ग्रंथों से परिचित हैं उनके हृदयों में आदर और श्रद्धा का तत्व अधिक है और वे आज इनके सिद्धांतों को बुद्धिनिष्ठ बनकर युगानुकूल रूप में प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं है।

(इ) इन ग्रंथों के युगानुकूल प्रतिपादन हो सके, इस पद्धति के अध्ययन की परंपरा ही खंडित हो गयी है। इस कारण से वह विस्मृत भी हो गई है। इसी कारण से इसकी आवश्यकता का आग्रह भी नहीं हो रहा है और प्रयास तो न के बराबर हो रहे हैं।

(ई) शब्द प्रमाण की प्रतिष्ठा हेतु शास्त्रों में श्रद्धा, आस्था, आदर के साथ–साथ बुद्धिनिष्ठा और व्यवहारनिष्ठा भी आवश्यक है। जब ऐसा होगा तब शोध क्षेत्र में शब्द प्रमाण की भी प्रतिष्ठा होगी।

(उ) ऐसा नहीं है कि किसी ग्रंथ का प्रमाण यह अंतिम शब्द माना जाता है। परंतु जिस भी विषय की हम चर्चा करते हैं उसमें पूर्व मनीषियों ने क्या कहा है, इसका ज्ञान किसी भी सिद्धांत की स्थापना करते समय होना आवश्यक है। ग्रंथों में निरूपित सिद्धांतों की शाश्वतता और सर्वसमावेशकता को समझ कर, उसकी प्रमाणभूतता को समझ कर, उसका आधार लेकर, उसका सूत्र पकड़कर युगानुकूल शास्त्रीय प्रतिपादन करना भी शोधकार्य का महत्वपूर्ण आयाम है। यह लगभग नये शास्त्र व सिद्धांत का प्रतिपादन करने के समान है, ऐसा करने के लिए शास्त्रों का प्रमाण मानने की आवश्यकता है।

इसमें तीन बातें निहित हैं – पूर्व मनीषियों का सम्मान, शोधकर्ता की मौलिक बुद्धि और युगानुकूल सिद्धांत प्रतिपादन। ज्ञानधारा को निरंतर

प्रवाहित रखना, उसे नित्य परिष्कृत रखना और देश काल परिस्थिति के अनुसार उसे नित्य प्रासंगिक बनाये रखना, ऐसे तीन उद्देश्य इससे सिद्ध होते हैं।

(ऊ) जैसा पूर्व में कहा कि वेद, उपनिषद या तत्सम आर्ष ग्रंथ प्रमाण के रूप में आज मान्य नहीं होते, इसका एक और कारण भी है। वह महत्वपूर्ण कारण है, भारत की जीवन दृष्टि आत्मवादी है जबकि पश्चिमी जीवन दृष्टि अनात्मवादी, उसे भूतवादी भी कह सकते हैं। भारत भूतवादी दृष्टि को स्वीकार नहीं करता, यह सत्य है परंतु उसे समझने से इनकार भी नहीं करता। भारत उसे समझता है इसलिए उनकी मर्यादा भी समझता है। भूतवादी जीवनदृष्टि से व्यवहार क्षेत्र में और ज्ञानक्षेत्र में कैसे प्रश्न निर्माण होते हैं, यह भी भारत समझता है। पश्चिम का ज्ञानक्षेत्र भारत की आत्मवादी जीवन दृष्टि को स्वीकार नहीं करता है। स्वीकार न करने पर भी यदि वह समझने का प्रयास करता है तो दोनों जीवनदृष्टियों में समन्वय की संभावना बनती है। यदि समन्वय नहीं हो सकता है तो क्यों नहीं हो सकता, इस पर तो मतैक्य हो सकता है। भारत की मनीषा को तो विश्वास है कि यदि पश्चिम की मनीषा आत्मवादी जीवनदृष्टि को समझने का प्रयास करती है तो उसके लिए ज्ञानक्षेत्र नये क्षितिजों में विस्तारित हो सकेगा। परंतु, पश्चिम की ही विचारधारा उन्हें ऐसा करने से रोकती है। यह वास्तव में बुद्धि की मर्यादा है। पश्चिम को उस पर विजय प्राप्त करने की आवश्यकता है।

(ए) चौथा प्रमाण है अनुभूति प्रमाण। यह तो भारत की खास विशेषता है। अनुभव प्रमाण श्रेष्ठ प्रमाण है, प्रमाणों का प्रमाण है। अनुभूति हृदय में होती है। वह बुद्धि से परे होती है, वह इन्द्रियों से या बुद्धि से समझाई नहीं जा सकती क्योंकि वह उनसे परे है। परंतु अनुभूति का प्रमाण मिलने के बाद कोई संशय नहीं रह जाता है, अनुभूति स्वतः प्रमाण है। आत्मवादी जीवनदृष्टि में ही यह संभव है या ऐसा कहा सकते है कि अनुभूति प्रमाण से ही आत्मवादी विचारधारा को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। हमारे सभी शास्त्रग्रंथों का प्रामाण्य अनुभूति में ही है। अब प्रश्न यह है कि पश्चिम का शोधक्षेत्र अनुभूति प्रमाण को मान्य नहीं करता। इसके प्रभाव के कारण भारत का वर्तमान ज्ञानक्षेत्र भी अनुभूति प्रमाण को मान्य नहीं करता, परंतु इससे तो हम ज्ञानक्षेत्र की महती उपलब्धि से ही वंचित

रह जाते हैं। इतना ही नहीं, जो ज्ञानक्षेत्र का मूल आधार है उसे ही खो देते हैं। अधिष्ठान रहित ज्ञानक्षेत्र में हम भटकने का ही अनुभव करते हैं।

(ऐ) पश्चिम का चिंतन अनुभूति को सब्जेक्टिव रियालिटी कहकर त्याज्य मानता है, परन्तु शंकराचार्य उसे इन्द्रिय के प्रत्यक्ष प्रमाण के समान ही अपरोक्ष मानते हैं। अर्थात् अनुभूति उतनी ही ठोस है जितना इन्द्रियानुभव। शंकराचार्य इन्द्रियों के प्रत्यक्ष अनुभव की सत्यता बताते हुए कहते हैं कि संसार के सारे शास्त्र यदि एक स्वर में कहते हैं कि अग्नि शीतल है तो भी उसे न मानें क्योंकि इन्द्रियानुभव कहता है कि अग्नि उष्ण है।[4] उसी प्रकार संसार के सारे शास्त्र मिलकर यदि कहते हैं कि जीव और ब्रह्म भिन्न है तो उसे न मानो क्योंकि हृदय की अनुभूति कहती है कि दोनों एक हैं। भौतिक क्षेत्र में जितनी इन्द्रियानुभव की प्रतिष्ठा है, उतनी ही आत्मिक जगत में हृदय की अनुभूति की। अतः अनुभूति प्रमाण का शोधक्षेत्र में प्रतिष्ठा करना भारतीयता की दिशा में बढ़ना है।

5. भारत के ज्ञानक्षेत्र का आंकलन करने के लिए जिस प्रकार आत्म तत्व को मानना महत्वपूर्ण है, उसी प्रकार से विभिन्न शास्त्रों के अंत्रांगी संबंध को समझना भी आवश्यक है। एक ही आत्मतत्व का क्रमशः विस्तार सृष्टि के रूप में हुआ है, यह आधारभूत धारणा है। आत्मतत्व वह आत्मरूप है और सृष्टि उसका विश्वरूप है। विश्वरूप बीज से विस्तारित होते–होते अनेक शाखा प्रशाखायें एवं असंख्य पत्ते, फूल, फल आदि बनते हैं। उसी प्रकार से आत्मतत्व बीज रूप आध्यात्मशास्त्र से शाखा प्रशाखाओं में विस्तारित होते हुए अनेकानेक शास्त्र बनते हैं। सभी शास्त्रों का सृष्टि के सभी अंगों का अंगांगी संबंध है।

6. ऐसा भी नहीं है कि अंतःकरण की प्रयोगशाला, शोध पद्धति कभी उपलब्ध ही नहीं रही हैं। योगशास्त्र ऐसा शास्त्र है जिसे हम अन्तःकरण विज्ञान कह सकते हैं। पातंजल योगसूत्र इस प्रक्रिया के निर्देश देने वाले सूत्र हैं। योगाशास्त्र के अनेक ग्रंथ इन सूत्रों के अनुसार प्रयोग कैसे करना, इसकी पद्धति भी बताते हैं। ऐसे प्रयोग करने पर जो अनुभूति होती है और उसके व्यवहार जगत में जो परिणाम दिखाई देते हैं उसका भी उदाहरण अनेक ग्रंथों में मिलते हैं और लोक में सुने और पढ़े जाते हैं। अष्टसिद्धियाँ ऐसी ही वैज्ञानिक आविष्कार हैं। अनेक संत, सिद्ध योगी ऐसी सिद्धियों के स्वामी रहे हैं। योगशास्त्र के कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं। जैसे कि–

अ. **अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः**[5] अर्थात अहिंसा में प्रतिष्ठा होने से उसकी सन्निधि में वैर का त्याग होता है।

आ. **अपरिग्रस्हस्थैर्ये जन्म कथन्ता संबोधः**[6] अर्थात् अपरिग्रह में प्रतिष्ठा होने से पूर्वजन्मों का भी ज्ञान होता है।

ये तो योग के प्रथम अंग यम के ही दो अंगों के अभ्यास का परिणाम है। आगे धारणा, ध्यान, समाधि से अणिमा, महिमा आदि सिद्वियों की प्राप्ति का भी वर्णन है। ये सारा मानसिक और शारीरिक साधना का परिणाम है और सूक्ष्म और स्थूल जगत के समन्वित व्यवहार का निरूपण है। तात्पर्य यह है कि अंतःकरण विज्ञान और सूक्ष्म जगत शोध का महत्वपूर्ण क्षेत्र है। सूक्ष्म जगत की प्रयोगशाला सूक्ष्म जगत में ही है। सूक्ष्म और स्थूल जगत की प्रयोगशालाओं में साथ–साथ काम किया जाये तो जीवन और जगत के अनेक सदस्यों का एक साथ ज्ञान होना संभव है। भारत में शोध की यह दिशा रही है और आगे भी हो सकती है।

7. एक अन्य मुद्दे की ओर ध्यान देने की भी आवश्यकता है जिन्हें हम स्थूल महाभूत के रूप में जानते हैं, उनका भी एक सूक्ष्म रूप है तथा उसे तन्मात्रा कहा गया है। तन्मात्रा को महाभूतों के गुण भी कहा गया है; जैसे कि पृथ्वी का गुण है ग्रंथ, जल का रस, तेज का रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का शब्द। स्थूल जगत के आज के शोध क्षेत्र में इन सूक्ष्म रूपों की गणना नहीं की जाती है। यदि हम करके देखें तो शोध के स्वरूप और परिणाम कुछ अलग हो सकते हैं। उसी प्रकार से सूक्ष्म जगत में भी स्थूल रूप जुड़े होने की स्थिति बनती है; जैसे कि सूक्ष्म प्राण और स्थूल प्राण, सूक्ष्म मन और सूक्ष्म बुद्धि और स्थूल बुद्धि, सूक्ष्म अहंकार और स्थूल अहंकार, सूक्ष्म चित्त और स्थूल चित्त, सूक्ष्म हृदय और स्थूल हृदय इन सभी बातों की अनुभूति से ही जाना जा सकता है। इसी पद्धति से आगे चिज्जडग्रंथि, चेतन और जड़ तथा आत्मतत्व को भी जाना जा सकता है। इसी प्रक्रिया का सूत्रात्मक वर्णन इस प्रकार किया गया है–

आत्मावाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो[7] अर्थात आत्मा को श्रवण, मनन और निदिध्यासन से जाना जा सकता है। निदिध्यासन धारणा, ध्यान और समाधि की प्रक्रिया है। हम इसे ही शोधक्षेत्र का मानसिक आयाम कह सकते हैं। निदिध्यासन तक पहुंचने से अनुभूत ज्ञान तक पहुंचा जा सकता है। यही ज्ञान तक पहुंचने की विज्ञान की प्रक्रिया है।

8. यह सर्वविदित है कि जीवन और जगत् की ओर देखने की भारतीय और अभारतीय दृष्टि में पूरब और पश्चिम जितना अंतर है। यह भी स्पष्ट है कि पश्चिम जीवन और जगत् को भौतिक दृष्टि से देखता है जबकि भारत आत्मिक दृष्टि से।

इस मूल अंतर का प्रतिबिंब जीवन के सर्व व्यवहारों, व्यवस्थाओं और प्रतिपादनों में दिखाई देता है। अध्ययन और शोध का क्षेत्र भी इससे मुक्त नहीं रह सकता। भारत की शोध पद्धति और पश्चिम की शोध पद्धति और प्रक्रियाओं में निश्चित ही मूलभूत अंतर है। इस लेख का तात्पर्य यह है कि केवल ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव और स्थूल बुद्धि के अनुमान से भौतिक जगत में किया गया शोध एवं अनुसंधान ज्ञान क्षेत्र में अत्यंत प्राथमिक स्वरूप का और अपर्याप्त कार्य है। महाभूतों, इन्द्रियों तथा अंतःकरण के भी सूक्ष्म कार्यों और प्रक्रियाओं से किया गया शोध कार्य ही ज्ञान क्षेत्र की विशालता को गम्य बनाने के लिए आवश्यक है।

यह ठीक है कि आज ऐसा किया नहीं जाता, लेकिन यह कोई कारण नहीं कि अब न किया जाय। पूर्व में ऐसा किया गया है इसके संकेत सर्वत्र मिल रहे हैं, परंतु आज उन संकेतों तक पहुंचने का मार्ग ज्ञात नहीं है, यह तो इस बात का निदर्शक है कि शोध की परंपरा खंडित हुई है। यह इस बात का भी निदर्शक है कि हमने स्थूल और सूक्ष्म जगत के ज्ञानक्षेत्रों को एक दूसरे से विभक्त कर दिया है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि अब हम परंपरा को पुर्नजीवित न करें और स्थूल और सूक्ष्म जगत का समन्वय न करें। हम ऐसा करें और ज्ञानक्षेत्र को सार्थकता प्रदान करें, यही भारतीय शोध के लिए दिशा है।

संदर्भ

1. यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत....। वृहदारण्यकोपनिषद्, 3, 7.15
2. तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
   एते स्मृता विशेषाः शान्तो घोराश्च मूढाश्च।।
   ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका, 38
3. पंचकोश की विस्तृत चर्चा तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली एवं भृगुवल्ली में की गयी है।
4. शेतो वा इति ब्रुवान श्रुति शतामपि ना प्रमाण्यामुपैथी।
   शांकरभाष्य (साभार संग्रह : बदलते दौर में हिन्दुत्व, जे. नन्द कुमार, इंडस स्क्रॉल भाषा, नई दिल्ली, 2021, पृ. 5)
5. पातंजल योगसूत्र, साधनपाद, 35
6. पातंजल योगसूत्र, साधनपाद, 39
7. वृहदारण्यकोपनिषद्, 4, 5.6

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

महावीर और ओशो : विमर्श की प्रासंगिकता

डॉ. विजय कुमार *

महावीर के सिद्धान्तों को ओशो ने अपनी तार्किक एवं व्यावहारिक शैली में किस तरह प्रस्तुत किया है इस सम्बन्ध में कुछ बिन्दुओं को यहाँ प्रस्तुत करना चाहूँगा। यद्यपि ओशो को हम उस रूप में नहीं देखना चाहते जिस रूप के वो अधिकारी हैं। लेकिन हम इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि ओशो एक दार्शनिक हैं और महावीर एक योगी एवं सिद्ध पुरुष हैं। एक दार्शनिक कहीं बैढकर जीव–जगत् के सम्बन्ध में विचार करता है जबकि योगी उस जीवन को जीता है। दार्शनिक पहुँचता है सिद्धान्तों पर और योगी पहुँचता है सिद्धावस्था पर। सिद्धान्त बातचीत है और सिद्धावस्था उपलब्धि। दार्शनिक निरन्तर अपने विचारों द्वारा लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है जबकि सिद्ध पुरुष आत्मोपलब्धि को प्राप्त करता है।

महावीर और ओशो दोनों अनैकान्तिक विचारधारा के पोषक हैं। महावीर कहते हैं कि अनन्तधर्मात्मकं वस्तु, अर्थात् वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं। अनेक दृष्टियाँ होती हैं, अनेक अपेक्षायें होती है। एक ही वस्तु को अलग–अलग दृष्टियों से व्याख्यायित किया जा सकता है। वो हमारी क्षमता पर निर्भर करता है। आपसी विवाद का कारण है केवल अपनी दृष्टि को सत्य मानना। महावीर कहते हैं कि एक ही वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है, एक भी है अनेक भी है। ओशो कहते हैं कि जीवन में आग्रह का जो एकान्त है जिसे पकड़ कर हम पूरी जिन्दगी जीने का दावा करते हैं। वह गलत है। यदि वह दूसरा कोना देख ले जो पहले के ठीक विपरीत है तो उसकी धारणा बदल जायेगी। अतः अनेकान्त का अर्थ है जीवन के सब पहलुओं की एक साथ स्वीकृति। जीवन में जिसे हम विरोधी दृष्टि समझते हैं वह विरोधी नहीं है बल्कि कम्प्लीमेन्टरी व्यूज है। जिसे हम एक–दूसरे के विरोधी समझते हैं वे एक–दूसरे के पूरक हैं। जो हमें विरोधी दिखाई पड़ रही है

** दर्शनशास्त्र विभाग, लंगट सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर, बिहार*

वह हमारी सीमित दृष्टि के कारण है। महावीर कहते हैं कोई दृष्टि सीमित नहीं है, विरोधी नहीं है, सब एक–दूसरे के सहयोगी हैं।

हम कहते है महावीर आज से 2622 वर्ष पूर्व हुए। ये अतीत की घटना है। अतीत इतिहास बताता है। ओशों कहते महावीर भविष्य बताते हैं। एक साधक के लिए महावीर भविष्य की घटना हैं, क्योंकि साधक के जीवन में आने वाले किसी भी क्षण में वह वहाँ पहुँच सकता है जहाँ महावीर पहुँचे हैं।

होता क्या है? हम महावीर को शब्दों, सिद्धान्तों, परम्पराओं में समझने का प्रयास करते हैं और यही पर भूल हो जाती है। जब हम भीतर की ओर उतरेंगे, उस जगह जायेंगे, जहाँ महावीर पहुँचे हैं, तभी हम उन्हें समझ पायेंगे।

जैसा की हम सब जानते हैं कि हमारी भारतीय संस्कृति तीन परम्पराओं का समन्वित रूप है– वैदिक, जैन और बौद्ध। वैदिक परम्परा कहती है आत्मानं विद्धिं अर्थात् आत्मा को जानों, आत्मा को पहचानों, जैन परम्परा कहती हैं– समपिक्खए अप्पगमप्पएणं– अर्थात् स्वयं से स्वयं को देखो, बौद्ध परम्परा कहती है कि अप्प दीपो भव– अर्थात् अपना दीपक स्वयं बनों। ओशो कहते हैं कि किसी के अन्तर्जीवन में उतरा जा सकता है लेकिन तब भी तुम जांच न कर पाओगे, क्योंकि तुम खुद ही अपने अन्तरजीवन से परिचित नहीं हो। अगर तुम्हें मेरी जाँच करनी है तो तुम्हें पहले अपने अन्तरजीवन में उतरना पड़ेगा। इस प्रकार सभी यही कहते हैं अपने आप को जानों और जिस दिन तुम अपने आपको जान लोगे उस दिन तुम्हारे लिए जानने को कुछ शेष नहीं रह जायेगा।

हम सब जानते हैं कि जैन धर्म साधना प्रधान है, वहाँ आचार की प्रधानता है। उसका मुख्य आचारपक्षीय सिद्धान्त है अहिंसा। सामान्यतः हम यह मानते हैं कि हिंसा का निषेध अहिंसा है या हिंसा का अभाव अहिंसा है। मूलतः हिंसा का अभाव ही अहिंसा है। यहां ओशो कहते हैं कि महावीर अहिंसा की साधना नहीं कर रहे, क्योंकि जो अहिंसा साधेगा वह करेगा क्या? वह सिर्फ हिंसा को दबायेगा और दबी हुई हिंसा से कोई अहिंसक नहीं बन सकता। दबी हुई हिंसा में यदि कोई अहिंसा भी करेगा तब भी उसकी अहिंसा में हिंसा के परिलक्षण होंगे। हिंसा उसके पीछे खड़ी होगी। ओशो कहते हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय अपरिग्रह आदि ये सब सिद्धान्त नहीं हैं बल्कि ये बाई–प्रोडक्ट हैं, उप–उत्पत्तियाँ हैं। जहाँ ध्यान और समाधि की उत्पत्ति होती है वहाँ ये सब भूसे की तरह उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे गेहूँ के साथ–साथ भूसा स्वतः आ जाता है उसी तरह समाधि के साथ–साथ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि स्वतः आ जाते हैं। परन्तु हमें दिखता है पहले भूसा। जब हम खेत में जाते हैं तो वहाँ भूसा के विभिन्न आवरणों में गेहूँ छिपा होता है किन्तु जब हम गेहूं तैयार करते हैं तो पहले गेहूं निकलता है भूसा बाद में दिखता है। उसी तरह से समाधि आती है पहले फिर अहिंसा, सत्य आदि बाद

में आते हैं। जो हमें पहले दिखाई देता है वह आता बाद में है और जो नहीं दिखाई देता है वह आता है पहले। अतः महावीर के भीतर समाधि है और बाहर है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह। महावीर में समाधि आती है पहले अहिंसा, सत्य आदि बाद में आते हैं। हमें अहिंसा, सत्य आदि की साधना नहीं करनी है साधना करनी है ध्यान की। ध्यान जब सधेगा तो ये सब छाया के रूप में अपने आप उपस्थित होंगे।

महावीर कहते हैं–'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्व जाणइ से एगं जाणइ।' अर्थात् जो एक को जानता है वह सबको जानता है और जो सबको जानता है वह एक को जानता है। इस वाक्य के दो भाग हैं– जो एक को जानता है वह सबको जानता है और दूसरा भाग है जो सबको जानता है वह एक को जानता है। इसमें दूसरा भाग सामान्य है। परन्तु पहला भाग गूढ़ है। यहाँ एक जो जानने का अभिप्राय है एक के सभी पक्षों को जानना। महावीर कहते हैं कि जब आप एक के सभी पक्षों को जान जायेंगे तो आपके मन में विरोध नाम की कोई चीज नहीं रह जायेगी। इसी को ओशो प्रेम को आधारित करते हुए कहते हैं– एक को ही अगर हम प्रेम कर लें तो हम पायेंगे कि एक जो था वह द्वार बन गया अनेक का। यदि हमने हमने महावीर को प्रेम किया, उनको जान लिया और यह कहूँ कि मैं कृष्ण, मोहम्मद, ईसा को कैसे प्रेम करुँ तो फिर हमने महावीर को प्रेम नहीं किया। क्योंकि अगर महावीर से प्रेम होगा तो जो महावीर में उसे दिखाई देगा, वही मोहम्मद में, वही कृष्ण में और वही ईसा में भी दिखाई देगा।

महावीर द्वारा बतायी गई करुणा और दया को ओशो ने बड़े ही सरल तरीके से जनमानस को समझाने का प्रयास किया है। महावीर ने इतना कहा कि करुणा मन की अतःअवस्था है और दया बाह्य अवस्था। महावीर की इस बात को समझाते हुए ओशो ने कहा कि दया कंडीशनल है और करुणा अनकंडीशनल। एक फूल खिला है निर्जन वन में और उसकी सुगंध फैल रही है। रास्ते से कोई निकल जाता है तो मिल जाती है और यदि कोई नहीं निकलता तो भी सुगंध झरती रहती है। फूल का सुगंध देना स्वभाव है। फूल यह नहीं देखता कि राहगीर कौन है, उसे जरूरत है या नहीं। यह सवाल ही नहीं है। यह फूल का आनन्द है। यह अन्तस अवस्था है। दया कंडीशनल है। जब मैं दया करता हूँ तो ध्यान में दूसरा व्यक्ति होता है। हमारा ध्यान उस व्यक्ति पर होता है– यह भूखा है, गरीब है, दया योग्य है। दया का जो ध्यान है वह दूसरे की दरिद्रता पर है। पर करुणा अपनी है। उसके लिए राजा और रंक दोनों बराबर हैं। महावीर के सामने से सम्राट जाए या दरिद्र उनकी करुणा दोनों के लिए बराबर झरेगी।

कहा गया है 'करम प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहिं सो तस फल चाखा।'[1]

समाज में प्रचलित कर्म की इस मान्यता को महावीर और ओशो दोनों स्वीकार करते हैं। दोनों यह मानते हैं कि कर्म और उसके भोग में अनिवार्य सम्बन्ध

है। हम किए गए कर्म से अन्यथा नहीं भोग सकते। एक व्यक्ति द्वारा किए गए कर्म को दूसरा व्यक्ति नहीं भोग सकता। दोनों कहते हैं–कर्म और भोग में कार्य–कारण सम्बन्ध है। लेकिन कर्म की इस मान्यता को कि, कर्म के फल के अनुसार ही जीव को अगले भव में शरीर की प्राप्ति होती है, के सम्बन्ध में दोनों में मतभिन्नता है। ओशो कहते हैं कि जब कर्म और उसके फल में कार्य कारण सम्बन्ध हैं तो कार्य–कारण के बीच अन्तराल नहीं हो सकता। कॉज और इफेक्ट के बीच अन्तराल नहीं होता। अगर दोनों के बीच अन्तराल आएगा तो कार्य–कारण सम्बन्ध का विच्छेद हो जाएगा। ऐसा नहीं हो सकता कि मैं आग में हाथ अभी डालूं और जलूं अगले जन्म में। इस जन्म में और अगले जन्म में जो फासला है उस फासले के इस पार हाथ है और उस पार जलन है। वस्तुतः कॉज और इफेक्ट एक ही प्रक्रिया के दो रूप हैं। एक ही प्रोसेस के दो हिस्से हैं। इस छोर पर जो कारण है दूसरे छोर पर वही कार्य है। यह पूरी श्रृंखला जुड़ी हुई है। इनके बीच क्षण भर का भी अन्तराल है।[2] दूसरी ओर महावीर कहते हैं कि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि है। अब प्रश्न उठता है कि अनादि है तो अनन्त भी होगा। महावीर कहते हैं कि व्यक्ति विशेष की दृष्टि से कर्म परम्परा अनादि है, लेकिन अनन्त नहीं है। क्योंकि यदि व्यक्ति नवीन कर्मों का आगमन रोक देता है तो वह कर्म परम्परा अनन्त नहीं रह जाती है। दूसरी बात महावीर ने कहा है कि व्यक्ति अपने कर्म के आधार पर ही गोत्र कर्म का बन्धन करता है जिससे यह निर्धारित होता है कि वह उच्च कुल में जन्म लेगा या निम्न कुल में।[3] दूसरी ओर ओशो इसे नहीं मानते हैं। ओशो कर्म के फल को इसी जीवन तक रखते हैं और कहते हैं कि सब कुछ किया जा सकता है इसी वक्त, हम जो करते हैं वही भोगते हैं। कर्म का कोई फल अगले जन्म में नहीं जाता है। जो मैं कर रहा हूँ वही भोग रहा हूँ। पिछले जन्म में जो किया उसको अनकिया या अनडन किया जा सकता है, कोई उपाय है, क्या हममे सामर्थ्य है? दो जन्मों के बीच अनन्त जन्मों का फल चलता है यह मानना मनुष्य को परतंत्र बनाता है और इस परतंत्रता के कारण कुछ कर भी नहीं सकते। मानव की इस परतंत्रता को महावीर और ओशो दोनों ने अस्वीकार किया है।

इस प्रकार ओशो महावीर के विचारों को अपनी दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं और बड़े ही पुरजोर तरीके से अपनी सहमति और असहमति को व्याख्यायित भी करते हैं।

संदर्भ

1. अयोध्याकाण्ड
2. महावीर मेरी दृष्टि में, पृ. 257
3. तत्त्वार्थसूत्र, 8/13

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

भारतीय भाषा–दर्शन का आद्यात्मक तुल्यनीयता

डॉ. जयन्त उपाध्याय *

भाषा और भाषायी व्यवहार मनुष्य के अविर्भाव के साथ–साथ उद्‌भूत हुआ है। भारतीय मनीषा की दृष्टि में भाषायी–व्यवहार की परम्परा अनादि है। भाषायी–व्यवहार की आधारशिला शब्द हैं। शब्द के द्वारा अर्थाभिव्यक्ति वाग्व्यवहार का प्रयोजन है। शब्द और तदर्थ की मीमांसा वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो गयी थी। वेद के संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् के भागों में इसके पर्याप्त बीज प्राप्त होते हैं। मानव संस्कृति के विकास में यदि वेद को प्राचीनतम लिखित साक्ष्य मानें तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि तत्कालीन मानव ने भाषा के विषय में चिंतन प्रारम्भ कर दिया था।[1] 'ऋग्वेद' के एक वाक्‌सूक्त में यह स्वीकार किया गया है कि उदीरणा या वाणी ईश्वरकृत है जिसे उसने सर्वत्र प्रसृत किया। वैदिक ऋषियों का कहना है कि जब तक ब्रह्म की अवस्थिति है, तब तक वाक् की स्थिति है। व्यक्ति का देखना, श्वास लेना और दूसरे की बातें सुनना–सब वाक् का ही प्रभाव है। वैदिक वांग्मय के ये साक्ष्य यह स्पष्ट करते हैं कि तत्कालीन लोगों ने वाक् के विशेष महत्त्व को स्वीकार किया।

वैदिक ऋषियों का मत है कि वाग्व्यवहार और अर्थबोध वाक् पर निर्भर होता हैं। अतः व्यक्ति को सदा सार्थक शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। निरर्थक शब्द उस वृक्ष की भाँति व्यर्थ है जो फलता–फूलता नहीं। वैदिक ऋषियों को भाषा की उपयोगिता तथा महत्त्व का पर्याप्त बोध था। वैदिक–ऋषि कहते हैं कि वाणी का प्रकाश सम्पूर्ण सृष्टि से व्याप्त है।[2] यही कारण है कि पृथ्वी पर सभी वाणी के ऋणी हैं। वाणी के द्वारा ही व्यक्ति देखता हैं, साँस लेता है तथा दूसरों की सुनता है।[3] एक वैदिक ऋषि निर्देश देते हैं कि शुद्ध भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए अन्यथा (अशुद्ध होने पर) भाषा निष्प्रयोजन सिद्ध होगी।[4] जो भाषा की शुद्धता को नहीं जानते वे देखते हुए भी इसे नहीं देखते और सुनते। जो भाषा

* *एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शन एवं संस्कृति विभाग, संस्कृति विद्यापीठ महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा*

की शुद्धता को समझाते हैं वे भाषा के सारे रहस्यों को जान जाते हैं क्योंकि उनके सम्मुख भाषा स्वयं ही अपने सारे रहस्यों को सुन्दर स्त्री की भाँति खोल देती है।[5] बृहस्पति आंगिरस ऋषि कहते हैं कि जैसे सत्तू को छानकर साफ करके प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार बुद्धिमान लोग वाक् को पहले मन में छानकर (सम्यक् रूप से विचार कर) बोलते हैं। ऐसा करने से सारे लोग मित्र बन जाते हैं तथा जीवन में सफलता की भी प्राप्ति होती है।[6] इसीलिए अगस्त्य मैत्र–वरुणि ऋषि वाक् को रमणीय पदार्थों वाली कहते हैं।[7] ऋग्वेद के एक सूक्त में बृहस्पति को वाक् का रक्षक कहा गया है। वहाँ उल्लेख है कि पणि नामक एक राक्षस ने देवराज इन्द्र की सब गाये चुराकर अज्ञान की गुफा में छिपा दी। इन्द्र ने बृहस्पति से प्रार्थना की और बृहस्पति ने इन्द्र की गायें पणि से छीनकर उसे वापस कर दीं। इस कथानक का एक लाक्षणिक संकेत यह है कि गायें ही वाणी हैं, जो अज्ञान में छिपी रहती है, जैसे ही वाणी का स्पष्ट स्वरूप व्यक्ति को प्रत्यक्ष होता है, यह पूरा विश्व उसके लिये वाणी से परिपूर्ण हो जाता है। मानव मस्तिष्क का अज्ञान दूर हो जाता है और ऐसे व्यक्ति के लिए अनुभव से युक्त संसार अपने रहस्यों को मुक्त कर देता है।[8] ऋग्वेद की एक ऋचा में वाणी के चार भाग बताये गये हैं। महाभाष्यकार पतंजलि ने इस ऋचा को उद्धृत करते हुए इसके चार भाग–नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात स्वीकार किया गया है, जबकि नागेश भट्ट के अनुसार ये चार भाग परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी हैं। ऋग्वेद के अतिरिक्त उदीरणा के गवेषित स्वरूप का परिचय 'शतपथब्राह्मण' 'ताण्डच्यमहाब्राह्मण', 'तैत्तिरीय–आरण्यक' आदि में भी मिलता है। 'तैत्तिरीय संहिता' में कहा गया है कि प्रारम्भ में वाणी का विश्लेषण नहीं हुआ था। एक बार देवताओं ने इन्द्र से इसके व्याकरण की प्रार्थना की और तब इन्द्र ने देवताओं के लिए वाणी को व्याकृत कर दिया। इस प्रकार इन्द्र को प्रथम वैयाकरण माना जाता है जिसने सर्वप्रथम भाषा का विश्लेषण करके उसे व्याकरण से संयुक्त किया।

यह सर्वस्वीकृत है कि भाषायी विश्लेषण का विधिवत् आरंभ वैदिक वांग्मय में दृष्टिगत होता है, जिसका परवर्ती काल में व्याकरण, मीमांसा और न्याय जैसे दर्शनों में पूर्ण विकास हुआ। भाषा का शुद्धतम और सर्वोत्तम स्वरूप उपनिषदों में अधिक सूक्ष्मता के साथ विवेचित हुआ है। भारतीय भाषा विश्लेषण ने उपनिषदों में दार्शनिक रूप प्राप्त किया। उपनिषदों में भाषा (शब्द) के तात्त्विक स्वरूप पर विचार किया गया। ऋषियों ने भाषा की क्षमता पर विचार किया। उन्होंने बताया कि हमारी भाषा की एक सीमा है। यह परमसत्य, परब्रह्म तक पहुँच नहीं सकती। उसका निर्वचन हमारी भाषा में संम्भव नहीं है। वह मन और वाणी से अगम और परे है।[9] सत्य का वर्णन निषेधात्मक रूप से हमारी भाषा कर सकती है वह भी उसका पूर्णरूपेण वर्णन नहीं होगा।[10] वह प्रतीकात्मक वर्णन ही होगा। वह वाणी जिसका हम प्रयोग करते हैं, कभी भी अवांग्मनसगोचर परमतत्त्व (ब्रह्म) को प्राप्त

नहीं कर सकती। यदि वह अक्षर तत्त्व एक, शुद्ध और चेतन है तथा पूरा विश्व उसका विवर्त है, तो वाणी भी उसका विवर्त (अतात्त्विक) होने से उसे कैसे ग्रहण कर सकती है? उस तत्त्व का वर्णन तो निषेधमुखेन ही किया जा सका है। 'न इति' 'न इति' रूप में उपनिषदों में उसका निषेध रूप में वर्णन है। वस्तुतः वह तत्त्व मानव वाणी से परे है, तथापि 'माण्डूक्योपनिषद्' में उसके लिये ओम शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसकी–आकार, उकार, मकार–तीन मात्राओं से तीन पदों का बोध करना बताया गया है। उक्त तीनों मात्राओं से परे ओम पद की एक तुरीय मात्रा भी होती है, जिसके द्वारा परमतत्त्व के तुरीयपद का बोध स्वीकार किया गया है। भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' के प्रारम्भ में जिस अक्षर शब्द का उल्लेख किया है उससे ओम पद ही अभिमत है। वह सत्तत्त्व या परावाणी ही ओम पद है और मनुष्य की वाणी इसी शब्द का प्रतिबिम्ब है और इसीलिए सार्थक भी है। अतः इससे स्पष्ट है कि शब्द से अर्थ का विचारणा की मूल वेद मंत्र है। सभी वेद शब्दरूप ही थे। लेखन शैली का विकास न होने से पूरा वैदिक वांग्मय श्रवण परम्परा द्वारा जीवित था। वेद में अर्थ की अपेक्षा शब्द का प्राधान्य स्वीकार किया जाता है। वैदिक मन्त्रों में मन्त्रार्थ की अपेक्षा के बिना ही मन्त्रों का विनियोग किया जाता रहा। इससे वैदिक ऋचाओं का महत्त्व बढ़ता गया। धीरे–धीरे वैदिक मन्त्रों में उच्चारण और अर्थ की कठिनाई को दूर करने के लिए वेदों का विकास हुआ। शिक्षा नामक वेदांग ने वैदिक मन्त्रों की स्वर सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाया, प्रातिशाख्यों में वैदिक भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। व्याकरण विद्या भाषा के गठन से सम्बद्ध थी, जिसका प्रमुख विषय भाषा का शुद्धतम रूप प्रस्तुत करना था। निरूक्त में शब्दों के अर्थ का विचार किया गया है। निरूक्तकार यास्क ने वैदिक शब्दों का अर्थभाव अथवा क्रिया से अन्वित रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार शिक्षा, प्रातिशाख्य, व्याकरण और निरूक्त ने वेदों की पवित्रता को अक्षुण्ण रखते हुए वैदिक परम्पराओं एवं कर्मकाण्ड के व्यवहारिक रूप को प्रस्तुत किया। प्रातिशाख्यों की परम्परा बड़ी पुरानी है। यद्यपि उपलब्ध प्रातिशाख्य पर्याप्त बाद के हैं, संभवतः पाणिनि से भी उत्तरवर्ती, फिर भी उनमें प्रातिशाख्यों के मौलिक रूप का संकेत यत्र–तत्र मिलता है। ऋक् प्रातिशाख्य का प्रारम्भिक वाक्य हैं–'पदप्रकृतिः संहिता' अर्थात् वाक्य पदों से मिलकर बना है–इस वाक्य पर आधारित वाक्य और वाक्यावयभूत पदों के सम्बन्ध का प्रश्न आगे चलकर मीमांसा और व्याकरण जैसे भारतीय दर्शानिक सम्प्रदायों द्वारा विस्तार से विवेचन किया गया है। अन्विताभिघानवाद, अभिहितान्वयवाद और स्फोटवाद के सिद्धान्त मूलतः 'पदप्रकृतिः संहिता' पर ही आधृत हैं। यास्क ने अपने निरूक्त में पूर्ववर्ती और समकालिक शब्दशास्त्रियों का उल्लेख किया है, उदाहरणार्थ–उपमन्यु, औदुम्बरायणि, शाकटायन, गार्ग्य आदि शब्द विज्ञान को यास्क की सबसे बड़ी देन यह है कि इन्होंने पद पर चार प्रकार के स्वीकृत किया है–नाम, आख्यान उपसर्ग और

निपात। इन्होंने सभी संज्ञापदों को आख्यात्रज्ञ स्वीकार किया है। इनके मत में क्रियापद भावप्रधान होते हैं, और संज्ञापद–सत्त्वप्रधान होते हैं। यहाँ भारतीय शब्द दर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम इतनी स्पष्टता से पदों का लक्षण प्रस्तुत किया गया। इसलिये यास्क को भाषायी वाक्य–रचना के तार्किक विश्लेषण का प्रवर्तक माना जा सकता है।

धीरे–धीरे वैदिक भाषा का प्रयोग में ह्रास होने लगा और उसका स्थान लौकिक संस्कृत भाषा लेती गयी। वेदों और वेदांगों का अध्ययन प्राचीन काल विषयक हो गया। कर्मकाण्ड से समीपता बनाये रखने के लिए ही निरूक्त और प्रातिशाख्यों का अध्ययन होता रहा। व्याकरण से संवलित संस्कृत भाषा को साधुभाषा कहा जाता था और कर्मकाण्ड में वैदिक भाषा के ही समान इसका उपयोग होता था, परन्तु अन्य लौकिक भाषाओं की अपभ्रंशता के कारण कर्मकाण्ड में उनका प्रयोग नहीं होता था। संस्कृत भाषा के लिए पाणिनि का अभ्युदय बड़ा महत्त्व रखता है। इन्होंने भाषा के अर्थ की अपेक्षा उसकी रचना, आकार एवं व्युत्पत्ति को महत्त्व दिया। पाणिनि ने शब्द और अर्थ के बीच संकेत सम्बन्ध और शब्द की नित्यता या अनित्यता जैसे प्रश्नों पर बिल्कुल विचार नहीं किया। उन्होंने अपने समय पर बोली जाने वाली भाषा को वैज्ञानिक आधार देते हुए उसका संस्कार किया। यद्यपि पाणिनि ने उपनिषदों की भाँति कहीं भी भाषा के आध्यत्मिक स्वरूप से सम्बन्धित चर्चा नहीं की, तथापि इस विषय में उनका अपना निश्चित मन्तव्य अवश्य रहा होगा। पाणिनि के इन विचारों पर पतंजलि ने अपने महाभाष्य में प्रकाश डाला है।

प्रमुख सूत्रग्रन्थों में से मीमांसा सूत्रों में मानव–कर्त्तव्यों पर विचार करना प्रारम्भ किया गया। जो व्यक्ति को किसी क्रिया के प्रति प्रेरित करे, उसे धर्म कहा गया। इन्द्रियार्थसन्निकर्षज होने से प्रत्यक्ष प्रमाण धर्म का स्वरूप निश्चित नहीं कर सकता। अनुमान, उपमान आदि प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक होते हैं, अतः प्रेरकता में समर्थ नहीं हैं। किन्तु शब्दों में प्रत्यक्षयोग्यता तथा शब्दों को संकेतित करने की नित्य शक्ति होती है जिससे उच्चरित पदों को अर्थबोध के लिए अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। इसलिए प्रेरकत्व–विधान में केवल शब्द ही समर्थ है। शब्द से अर्थप्रतीति प्रत्यक्ष सिद्ध है, इसलिए शब्द की नित्यता सिद्ध होती है। शब्द और संकेतित अर्थ का सम्बन्ध अवैयक्तिक होता है। यह सम्बन्ध मनुष्यकृत नहीं है। यह सम्बन्ध स्वाभाविक है, पद और तत्संकेतित अर्थ के संकेत सम्बन्ध से अनभिज्ञ शिशु भी पदों से अर्थ का व्यवहार करता है। अतः शब्द का नियत अर्थ से नित्य सम्बन्ध होना इनका स्वभाव है। मीमांसक की दृष्टि से धर्म के प्रकाशन में वेद ही एकमात्र नित्य और निरपेक्ष प्रमाण है। वैशेषिक सूत्रकार कणाद का अभिमत है कि जिससे अभ्युदय (तत्त्वज्ञान) और निःश्रेयस् (आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति) हो, वह धर्म है। वेद धर्म का प्रतिपादक है, इसीलिये वेद का प्रामाण्य है। लेकिन कणाद

न तो शब्द–नित्यता को स्वीकार करते हैं और न ही शब्द और अर्थ के मध्य का सम्बन्ध स्वाभाविक ही मानते हैं। शब्द उत्पादविनाशवाली होने से अनित्य है। शब्द से संकेतित अर्थ व्यक्ति.त होता है। चूँकि ईश्वर रूप पुरुष ने वेद को बनाया है, अतः वेद धर्म के स्रोत हैं। शब्द विज्ञान के सम्बन्ध में न्यायसूत्रों ने मुख्यतः वैशेषिक मान्यता का ही अनुकरण किया है और एतद्विषयक कोई नवीन उद्भावना उत्प्रेक्षित नहीं की।

व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनि के बाद कात्यायन और पतंजलि का उद्भव होता है। पतंजलि ग्रन्थारम्भ में भी यह प्रतिभा करते हैं कि शब्दानुशासन का उद्देश्य साधु शब्दों का बोध कराना है, क्योंकि साधुशब्द ही व्यवहार–योग्य होते हैं तथा इस लोक और परलोक में सिद्धिदायक होते हैं। वैयाकरणों का मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि भाषा का एक विशेष प्रयोग ही फलदायक है। सभी भाषाओं के सभी शब्द अर्थवान हो भी जाय तो वे साधु नहीं हो सकते। कोई शब्द असाधु होकर भी अर्थवान हो सकता है, पर असाधु शब्द फलदायी नहीं हो सकते। इस क्षेत्र में व्याकरण ने मीमांसा की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र एवं तार्किक गवेषणा प्रस्तुत की है। पतंजलि और कात्यायन दोनों ने यह माना है कि पाणिनि को शब्द नित्यत्ववाद तथा 'नित्यजातिपदार्थवाद' अभिमत थे। पतंजलि ने महाभाष्य में व्याडि एवं वाज्रप्यायन के पदार्थ–विषयक मत को उल्लेखित किया है। व्याडि के मत पदार्थ व्यक्ति है और वाज्रप्यायन के मत में पदार्थ जाति है। जबकि पतंजलि के अनुसार स्वयं स्थिति के अनुकूल पदार्थ जाति और व्यक्ति दोनों पदार्थ हो सकते हैं। ये सभी विद्वान एक स्वर से यह मानते हैं कि भाषा बिना जाति के व्यवहृत नहीं हो सकती। जातिविहीन व्यक्तिमात्र न तो ज्ञान का विषय हो सकता है और न व्यवहार का। बौद्धों ने जातिविषयक इस मान्यता का विरोध किया है। बौद्ध तार्किकों के अनुसार जाति केवल काल्पनिक पदार्थ है, जिसकी बाह्य सत्ता नहीं है। क्षणिक विज्ञान ही सत् है और वह व्यक्ति है, उसे शब्दों से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता अतः वह अव्यवहार्य है। बौद्धों के मत से शब्द किसी तत्त्व अथवा भावरूपता का उद्देश्य नहीं करते, वरन् जो शब्द का अर्थ है वह तद्भिन्न सारे अर्थों से भिन्न है। इसी तादभिन्नभिन्नत्व या अपोह को ही बौद्ध पद का अर्थ मानते हैं। नैयायिकों और मीमांसाकों के विरूद्ध दिंग्नाग का तर्क इसी पर अवलम्बित है। पदार्थ के स्वरूप के विषय में विभिन्न दर्शनों से सम्बद्ध जिन आचार्यों के मध्य दीर्घकाल तक विवाद चलता रहा, उनमें से प्रमुख हैं–दिंग्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट, कुमारिल एवं प्रभाकर। किन्तु इन सभी दार्शनिकों ने वाणी के मुखरित स्वरूप–वैखरी पर ही विचार किया। उसके शेष रूपों–परा, पश्यन्ती और मध्यमा का विवेचन उपेक्षित ही बना रहा। इस महनीय आवश्यकता पर व्याडि, उपवर्ष, वसुरात्र एवं भर्तृहरि ने ध्यान आकृष्ट किया। इस प्रसंग में व्याडि, उपवर्ष एवं वसुरात्र के नाम से हम विदित हैं, जबकि भर्तृहरि की

मान्यताओं को प्रकाशित करने वाला उनका ग्रंथ 'वाक्यपदीय' उपलब्ध है। इस ग्रंथ से हमें शब्द के मोक्षदायक स्वरूप का ज्ञान होना है। भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में उपनिषदों के अतिरिक्त अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों का नामोल्लेख किया है जिससे यह शब्द शास्त्र की सुदीर्ध परम्परा का ज्ञान होता है। भर्तृहरि के अनुसार वे शब्द–तत्त्व में ही समस्त शब्द जगत् और अर्थ जगत् विवर्त रूप में समाहित है। भर्तृहरि शब्द की सबसे छोटी सार्थक इकाई वाक्य को मानते हैं। वाक्य में पदों का भेद और पदों में वर्णों का भेद अतात्त्विक है। पदों और वाक्यों का अर्थ कोई व्यक्ति को मानता है, कोई जाति को, जबकि भर्तृहरि के मत में शब्द का तात्त्विक अर्थ न तो जाति है और न व्यक्ति। यह अर्थ है–'शुद्ध सत्ता'। हमारी उदीरणा का अर्थ परमसत्ता है जिसे भर्तृहरि शब्द–ब्रह्म कहते हैं। अर्थवान तथा नित्य तात्त्विक शब्द परमसत्ता से नित्य सम्बन्ध रखते हैं। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध औत्पतिक नहीं है, वरन् स्वाभाविक है। शब्द स्वभावतः अर्थ का उद्भावक होता है। यदि कोई अर्थ ज्ञेय है तो वह बिना पदवाच्यता के स्थिर नहीं रह सकता। परमसत्ता अपने आपको पदों और पदार्थों के रूप में विवृत्त कर देता है। पद और पदार्थ में कोई भेद नहीं है तथा परमसत्ता स्वयं भी शब्दतत्त्व है। भर्तृहरि के मत में भाषा की न्यूनतम इकाई वाक्य है। उच्चार्यमाण वाक्य अतात्त्विक है और तात्त्विक वाक्य का विवर्त है। इस तात्त्विक शब्दात्त्व को भर्तृहरि स्फोट कहते हैं। वस्तुतः शब्द–दर्शन के क्षेत्र में स्फोटवाद भर्तृहरि की अनोखी देन है। इस स्फोट ब्रह्म के साक्षात्कार के द्वारा दुःखों की आत्यन्तिक विमुक्ति तथा मोक्ष प्राप्त होता है। भर्तृहरि का यह स्फोट दर्शन वेदों तथा महाभाष्य पर अवलम्बित है। वस्तुतः भर्तृहरि ने पद–रचना से सम्बन्ध रखने वाले व्याकरण वेद को दर्शनों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया तथा परमसत्तावादी शब्द दर्शन के क्षेत्र में भर्तृहरि प्रथम और अन्तिम मौलिक विचारक हैं। यही कारण है कि भर्तृहरि के आलोचक भी उनका ससम्मान स्मरण करते हैं। परवर्ती शताब्दियों में भर्तृहरि और पतंजलि के दर्शन को भट्टोजी दीक्षित एवं नागेशभट्ट ने व्याख्यायित किया। नागेश के 'व्याकरणसिद्धान्तमंजूषा' में भाषाशास्त्र के सभी प्रश्नों पर विचार किया गया है। सभी दर्शनों में ह्रास के समय तन्त्र का अभ्युदय हुआ। तान्त्रिकों ने मानव जीवन में मन्त्रों के महत्त्व पर बल दिया। मन्त्रों की शक्ति अक्षय है और उनसे मानव सब कुछ यहाँ तक कि मोक्ष की भी प्राप्ति कर सकता है, परन्तु इनके लिए निश्चित प्रक्रिया में बताये गये मन्त्रों का अभ्यास आवश्यक है। तन्त्र की मान्यता है कि पूरा विश्व शब्दों से उद्भूत है और परमसत्ता 'शिव' अपनी 'शक्ति' से संवलित होकर इन शक्तिशाली मन्त्रों को अर्थ प्रकट करते हैं। इस प्रकार भारतीय भाषायी विचारधारा परमसत्तावादिता का प्रारंभन उपनिषदों में तथा परिसमाप्ति तन्त्र में होता है।

भारतीय दर्शन के मध्ययुग में शब्द–दर्शन पर हमें वैयाकरणों के अतिरिक्त तीन स्वतन्त्र मान्याताएं दृष्टिगत होती हैं। नैयायिक, मीमांसक तथा बौद्ध–ये सब पद पदार्थ के स्वरूप का विश्लेषण करने का प्रयत्न कर रहे थे। इन सबने परमसत्तावादियों का इस बात पर विरोध किया कि पद वाक्य का अवयव नहीं है और पदों से वाक्य की रचना नहीं होती। इनके मत में पद वास्तविक और वाक्य के घटक हैं। इस काल में बौद्धों और जैनों के अतिरिक्त सभी दार्शनिक, भाषा को साधुत्व से सम्बद्ध मानते रहे। भाषा का प्रयोग पवित्र माना जाता था और यह विश्वास किया जाता रहा कि शुद्ध भाषा का प्रयोग इहलोक और परलोक में पुण्यफल देने वाला है। जैन और बौद्ध लोक भाषा के साधु प्रयोग को प्रामाणिक नहीं मानते। भाषा के प्रयोग एवं भाषा के स्वरूप से सम्बद्ध इनके समस्त तर्क उनकी व्यक्तिगत आध्यात्मिक दृष्टि से प्रेरित है। बारहवी सदी के प्रारम्भ में गंगेश ने तर्कशास्त्र पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'तत्त्वचिन्तामणि' लिखी। इन्होंने शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में सिद्ध किया है। शब्द का प्रामाण्य न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त सबको अभिमत है। नास्तिकों को शब्द और वेद का प्रामाण्य स्वीकार नहीं है। गंगेश भर्तृहरि के वाक्य रचना सम्बन्धी प्रश्नों का इस रीति से समाधान करते हैं जो नैयायिकों की बाह्यार्थवादी मान्यता के अनुकूल है। शब्द–दर्शन के क्षेत्र में न्याय के जगदीश तर्कालंकार और गदाधर तथा मीमांसा के गंगाभट्ट और पार्थसारथि मिश्र परवर्तीकाल में उल्लेखनीय आचार्य हुए। भारत की जीवन–पद्धति से सम्बद्ध अन्य विधाओं की तरह भाषा और शब्द का शास्त्र भी कभी दार्शनिक विचारणा से पृथक् नहीं रहा। इसने लोगों के जीवन पर स्थायी प्रभाव डाला। लोग परमसत्ता की उपेक्षा भाषा के क्षेत्र में भी नहीं कर पाये। विश्व की परिवर्तनधर्मिता के बावजूद अपरिवर्तित रहने वाली परमसत्ता को लोगों ने पहचाना। आस्तिक लोग परमसत्ता के द्वारा कष्ट, दुःख और असफलताओं के विरूद्ध शान्ति खोजने का प्रयास करते रहे। आज भी कोई भारतीय–विशेषतः हिन्दू जब किसी विपत्ति में होता है तो वह ईश्वर का नाम लेता हुआ विश्वास करता है कि नाम और नामी के अभेद सम्बन्ध वाला शब्द–ब्रह्म उसके सामने उपस्थित है जो अवश्य ही उसे विपत्ति से उबारा लेगा। परिणामतः पूरी दार्शनिक पर्यालोचना में शब्द के व्यवहार और परामर्श दोनों पक्षों का निरपवाद रूप से चिन्तन भारतीय शब्द–दर्शन की अजस्र उपलब्धि है।

'शब्द' नाम का प्रमाण माना जाय या नहीं इस प्रश्न पर मनीषियों ने पर्याप्त विचार किया है। चार्वाक दर्शन में तो प्रत्यक्ष नाम का एक ही प्रमाण मान्य है। अनुमान, उपमान एवं शब्द नाम के प्रमाणों का अस्तित्व तो इस दर्शन के अनुसार है ही नहीं। इसीलिए चार्वाक मत के अनुयायी स्पष्ट ही कहते हैं शब्द प्रमाण है ही नहीं। ऐसे ही वैशेषिक दर्शन तथा बौद्ध दर्शन के विद्वान् भी शब्द की प्रमाणता का निराकरण करते हैं। इनके मत में प्रत्यक्ष एवं अनुमान नाम के दो ही प्रमाण

हैं, पर सांख्य, न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा आदि के विद्वानों ने प्रत्यक्ष, अनुमान के समान ही शब्द को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। इन मतभेदों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तब एक समस्या स्वतः उपस्थित होती है। व्यवहार में शब्द का उपयोग सभी लोग करते हैं। संसार में हजारों भाषाएँ हैं। इनका उपयोग अपने भावों के सम्प्रेषण के लिये किया जाता है। यदि चार्वाक, बौद्ध एवं वैशेषिक के अनुसार शब्द प्रमाण ही नहीं है तो इन भाषाओं का उपयोग क्या है? यह बहुत ही स्पष्ट है कि हम अपनी भाषा के माध्यम से किसी को कुछ समझाने का प्रयास करते हैं। जो कुछ हम समझाना चाहते हैं उसकी यथार्थता के विषय में मतवैभिन्न्य हो ही नहीं सकता, क्योंकि हम किसी को अपनी भाषा के माध्यम से कुछ समझाएँ और वह अयथार्थ समझाएँ यह कैसे सम्भव है? अतः यह सुनिश्चित करना हम सबकी बाध्यता है कि शब्द बोलने एवं सुनने का व्यवहार सार्थक (यथार्थ) माना जाय, अन्यथा संसार में होने वाला शब्दप्रयोग सर्वथा निरर्थक होने से संसार को अशब्द ही होना चाहिए तथा शब्द को अप्रमाण मानने वाले चार्वाक बौद्ध एवं वैशेषिक द्वारा परस्पर में एवं अन्य लोगों के साथ किया जाने वाला शब्द व्यवहार लुप्त हो जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में चार्वाक मतानुसार यह स्वीकृत है–शब्द को प्रमाण न मानने का यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिए कि शब्द के द्वारा किसी अर्थ का प्रमात्मक बोध होता ही नहीं है, अपितु मात्र इतना ही तात्पर्य है कि किसी ऐसे अर्थ का प्रमात्मक बोध शब्द से नहीं होता जो प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय न हो। चार्वाक मतानुयायियों के इस तात्पर्य को दृष्टिगत रखने से यही स्पष्ट होता है कि चार्वाक के अनुसार केवल प्रत्यक्ष में ही मौलिक प्रमाणता है। शब्द तो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध अर्थ का ही बोधक होने से अनुवादक मात्र है। हम लोग शब्द का व्यवहार अवश्य करते हैं पर चार्वाक के अनुसार इस शब्द व्यवहार का आधार इतना ही है कि शब्द व्यवहार करते समय हम यह मानकर चलते हैं कि शब्द से होने वाला बोध प्रत्यक्ष मूलक होने के कारण यथार्थ है। इस तरह शब्द की उपयोगिता उपपन्न है और चार्वाक मत के अनुसार भी शब्दव्यवहार उपेक्षणीय नहीं हो सकता। बौद्ध दार्शनिक प्रस्तुत सन्दर्भ में यह कहते हैं प्रमाण दो ही हैं–प्रत्यक्ष एवं अनुमान, क्योंकि संसार में विशेष एवं सामान्य भेद से दो प्रकार की ही वस्तुएँ उपलब्ध होती है। यहाँ विशेष शब्द से बौद्ध दर्शन के अनुसार स्वलक्षण (क्षणिक भावात्मक व्यक्ति) ग्राह्य है और सामान्य शब्द से अतद्व्यावृत्ति–लक्षण (अपोह) अभिप्रेत है। इनमें से विशेष का ज्ञान करने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण और सामान्य का ज्ञान करने के लिए अनुमान प्रमाण अवश्य स्वीकार्य है। विशेष और सामान्य के अतिरिक्त और कोई ऐसी वस्तु संसार में नहीं है जिसके ज्ञान के लिए शब्द को भी एक अतिरिक्त प्रमाण स्वीकार किया जाय। आशय यही है कि जैसा व्यवहार में उपलब्ध है तदनुसार शब्द से बोध तो होता ही है, पर यह बोध प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से ज्ञात अर्थ को ही विषय करता है। संक्षेप में बौद्ध–दर्शन का

भी मन्तव्य यही है कि मौलिक प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान ही है, शब्द तो प्रत्यक्ष एवं अनुमान से जो वस्तु जानी जा चुकी है उसका अनुवादक मात्र है प्रत्यक्ष एवं अनुमान के समान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। हम शब्द को सुनते हैं तदनुसार व्यवहार भी करते हैं, पर हम यह भी समझते हैं कि शब्द से हमें जो बोध हो रहा है वह यथार्थ इसलिए है कि प्रत्यक्ष अथवा अनुमानमूलक है। ऐसा मान लेने से बौद्ध दर्शन के अनुसार भी शब्द मूलक व्यवहार पूर्ण रूप से सुरक्षित रह जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में वैशेषिक दर्शन का मन्तव्य दूसरे प्रकार का है। वैशेषिक–दर्शन के विद्वान् कहते हैं–मूलभूत प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान ही हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि शब्द अप्रमाण है। शब्द सुनने से भी प्रमा (यथार्थ ज्ञान) होती है, पर वह प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण से होने वाली प्रमा से भिन्न नहीं है। कदाचित् शब्द के ज्ञान से उसके अर्थ की स्मृति होकर स्मृत अर्थ को विषय करने वाली वह प्रमा उत्पन्न होती है जिसे हम अलौकिक प्रत्यक्ष प्रमा के रूप में स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त कदाचित यह भी होता है कि शब्द का ज्ञान अपने अर्थ को विषय करने वाली अनुमिति नाम की प्रमा का उत्पादक होता है। इतने से यह स्पष्ट है कि वैशेषिक दर्शन में शब्द प्रमाण तो है पर स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है उसका अन्तर्भाव कहीं प्रत्यक्ष प्रमाण में, कहीं अनुमान प्रमाण में हो जाता है। जब शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में होता है तब अनुमान प्रयोग शब्द पक्षक अथवा शब्द लिंग का होता है। अनुमिति करने के लिए पक्ष, साध्य एवं हेतु की अपेक्षा होती है। पर्वत में वह्नि की अनुमिति जब की जाती है तब अनुमान प्रयोग होता है–'पर्वतः वह्निमान् धूमात।' यहाँ पर्वत पक्ष है, वह्नि साध्य है धूम हेतु है। ऐसे ही जहाँ शब्द से हम अर्थबोध कर रहे हैं वहाँ भी अनुमान प्रयोग ही होता है। वह अनुमान प्रयोग यदि शब्द को पक्ष बनाकर हो रहा है तो इस प्रकार होगा वाक्यघटक ये–ये शब्द इन–इन अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञान के कारण ही प्रयोग में लाये जा रहे हैं, क्योंकि ये परस्पर की आकांक्षा से युक्त तथा परस्पर सम्बन्ध होने योग्य अर्थ के स्मारक होने के साथ पारस्परिक सन्निधान से युक्त हैं। जो–जो शब्द इस प्रकार के होते हैं वे सभी शब्द अपने–अपने अर्थों के सम्बन्ध के ज्ञान के कारण ही प्रयोग में लाये जाते हैं। इस अनुमान प्रयोग में शब्द पक्ष है और उनके अर्थों का पारस्परिक सम्बन्ध साध्य का एक भाग होने से साध्य हैं। किसी विशेष स्थल को ध्यान में लेकर इसे इस प्रकार समझा जा सकता है–मान लीजिए, कोई कहता है–'मेज पर पुस्तक है'। तो इस वाक्य के घटक शब्द हैं–'मेज' 'पुस्तक' एवं 'है'। इन्हीं शब्दों को पक्ष बना लिया जायगा और इन शब्दों के अर्थों का पारस्परिक सम्बन्ध साध्य हो गया। फलतः इस वाक्य के ज्ञान के अनन्तर इसके घटक पदों के अर्थों के परस्पर सम्बन्ध की हमें अनुमिति ही होती है–यह वैशेषिक मत के अनुसार मान्य होगा और इस अनुमिति को–शाब्दबोध नाम से इसलिए कहा जाएगा कि यह अनुमिति वाक्य के ज्ञान के अनन्तर हो रही है। शाब्द–बोध के

विषय वाक्य घटक शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध ही होते हैं, इसलिए वाक्य सुनने के बाद यहाँ शाब्दबोध नाम की जो विशेष अनुमिति हो रही है वह वाक्य घटक शब्दों के अर्थों के परस्पर सम्बन्ध को ही विषय कर रही हैं। 'मेज पर पुस्तक है' इस वाक्य के घटक मेज, पुस्तक एवं है–इन शब्दों का अर्थ तो पहले से ज्ञात रहता ही है। केवल इनके पारस्परिक सम्बन्ध का भान ही इस वाक्य के सुनने के बाद होता है यहाँ मेज एवं पुस्तक का आधाराधेयभाव सम्बन्ध तथा मेज रूप आधार पर आधेय रूप में विद्यमान पुस्तक का अस्तित्व के साथ सम्बन्ध (स्वरूप सम्बन्ध) प्रतीत होता है। जब शब्द को लिंग मानकर अनुमान का प्रयोग किया जाता है तब वह इस प्रकार होता है–ये पदार्थ परस्पर के सम्बन्ध से विशिष्ट हैं क्योंकि ये परस्पर की आकांक्षा से विशिष्ट, परस्पर सम्बन्ध होने योग्य अर्थों के वाचक तथा पारस्परिक सन्निधान से युक्त शब्दों के द्वारा उपस्थापित हैं। जो–जो पदार्थ इस प्रकार के शब्दों के द्वारा उपस्थापित होते हैं वे सब पारस्परिक सम्बन्ध से विशिष्ट होते हैं। इस अनुमान प्रयोग में शब्दों के वे अर्थ ही पक्ष होते हैं जो शब्दज्ञान के अनन्तर वृत्तिज्ञान के सहकार से स्मरण पथ में आते हैं और इन अर्थों के स्मारक शब्द हेतु के एक अंश होकर इस अनुमान में लिंग का स्थान ग्रहण करते हैं। अनुमान के इस प्रकार को भी समझने के लिए उपर्युक्त दृष्टान्त का ध्यान लिया जा सकता है और उस वाक्य से मेज पर पुस्तक के रहने का जो बोध हो रहा है उसमें भासित होने वाले मेज, पुस्तक एवं विद्यमानता रूप अर्थों का पारस्परिक सम्बन्ध शाब्दबोध नाम के अनुमिति विशेष का विषय होगा तथा इस अनुमति में 'मेज', 'पुस्तक' तथा 'है' आदि शब्द ही लिंग बनेंगे। इस तरह वैशेषिक दर्शन के अनुसार शब्द के व्यवहार का तात्पर्य इतना ही है कि उसके ज्ञान से होने वाला बोध शाब्दबोध नाम से कहा अवश्य जाता है पर एक स्वतन्त्र बोध के रूप में मान्य नहीं है, अपितु अनुमिति–विशेष रूप में अनुमिति के अन्तर्गत ही समाहित है। इसीलिए इस शाब्दबोध का कारण शब्द भी एक स्वतन्त्र प्रमाण न होकर अनुमान विशेष के रूप में अनुमान के अन्तर्गत ही आ जाता है।

न्याय–दर्शन में शब्द एक स्वतन्त्र प्रमाण है तथा उससे होने वाला शाब्दबोध भी एक स्वतन्त्र प्रमा है। अपने इस मत की पुष्टि के लिए न्याय दर्शन के विद्वान् उपर्युक्त मतों (चार्वाक, बौद्ध एवं वैशेषिक) की समालोचना इस प्रकार करते हैं–जब शब्द का व्यवहार लोक में हो रहा है और शब्द से होने वाले बोध को यथार्थ माना जा रहा है तब शब्द को एक स्वतन्त्र प्रमाण न मानना उचित नहीं प्रतीत होता। शब्द की अप्रमाणता के समर्थन में यह कथन भी महत्त्वहीन है कि शब्द किसी ऐसे तथ्य को नहीं बताता जो अन्य प्रमाण से अज्ञात हो क्योंकि शाब्दबोध वाक्य के ज्ञान से ही होता है और वाक्य के घटक शब्दों से जिन अर्थों का स्मरण होता है वे अर्थ प्रमाणान्तर से ज्ञात अवश्य होते हैं पर उनके पारस्परिक सम्बन्ध तो अभिनव ही होते हैं। अतएव इन सम्बन्धों के बोध को ही शाब्दबोध माना

जाता है तथा प्रमाणान्तर से इन सम्बन्धों के अधिगत न होने के कारण स्वतंन्त्र प्रमा के रूप में शाब्दबोध की मान्यता नैयायिक, मीमांसक आदि को इष्ट है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि वाक्यघटक शब्दों से उपस्थापित अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध भी सर्वथा अभिनव नहीं है, क्योंकि वाक्य का प्रयोग करने वाले वक्ता को पहले से ये ज्ञात हैं ही, अन्यथा इनका अवबोध कराने के लिए वक्ता के द्वारा शब्दों का उच्चारण असम्भव है। इसके उत्तर में नैयायिकों की मान्यता है कि शब्द का प्रामाण्य वक्ता के लिए है या श्रोता के लिए? वक्ता शब्द का प्रयोग कर रहा है श्रोता को किसी तथ्य का बोध कराने के लिए। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि श्रोता के लिए ही शब्द का प्रामाण्य इष्ट है, अतः वक्ता को शब्द एवं अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध पहले से ज्ञात रहें तब भी शब्द की प्रमाणता का खण्डन नहीं हो सकता है क्योंकि श्रोता को तो शब्द एवं अर्थों के सम्बन्धों का ज्ञान पहले से है नहीं, अन्यथा श्रोता के प्रति वाक्य प्रयोग निरर्थक होगा। इससे यह स्पष्ट है कि श्रोता को शब्द एवं अर्थों का सम्बन्ध पहले से ज्ञात नहीं है। अतः उसकी दृष्टि से शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध के यथार्थ बोध के लिए शब्द का प्रामाण्य निर्विवाद है। यदि कोई प्रश्न करे कि इस समाधान के अनुसार शब्द श्रोता की दृष्टि से प्रमाण है वक्ता के दृष्टि से प्रमाण नहीं। यदि यही सिद्धान्त है, तो यह शब्द सभी की दृष्टि से प्रमाण नहीं सिद्ध हो सकता। अतः उसकी अप्रमाणता की आपत्ति बनी ही रह जाती है तो यह सत्य है कि श्रोता की दृष्टि से ही शब्द प्रमाण है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि शब्द सबके लिए प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वक्ता सदा वक्ता ही नहीं रह सकता, वह कभी श्रोता भी होता है। ऐसी स्थिति में श्रोता की दृष्टि से शब्द को प्रमाण मानने पर भी सभी मनुष्य कभी न कभी श्रोता अवश्य होते हैं, इसलिए सभी के लिए शब्द की प्रमाणता उपपन्न है। नैयायिकों से यह प्रश्न किया जा सकता है कि इतना होने पर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि शब्द सभी की दृष्टि से सदा प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि जब कोई श्रोता होगा तब उसकी दृष्टि से शब्द प्रमाण होगा और जब वह वक्ता हो जायेगा तब उसकी दृष्टि में शब्द प्रमाण नहीं होगा। समाधान में नैयायिकों की युक्ति होगी कि यह आपत्ति इष्ट है और इतने मात्र से शब्द को यदि अप्रमाण मानना है तो प्रत्यक्ष को भी अप्रमाण कहा जा सकता है क्योंकि सभी प्रत्यक्ष सभी लोगों की दृष्टि से सदा प्रमाण नहीं हो सकते। इसे उदाहरण रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है–मान लीजिए मोहन ने वर्धा नगर को एक बार देख लिया है, उसके बाद जब वह पुनः वर्धा को देखता है तो इस दूसरे दर्शन के लिए साधन उसकी आँखे उस (मोहन) के लिए प्रमाण नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वर्धा नगर के प्रथम दर्शन की अपेक्षा इस द्वितीय दर्शन में कोई नवीनता नहीं है, फलतः पूर्व–दृष्ट का ही दर्शन होने से मोहन की आँखें वर्धा के प्रथम दर्शन के समय मोहन के लिए प्रमाण होने पर भी वर्धा के दूसरे दर्शन के समय प्रमाण नहीं है। मान लीजिए–मैं

आँखें बन्द कर हाथ से अपनी कलम का स्पर्श करता हूँ और इस स्पर्श के बल पर (स्पर्शेन्द्रिय से) मैं अपनी कलम को पहचान लेता हूँ। बाद में आँख खोलकर पुनः मैं अपनी आँखों से अपनी कलम को देखता हूँ। ऐसी स्थिति में अपनी कलम की पहचान में मेरी आँखे मेरी दृष्टि से प्रत्यक्ष प्रमाण रूप में मान्य नहीं होंगी, क्योंकि स्पर्शेन्द्रिय (त्वगिन्द्रिय) के द्वारा ज्ञात कलम को ही हमारी आँखें बता रही है, कुछ नवीन नही बता रही है। इतने से हमें यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए–'शब्द का व्यवहार हम आप कर रहे हैं शब्दों से यथार्थ बोध भी हम आप को हो रहा है' इस वास्तविकता की उपेक्षा कथमपि सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में जब यथार्थ–बोध ही प्रमा है और उसके जनक को ही प्रमाण कहा जाता है तब शब्द की प्रमाणता का अपलाप कैसे किया जा सकता है? अतएव चार्वाक एवं बौद्ध विद्वानों की यह मान्यता सर्वथा उपेक्षणीय है कि शब्द अप्रमाण हैं।

वैशेषिक दर्शन के मत का उल्लेख प्रस्तुत सन्दर्भ में किया गया है इसके अनुसार शब्द को प्रमाण तो माना गया है पर उसकी स्वतन्त्र प्रमाणता का निरास कर अनुमान में ही उसका अन्तर्भाव कर दिया गया है। यह मत भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि तद्नुसार शब्दों के सुनने के बाद उनके द्वारा उपस्थापित अर्थों के परस्पर सम्बन्ध के बोध को अनुमान मान लेने पर जैसे शाब्द–बोध से अतिरिक्त स्थल मे होने वाला अनुमान शब्दों से अनुपस्थापित प्रकारान्तर (परामर्श आदि के द्वारा) से अवगत अर्थ विषयक होता है, वैसे ही शाब्दबोध में भी शब्द से अनुपस्थापित एवं प्रकारान्तर से अवगत अर्थ तथा उनके सम्बन्ध विषय होने चाहिए, पर ऐसा होता नहीं है। इसीलिए शब्द को अनुमान–विशेष तथा शाब्दबोध को अनुमिति विशेष मानना नैयायिकों को इष्ट नहीं है। वे शब्द नाम के प्रमाण एवं शाब्दबोध नाम की प्रमा को स्वतन्त्र रूप में स्वीकार करते हैं। इसी कारण शब्दशक्तिप्रकाशिका में जगदीश स्पष्ट कहते हैं–साकांक्ष शब्दों से होने वाला बोध नियन्त्रितार्थक होने से न प्रत्यक्ष है न अनुमिति है, अपितु शाब्दबोध नाम की एक स्वतन्त्र प्रमा है।[11]

शाब्दबोध नाम की स्वतन्त्र प्रमा के सिद्ध होने पर यह अवश्य विचारणीय है कि इस प्रमा का मुख्य विषय क्या है? शाब्दबोध जिस वाक्य के ज्ञान से होता है उस वाक्य के घटक पदों से उपस्थापित अर्थों का सम्बन्ध ही उस वाक्य के ज्ञान से होने वाले शाब्दबोध का विषय होता है, इसीलिए शाब्दबोध को 'अन्वय–बोध' कहते हैं, अन्वय का अर्थ सम्बन्ध ही होता है। न्याय–वैशेषिक के मत के अनुसार यह तो स्पष्ट ही है कि ज्ञान का कोई न कोई विषय अवश्य होता है। 'प्रमा' ज्ञान विशेष ही है, क्योंकि ज्ञान के दो भेद होते हैं–स्मरण एवं अनुभव। जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति के लिए अनुभव जन्य संस्कार की अपेक्षा अवश्य करता है उसे ही स्मरण कहते हैं और स्मरण से भिन्न ज्ञान को ही अनुभव कहते हैं। अनुभव के दो भेद है–यथार्थ एवं अयथार्थ। यथार्थ अनुभव को ही प्रमा कहते हैं। न्याय–दर्शन के

अनुसार प्रमा के चार भेद हैं–प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति एवं शाब्दबोध। ऐसी स्थिति में शाब्दबोध का कोई न कोई विषय अवश्य होना चाहिए। वह विषय क्या है? यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है। इसके समाधान में यह कहा जाता है वाक्य के ज्ञान से ही शाब्दबोध होता है।[12] शक्त एवं साभिप्राय पदों का समूह ही वाक्य है। शक्त एवं साभिप्राय वे ही पद माने जाते हैं जो किसी न किसी निश्चित अर्थ के बोध तात्पर्य से प्रयोग में लाये जाते हैं। ऐसी स्थिति में जिस वाक्य के ज्ञान से हमें शाब्दबोध हो रहा है उस वाक्य के घटक पदों का पृथक्–पृथक् कोई न कोई निश्चित अर्थ अवश्य है जिसको बताने के लिए उनका उच्चारण या उल्लेख हम करते हैं और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि हमारे परस्पर के वार्तालाप हमारे द्वारा उच्चारित वाक्यों पर ही आधारित हैं तथा इन वाक्यों के घटक पदों के निरर्थक होने पर हम कुछ लिखते हैं किसी को कुछ बोध वार्तालाप सम्भव ही नहीं है। ऐसे ही–हम कुछ लिखते हैं किसी को कुछ बोध कराने के लिए। यह भी इसीलिए होता है कि जिन वाक्यों को हम लिखते हैं उनके घटक पदों का एक निश्चित अर्थ अवश्य होता है और उसे ही हम बताना चाहते हैं। इस वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर यही कहा जायगा कि जिस वाक्य के ज्ञान से शाब्दबोध हो रहा है उस वाक्य के घटक पदों के अर्थ ही शाब्दबोध के विषय हैं। न्याय–वैशेषिक के अनुसार स्पष्ट है कि शाब्दबोध जिस वाक्य के ज्ञान से होता है उस वाक्य के घटक पदों के अर्थों का सम्बन्ध ही शाब्दबोध का मुख्य विषय है तब यह विचार कर लेना अवसर प्राप्त है कि शाब्दबोध में सम्बन्ध भान का उपयोग क्या है? कोई भी ज्ञान तभी उपादेय होता है जब वह किसी नये विषय का प्रकाशक हो। किसी भी वाक्य के सुनने के अनन्तर हमें जब वह बोध होता है जिसे शाब्दबोध कहा जाता है तब उस बोध में यदि कोई नया विषय भासित होता है तो हम उस बोध का उपयोग समझते हैं, अन्यथा वह अनुपयोगी ही होता है। शाब्दबोध जिस वाक्य के ज्ञान से हो रहा है उस वाक्य के घटक पदों के अर्थ पदों से ही प्रतीत हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में यद्यपि पदों के अर्थ शाब्दबोध में भासित होते हैं पर इतने मात्र से शाब्दबोध को किसी नवीन विषय का प्रकाशक नहीं माना जा सकता, अतः हमें यह मानना पड़ता है कि शाब्दबोध में जिस वाक्य का ज्ञान साधारण कारण है उस वाक्य के घटक पदों के अर्थों का पारस्परिक सम्बन्ध ही शाब्दबोध का नवीन विषय है, क्योंकि यह सम्बन्ध शाब्दबोध के पूर्व किसी भी प्रकार ज्ञात नहीं हैं।

व्याकरण एवं मीमांसा लोकसिद्ध तथ्यों से ऊपर उठकर अलौकिक, एकमात्र वेदों के आधार पर सिद्ध आप्त परम्परा में सुपरीक्षित तथ्यों के ही अन्वेषण तक स्वयं को मुख्य रूप से केन्द्रित रखता है। इस वास्तविकता को शब्द के स्वरूप के निर्धारण के सम्बन्ध में ही स्पष्टता के साथ समझा जा सकता है। व्यवहार जगत् में हम कानों से जिसे सुनते हैं उसे ही शब्द माना जाता है। न्याय–दर्शन इसी व्यवहार सिद्ध तथ्य को अपनी युक्तियों से सिद्ध करता है। वह यह मानकर

अपनी तार्किक प्रणाली आगे बढ़ाता है कि कानों से जो सुना जा रहा है उसे शब्द मानने पर वैदिक मान्यताओं का कहीं विरोध नहीं है। अतः लोक की आप्त प्रसिद्धि के आधार पर कानों से जो सुना जा रहा है उसे ही शब्द मान लेना चाहिए। न्याय–दर्शन के सम्मुख एक कठिनाई आती है–कान से जो सुना जा रहा है वही यदि शब्द है तो 'किन्हीं निश्चित शब्दों की राशि ही वेद है' इस सनातन मान्यता के आधार पर वेद अनित्य सिद्ध होंगे, क्योंकि कानों से हम जिन्हें सुनते हैं उनकी अनित्यता प्रत्यक्ष सिद्ध है। न्याय दर्शन इस कठिनाई को स्वीकार कर लेता है तथा वेद वाणी की नित्यता बताने वाले वैदिक वाक्यों का ऐसा अर्थ करता है जिससे वेदों के अनित्य मानने पर भी नित्यता के प्रतिपादक वैदिक वाक्यों से विरोध न हो, क्योंकि यदि अनुमान प्रमाण से शब्द की अनित्यता सिद्ध है तो शब्दराशि रूप वेदों को अनित्य मानना ही होगा तथा वेदों की नित्यता के प्रतिपादक वैदिक वाक्यों का प्रकारान्तर से अर्थ–वर्णन करना अपरिहार्य होगा।[13] इस पर यह प्रश्न उपपन्न होता है–यदि वेद अनित्य हैं तो उनका प्रामाण्य सन्दिग्ध होगा इसका समाधान–न्याय–दर्शन इस प्रकार करता है–जब लोक में सभी ग्रन्थ किसी न किसी के द्वारा रचित हैं। अतएव अनित्य हैं तो वेद भी ग्रन्थ रूप होने से किसी के द्वारा रचित हैं, फलतः उनकी अनित्यता भी शिरोधार्य है, पर अन्य ग्रन्थों के समान वेद के रूप में प्रसिद्ध ग्रन्थों का निर्माण हम आप नहीं करते स्वयं सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर करता है, अतः वेद के प्रामाण्य का सन्दिग्ध होना सर्वथा असम्भव है। हमारा ज्ञान सीमित होने से हम आपके द्वारा रचित ग्रन्थों में प्रामाण्य का सन्देह स्वाभाविक है, जिन वेद रूप ग्रन्थों का निर्माण स्वयं, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने किया है उनके प्रामाण्य में सन्देह का अवसर ही कैसे उपस्थित हो सकता है?

शब्द स्वरूप के निर्धारण के सम्बन्ध में व्याकरण के अनुसार शब्द तत्त्व ही सर्वस्व है, समस्त जगत् का मूल तत्त्व है, ब्रह्म रूप है, नित्य है। कानों से जो सुना जाता है वह लौकिक व्यवहार में भले ही शब्द के रूप में मान्य हो पर वास्तव में वह नित्य शब्द तत्त्व की अभिव्यक्ति में साधन मात्र है। यही नित्य शब्द तत्त्व स्फोट रूप में व्याकरण में प्रसिद्ध है। व्याकरण की यह मान्यता लोक सिद्ध शब्दस्वरूप से विरूद्ध अवश्य है पर पारमार्थिक दृष्टि से अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। लौकिक दृष्टि तो एक स्थूल दृष्टि है वही अन्तिम नहीं हो सकती। यदि लौकिक दृष्टि को ही प्रामाणिक मान लिया जाय तो शब्द एक स्वतन्त्र तत्त्व न होकर आकाश के एक विशेष गुण के रूप में नियम से आकाश में ही आश्रित होगा और शब्द के सम्बन्ध में जितनी भी सूक्ष्म दृष्टियाँ हैं उनका विरोध अपरिहार्य होगा। तन्त्र एवं आगम से सम्बद्ध वांग्मय का सांगोपांग अध्ययन करने पर शब्द की असीम शक्ति का आकलन हो पाता है। उसके अनुसार एक मात्र शब्द ही एक ऐसा सशक्त साधन है जिस पर अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड अवलम्बित थे, अवलम्बित हैं,

और अवलम्बित रहेंगे। इस वस्तुस्थिति को हृदयंगम करने के लिए बहुत ही सूक्ष्म एवं दिव्य .ष्टि अपेक्षित है और यह .ष्टि तपस्या एवं शास्त्राभ्यास के द्वारा अर्जित सु.ढ़ संस्कारों से संस्कृत होने पर ही हमें प्राप्त हो सकती है। व्याकरण शास्त्र इसी दिव्य दृष्टि के उन्मेष में हमारा सहयोग करता है। 'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति वाया विरूप नित्यया' आदि वाक्य भी इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं।

उपनिषद् वेद का एक भाग ही नहीं प्रमुखतम भाग हैं। इसमें समस्त वेदों के मुख्य तात्पर्य एवं मनुष्य के अन्तिम प्राप्तव्य तत्त्व–ब्रह्म का निरूपण है। 'तस्य वाचकः प्रणवः'।[14] यह इस ब्रह्म का वाचक प्रणव को माना जाता है प्रणव 'ओम' ही है। ओमएक शब्द–विशेष है। अ, उ, म् इन तीनों वर्णों के संयोग से बनता है। इसे महर्षि मनु[15] ने समस्त वेदों का सार माना है। इसे स्वरूपतः अर्थतः दोनों दृष्टियों से मांगलिक[16] माना जाता है। इसके स्वरूपतः मांगलिक होने में ब्रह्मा के कण्ठ का भेदन कर इसका निर्गमन ही कारण है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि ब्रह्मा के मुख से ओझर नहीं निकला अपितु कण्ठ का भेदन कर निकला है। यदि शब्द लोक से प्रसिद्ध सामान्य दृष्टि के अनुसार एक गुण मात्र है तो ओझर के भी शब्द होने के कारण अन्य शब्दों की भाँति इसे भी ब्रह्मा के मुख से ही निकलना चाहिए। ब्रह्मा के कण्ठ का भेदन कर इसका निकलना यह संकेत दे रहा है कि शब्द अवश्य ही कोई ऐसा तत्त्व है जो किसी ठोस पदार्थ का भेदन कर निकल सकता है और समस्त जगत् के मंगल के लिए एक स्वतन्त्र प्रमुखतम कारण बन सकता है। ऐसा तत्त्व व्याकरण की दृष्टि के अनुसार ही व्याख्यायित होना चाहिए। इस शब्द का अर्थ क्या है? केवल व्यक्ति, केवल जाति अथवा जाति व्यक्ति एवं उनका सम्बन्ध। युक्ति के धरातल पर इन तीनों मतों का समर्थन भी हो जाता है। पर ये तीनों मत परस्पर विरूद्ध प्रतीत होते हुए भी वास्तव में विरूद्ध नहीं हैं, क्योंकि शब्द के स्वरूप के सम्बन्ध में भी मतभेद है। यदि शब्द के विभिन्न स्वरूपों पर दृष्टि डाली जाय तो शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में भी मतभेद उपयुक्त ही है। श्रोत्र से जिसका ग्रहण होता है उसे ही न्याय दर्शन के अनुसार जब शब्द माना जा रहा है तब शब्द सुनते ही लोक में जाति व्यक्ति एवं उनका सम्बन्ध भासित होना अनुभव सिद्ध होने से इन तीनों को ही शब्दार्थ मानना सर्वथा उपयुक्त ही है। पूर्व एवं उत्तर मीमांसा के अनुसार जब शब्द वह तत्त्व है जो श्रोत्र से प्रत्यक्ष होने वाली ध्वनियों से अभिव्यक्त होता है तो उस शब्द का क्या अर्थ हो यह कल्पनीय ही होगा। जब कल्पना के बल पर ही शब्द के अर्थ का निर्णय करना है तब यह स्वाभाविक है कि शब्द का वही अर्थ माना जाय जो प्रकारान्तर से ज्ञात नहीं हो सकता है। इसी दृष्टि से पूर्व एवं उत्तर मीमांसकों ने केवल जाति को ही शब्द का अर्थ माना है। इस सन्दर्भ में भी वैयाकरणों का मत अधिक उपयुक्त है

और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि व्याकरण का मुख्य प्रयोजन शब्दों का अनुशासन ही है। इसलिए शब्दस्वरूप के सम्बन्ध में वैयाकरणों की मान्यता को प्रमुख स्थान मिलना चाहिए तथा उनके द्वारा निर्देशित शब्द स्वरूप के आधार पर शब्दार्थ निर्णय कर लेना चाहिए। वैयाकरणों ने स्पष्ट ही कह दिया है कि स्फोट ही शब्द है और वह जिनके उच्चारण से अभिव्यक्त होता है उनको केवल स्फोट के अभिव्यंजक रूप में मान्यता मिलनी चाहिए। साथ ही अभिव्यक्त स्फोट उन सभी अर्थों का बोधक होगा जो अर्थ स्फोट के अभिव्यंजक शब्द के उच्चारण के बाद जन सामान्य को अवगत होते हैं। उन अर्थों में व्यक्ति, जाति, इन दोनों का सम्बन्ध तथा व्यक्ति का आकार विशेष अन्तर्भूत है। शब्द से अर्थबोध करने के लिए जो वृत्तियाँ (शक्ति, लक्षणा, व्यंजना एवं तात्पर्य) विभिन्न मतों के अनुसार मान्य हैं। इस सन्दर्भ में साहित्य शास्त्र का दृष्टिकोण अधिक उपयुक्त है क्योंकि वाक्य सौष्ठव एवं वाक्यार्थ सौष्ठव ही साहित्य शास्त्र का मुख्य विवेचनीय है। सौष्ठव का निर्धारण अन्तःकरण की प्रसन्नता के आधार पर होता है। जिस वाक्य को पढ़ते या सुनते ही सहज ही आह्लाद हो वही वाक्य सुष्ठु वाक्य है तथा वाक्य से प्रतीत जो अर्थ सहज ही आह्लाद कारक हों वे ही सुष्ठु वाक्यार्थ हैं। ऐसी स्थिति में जन–सामान्य से लेकर विद्वान् तक की स्वाभाविक प्रवृत्ति का अनुभव कर सौष्ठव का निर्धारण करना और उसके आधार सुष्ठु वाक्य एवं सुष्ठु अर्थ का निर्धारण बहुत ही कठिन कार्य है और यही साहित्य शास्त्र के विद्वान करते हैं। इस वास्तविकता को दृष्टि में रखकर यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि साहित्य शास्त्र शब्द से अर्थ निर्धारण में जिन वृत्तियों की उपयोगिता स्वीकार कर रहा है उन वृत्तियों को ही सिद्धान्ततः मान्यता देना अधिक उपयुक्त है क्योंकि उन वृत्तियों के बल पर अर्थबोध होने से यथायोग्य यथास्थान चमत्कारातिशय का अनुभव सर्वमान्य है। भारतीय विचारधारा दो श्रेणियों में विभक्त हैं–

1. वेदों का परमप्रामाण्य स्वीकार करना।
2. वेदों के प्रामाण्य को न स्वीकार करना अथवा उनका सापेक्ष प्रामाण्य स्वीकार करना।

इन दोनों में से प्रथम धारा की कोटि में पूर्वोत्तर–मीमांसा एवं सांख्ययोग प्रमुख हैं। दूसरी धारा की कोटि में वेद का प्रामाण्य न मानने वाले चार्वाक एवं बौद्ध तथा वेद का सापेक्ष प्रामाण्य मानने वाले नैयायिक एवं वैशेषिक प्रमुख रूप से आते हैं। वेद किन्हीं शब्द विशेषों की राशि है। इसलिए प्रथम धारा के लोग शाब्दबोध को एक स्वतन्त्र प्रमा के रूप में अवश्य स्वीकार करते हैं अन्यथा शब्दराशि रूप वेदों से होने वाले बोध में परमप्रामाण्य मानना सम्भव न होगा द्वितीय धारा के लोग शाब्दबोध को स्वतन्त्र प्रमाण मानने के लिए बाध्य नहीं हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में या तो शब्दराशि वेदों का प्रमाण्य ही नहीं है अथवा

प्रमाणान्तर सापेक्ष प्रमाण्य है। यद्यपि न्याय दर्शन दूसरी श्रेणी में आता है तथापि इसने शाब्दबोध को स्वतन्त्र बोध के रूप में स्वीकार किया है।

एक देश के संचालन के लिए यदि लिखित शासन–संविधान आवश्यक है तो अनन्त बह्माण्ड के संचालन के लिए लिखित संविधान की आवश्यकता की उपेक्षा कौन कर सकता है? वह लिखित संविधान वेद ही है। यह बात भिन्न है कि वेदों को नित्य मानकर उन्हें परम निरपेक्ष प्रमाण माना जाय अथवा ईश्वर के द्वारा रचित मानकर आप्त के द्वारा उक्त होने के कारण सापेक्ष प्रमाण माना जाय। न्यायदर्शन वेदों को ईश्वर के द्वारा रचित मानता है और इस मान्यता का आधार इतना ही है कि आप्त के द्वारा उक्त शब्द ही प्रमाण हो सकता है, अतः वेदों की रचना परम–आप्त ईश्वर के द्वारा ही की गयी है। इसीलिए वेद के वाक्य आप्तोक्त होने से प्रमाण हैं और उनके प्रमाण होने का फल यही है कि हम आप वेदों के द्वारा विहित अपने कर्त्तव्यों का पालन अवश्य करें तथा उनके द्वारा निषिद्ध का वर्जन भी अवश्य करें। यद्यपि शाब्दबोध को अनुमिति के अन्तर्गत मानने वाले वैशेषिक भी परम आप्त ईश्वर के द्वारा उक्त होने के कारण वेद को प्रमाण मानते हैं जैसा कि 'तद्वचनात्आम्नायस्य प्रमाण्यम्' (तस्यवचनात् ईश्वरस्य वचनात्) ईश्वर का कथन होने से आम्नायस्य वेदस्य वेदों का प्रामाण्यं प्रामाण्य है।)[17] इस वैशेषिकसूत्र में स्पष्ट है तथापि न्यायदर्शन एवं वैशेषिक दर्शन की दृष्टि में थोड़ा सा अन्तर है। बौद्ध दर्शन की मान्यताओं का निराकरण करने के लिए वैशेषिक दर्शन सबसे पहले आगे आता है अनन्तर न्यायदर्शन आता है। बौद्ध दार्शनिक वेदों को अप्रमाण सिद्ध करने के लिए शाब्दबोध की प्रमाणता का ही खण्डन करते हैं और प्रत्यक्ष एवं अनुमान नाम के दो ही प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। जो लोग बौद्धदर्शन की मान्यता में अभिनिविष्ट हैं उनको वेदों की प्रमाणता के पक्ष में लाने के लिए वैशेषिक दर्शन ने यह कहा–हम भी आपकी तरह प्रत्यक्ष एवं अनुमान को ही प्रमाण मानते हैं। अतः हम आप में कोई विरोध नहीं होना चाहिए। अब यदि अनुमान के ही अर्न्तगत शब्द प्रमाण आ जाता है तो शाब्दबोध को भी अनुमिति के समान प्रमात्मक बोध मानने में आपको आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि उपस्थापित युक्तियों के बल पर यह स्वीकार कर लेते हैं तो शब्दराशि रूप वेदों से होने वाला शाब्दबोध भी प्रमात्मक बोध के रूप में अवश्य स्वीकार्य होगा। फलतः वेदों में विहित के पालन एवं निषिद्ध के परिवर्जन के लिए आपको भी सावधान होना होगा। इससे यह स्पष्ट हो रहा है कि वैशेषिक दर्शन बौद्धों को वेदों की प्रमाणता के प्रति सुगमता से आकृष्ट करने के लिए ही शब्द प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव मानता है। वैशेषिक दर्शन के प्रयास से जब बौद्ध दार्शनिक वेदों को प्रकारान्तर से प्रमाण मानने के लिए सहमत हो जाते हैं तब वैशेषिक दर्शन का समानतन्त्र[18] न्यायदर्शन सोपान परम्परा न्याय से बौद्ध दार्शनिकों को उस

वस्तुस्थिति तक पहुँचाता है जिसके अनुसार शब्द की स्वतन्त्र प्रमाणता एवं शाब्दबोध का स्वतन्त्र रूप से प्रमात्मक बोध के रूप में अस्तित्व सिद्ध होता है तथा इसके सत्फल के रूप में वेद एवं उनसे होने वाले बोध का भी स्वतन्त्र प्रमाणत्व एवं प्रमात्व प्रतिष्ठित हो जाता है।

संदर्भ

1. वेदों की प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता के विषय में दार्शनिक संप्रदायों द्वारा विशद् रूप से विचार किया गया है। दोनों पक्ष में तक दिये गये हैं। वेदों की गरिमा तथा महत्व को देखते हुए इतना कहना ही पर्याप्त है कि भारतीय परम्परा में वेदों की प्रामाणिकता पवित्रता सर्वमान्य है। तर्क द्वारा वस्तुतः न तो किसी दैवी स्वरूप सम्पन्न वस्तु का खण्डन ही किया जा सकता है और न खण्डन ही। वेद अपौरुषेय हैं। तक बुद्धि उनकी प्रामाणिकता के विषय में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकती।
2. यावद्ब्रह्म विहीतम् तावती वाक्। ऋग्वेद10–10/14–8
3. ऋग्वेद 10–10/125–4
4. ऋग्वेद 10/7/71/2
5. उत्त्वम सख्ये स्थिरपीतम आहुर नैनम हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
   अधेंन्वा चरति माययैषा वाचम शुश्रुयाम अफलाम अपुष्याम्।। ऋग्वेद 10/6/71/5
6. सक्तुमिव तितउना पुनन्तोयत्र धोरा मनसा वाचमक्रता।
   अत्रा सखायः सख्यानि जानतेः भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधिवाचि।। ऋग्वेद 10/71/2
7. वाचं–वाचं जरितू रत्निनीं .तनुभाशंसंनासत्याऽवतं मम।। ऋग्वेद 1/82/4
8. उत त्वः पश्यन न ददर्श वाचम। उत त्वः श्रृणोत्येनाम।
   उतो त्वस्मै तन्वम विसस्रे। जायेव पत्य उषती सु वासाः।।
   ऋग्वेद 6/71/4
9. यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्। ऋग्वेद 10/114/8
10. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तैत्तिरीय ब्राह्मण 2/4/5
11. साकांक्षशब्दैर्यो बोधस्तदर्थान्वयगोचरः। सोऽयं नियन्त्रितार्थत्वान्न प्रत्यक्षं न चानुमा।। शाब्दशक्तिप्रकाशिका नाम प्रकरण
12. शाब्दशक्तिप्रकाशिका नाम प्रकरण पृष्ठ 58
13. न्यायमत में शब्दों के अनित्य होने पर भी उनमें रहने वाली शब्दत्व जाति नित्य है, अतः शब्दत्व जातिगत नित्यता को ही शब्द में आरोपित कर शब्द को नित्य मान लिया जाता है। यहाँ यदि यह जिज्ञासा होती है

कि इस प्रकार की नित्यता तो सभी शब्दों में है वैदिक शब्दों को ही नित्य क्यों माना जाता है तो इसके समाधान में न्यायदर्शन की ओर से यह वक्तव्य है–लौकिक शब्दों का जब भी प्रयोग होता है तब अर्थ की प्रमुखता होती है, इसीलिए जब लौकिक शब्दों का प्रयोग किसी अर्थ के बोध के लिये किया जाता है तब लौकिक शब्दों की एकरूपता पर ध्यान कम रहता है। अर्थ का भेद न होने पर इसके लिए पूरी सावधानी रखी जाती है। वैदिक शब्दों के प्रयोग में इससे भिन्न स्थिति है। वहाँ अर्थों में भेद न होने पाये इस पर ध्यान रखने के साथ–साथ वैदिक शब्दों की एकरूपता पर भी पूरा ध्यान रखा जाता है। यदि कदाचित् अर्थ भेद न होने पर भी वैदिक शब्दों में भेद हो जाता है तो अपेक्षित पुण्य की प्राप्ति नहीं हो पाती है। इसीलिए वैदिक शब्दों की एकरूपता को सुरक्षित रखने के लिए वैदिक लोग सदा सावधान रहते हैं। एक मात्र वेद ही ऐसे ग्रन्थ हैं जिनके शब्दों मे आज तक कहीं भी अन्तर नहीं पाया गया है। इस तथ्य के अनुसार वैदिक शब्दों की एकरूपता को बताने के लिए ही उनकी नित्यता का प्रतिपादन वेदों में भी मिलता है। इस तरह यह स्पष्ट है कि वेदवाणी की नित्यता का तात्पर्य उसकी एकरूपता में है।

14. उस (ब्रह्म) का वाचक प्रणव है।
15. अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्राजपतिः।

वेदत्रयान्नरदुहद्भूभुर्वः स्वरितीति च।। अध्याय 2, श्लोक 76

16. ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।

कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मात् मांगलिकावुभौ।। योगियाज्ञवल्क्य, दुर्गादास कल्पद्रुम में उद्धृत) (ओमतथा अथ–ये दोनों शब्द स्वरूपतः मांगलिक हैं, क्योंकि ये ब्रह्म के कण्ठ का भेदन कर निकले हुए हैं) इससे यह स्पष्ट हो रहा है कि ओमशब्द परम मंगल ब्रह्म का वाचक होने से अर्थतः मांगलिक तो है ही साक्षात् ब्रह्मा के कण्ठ का भेदन कर निकलने से स्वरूपतः भी मांगलिक है।

17. वैशेषिक दर्शन, प्रथम आह्निक सूत्र 3
18. समानतन्त्रो यथा न्यायवैशेषिकौ, सांख्ययोगौ प्रसन्नपदा। वात्स्यायन भाष्य, न्यायदर्शन, 1/1/29

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

वैश्विक चेतना : भारतीय दर्शन के संदर्भ में

डॉ. कीर्ति चौधरी *

वैश्विक चेतना सम्पूर्ण विश्व को एक सामान्य दशा में एक साथ लाने के उपक्रम से संबंधित है। वैश्विक चेतना के द्वारा विभिन्न देश आपसी तालमेल, सामान्य, व्यवहार को संबृद्ध बनाते हैं। वसुधैव कुटुम्बकम् इससे संबंधित है। वैश्विक परियोजना (जी सी पी) जिसे ई जी जी परियोजना भी कहा जाता है। यह परा मनोवैज्ञानिक प्रयोग है जो 1998 में प्रारम्भ हुआ। प्रस्तुत शोध पत्र दार्शनिक दृष्टिकोण से वैश्विक चेतना के भारतीय स्वरूप को प्रस्तुत करती हैं।

चेतना शब्द चित्त संज्ञा ने धातु से निष्पन्न होता है। इसका अंग्रेजी अनुवाद Consciousness हैं। इसके विविध अर्थ है, चैतन्य, वेदन, अनुभव, अन्तःसंज्ञा, बोध, अन्तबोध, ज्ञान, चित्तभोग, मनस्कार, अहंकार, चित्तदात्मक, प्रभा, अन्तः चैतन्य बाह्य चैतन्य इत्यादि। प्रस्तुत शोध पत्र वैश्विक चेतना, भारतीय दर्शन के संदर्भ में तत्व मीमांसीय प्रस्तुति हैं।

आज के समय जब व्यक्ति स्वयं की आंतरिक चेतना के प्रति उदासीन है, अतः विश्व चेतना को समझना अत्यंत कठिन हैं।

प्रस्तुत शोध पर आत्म–चेतना का विश्व चैतन्य से संबंध का विश्लेषण है। बहुत सी दार्शनिक विचारधाराएँ भारतीय दर्शन के चैतन्य को उजागर करती हैं। व्यक्ति की चेतना में समष्टि की चेतना निहित है। यदि व्यक्ति नहीं होगा तो समिष्टि कैसे संभव है। चेतना की अनुभूति कैसे होती है। इस विषय में दार्शनिक परम्परा अलग–अलग सिद्धांत का प्रतिपादन करती है। यह चेतना का महत्वपूर्ण पक्ष है। माण्डूक्य उपनिषद् में आत्मा को तुरीय या शुद्ध चैतन्य कहा गया हैं। एक ही आत्मा जगत, स्वप्न, सुषुप्ति एवम् तुरीय में रहती हैं।

** सहायक प्राध्यापिका, पटना वीमेन्स कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय, पटना*

'माण्डूक्य उपनिषद् में आत्मा की चार अवस्थाओं का वर्णन हैं। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। शुद्ध आत्मा तुरीय अवस्था है। जागृत अवस्था में आत्मा ब्रह्म वस्तुओं का अनुभव करता है। स्वप्नावस्था में मानसिक जगत का तथा सुषुप्ति अवस्था में वह केवल आनंद का अनुभव करता है ये तीनों अवस्था आत्मा की अपर अवस्थायें हैं, जिन्हें क्रमशः विश्व, तेजस तथा प्रज्ञा कहते हैं। यह आत्मा का आंशिक ज्ञान हैं। पूर्ण आत्मा ज्ञान से समस्त अनुभवों पर हैं।'[1]

जीवात्मा और ब्रह्म एक है इसके लिए तत्वमसि, अयमात्या ब्रह्ममम, सर्वानुभूः अहं ब्रह्मास्मि जैसे उपनिषद के महावाक्य प्रमाण स्वरूप है। जीवात्मा अज्ञान, माया, मोह इत्यादि के कारण स्वयं को विश्व चैतन्य का ब्रह्म से अलग समझता है। वस्तुतः वह इससे अलग नहीं उसी का रूप है। चैतन्य की अनुभूति अपरोक्ष ब्रह्म की अनुभूति है। वैश्विक चेतन हमारी चेतना का बड़ा हिस्सा है, जिस प्रकार सूर्य से उसकी उर्जा पृथक नहीं है। ठीक उसी प्रकार वैश्विक चेतना परम ब्रह्म है और हम उसी ब्रह्म की चेतना।

वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार आत्मा पूर्ण है और ब्रह्म भी पूर्ण हैं। ब्रह्म की पूर्णता से आत्मा की पूर्णता निकालने पर जो कुछ बचता है वह भी पूर्ण ही हैं। अतः आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं।

'पूर्णमदः पूर्णसिदं पूर्णपूर्ण मुदच्यते मेवाव।
पूर्णस्य पूर्णामादाय पूर्णमेवाव शिष्यते।'[2]

प्रस्तुत श्लोक आत्मा चैतन्य का विश्व चैतन्य से सम्बन्ध प्रकट करता है वस्तुतः आत्मा चैतन्य विश्व चैतन्य से अलग नहीं हैं।

स्वतः अनुभव आत्माविद ब्रह्ममैव भवति एवं तत्वमसि जैसे उपनिषदीय वाक्य इसे प्रकाशित करते हैं। मानवीय चेतना का सम्बन्ध बोध से है चेतना के विभिन्न स्तर है जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय सभी स्तर पर चेतना एक सी होती है। तुरीय अवस्था परमार्थ की हैं। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति से होती है चेतना वैश्विक हो उठती हैं।

चेतना को हम तरंगों की तरह समझ सकते हैं। पानी की लहर की तरंगों को हम चाहकर भी रोक नहीं सकते हैं। पानी की लहर की प्राकृतिक धाराओं का हम अनुभव कर सकते हैं। उसे सिद्ध करना एवं उसका दिशा का निर्धारित करना आकाश कुसुम के समान है।

चेतना स्थिर है या गत्यात्मक ?

चेतना शरीर से जुड़कर सजीव हो जाती है या पहले से ही उससे सजीवता होती है। चैतन्य के बिना व्यक्ति को अनुभूति नहीं हो सकती है। चैतन्य क्या है? इसे जानने की चेष्टा समय–समय पर उपनिषदों में ऋषियों एवं ऋषिकाओं ने की हैं। वृहदाण्यक उपनिषद का याज्ञवलक्य गाग्री संवाद इस बात को प्रमाणित करता है। उपनिषदों में चेतना के प्रत्येक स्तर को देखने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ चेतना शब्द को आत्मा विशुद्ध चैतन्य ब्रह्म आदि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन बुद्धि से अलग एक विलक्षण तत्व है। मुंडक उपनिषद् में इसे दृष्टा या साक्षी रूप में प्रकट किया गया है। यह ज्ञाता रूप है किन्तु यह विषयों में लिप्त नहीं होता है।

वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञव्लक्य कहते हैं कि जो सब कुछ जानता है, उस विशुद्ध ज्ञात को ज्ञय रूप में नहीं जाना जा सकता है।

येनेदं सर्व विजानाति तं केन विजानियात ?
विज्ञातार अरे। केन विजानीयात्।।[3]

इसी प्रकार केनोपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा न तो ज्ञेय विषय है और न अज्ञेय। यह ज्ञेय या विदित से भिन्न है और अज्ञेय या अविदित में उपर हैं।' अन्यदेव तद विदितादघो अविदितादधि।।'[4] अर्थात् आत्मा इन्द्रिय वाणी बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं है। यह चित्तवृत्ति का विषय नहीं बन सकती। यदि इसके बारे में कुछ भी कहा जा सकता है तो वह नेति–नेति है। आत्मा चैतन्य स्वरूप हैं। अपरोक्षानुभूति गम्य है।

सांख्य दर्शन योग के साथ जुड़ा हुआ है। पातंजलि योग दर्शन का तात्पर्य है– चित्तवृति का निरोध। मनुष्य की भौतिक तथा अध्यात्मिक पूर्णतः की प्राप्ति के लिए विधि पूर्वक किया गया प्रयत्न ही योग है। योग दर्शन में भी जीवात्माओं की अनेकता उनकी नित्यता तथा निविकाता को स्वीकार किया गया है। सांख्य दर्शन पुरुष और प्रकृति दोनों को ही स्वीकार करता है। प्रकृति सांख्यकारिका, 17 प्रकृतिजड़ है एवं पुरुष चेतना है।

संघात परार्थत्वात त्रिगुणादी विपर्यायात् अधिष्ठानात भोक्तृभावत कैवल्यार्थ प्रवृतेश्च।'[5]

सांख्य के आत्म सम्बन्धी विचार की एक विशेषता पुरुष की अनेकता सम्बन्धी हैं। सांख्यकारिका (18) में ईश्वर कृष्ण ने पुरुष की अनेकता को सिद्ध करने के लिए तीन प्रमाणों को प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार हैं।' जन्ममरण करणानां आयुगपत्प्रवृतेश्चत्रैगुणय विवर्ययाच्च।'[6] पुरुष की बहुत संख्या विश्व में निहित

चेतना की अधिकता को प्रमाणित करती हैं। सृष्टि के निर्माण में प्रकृति एवं पुरुष दोनों ही सामंजस्य रखते हैं। विश्व चेतना मानव चेतना का ही रूप है। जब प्रकृति पर पुरुष का प्रकाश पड़ता है जिससे स्पंदन होने पर रजो गुण आगे बढ़ निकलता है जिससे जगत की निर्माण की प्रक्रिया का प्रारम्भ होती है। विश्व चेतन में आत्मा चेतन अत्यंत आवश्यक हैं। पुरुष के चेतना के बिना जगत की चेतना का निर्माण नहीं हो सकता है। विश्व चेतना अपने आप में इन पुरुषों की चेतना से जुड़ी हुए हैं।

वैश्विक समस्याओं का समाधान भी अनेक चेतनाओं के समूह द्वारा ही हल किया जाता है। विभिन्न त्रासदी में चेतना पुरुषों के समायोग द्वारा ही निदान होता है। वेदान्त दर्शन आत्मा तत्व के स्वरूप को बृहत रूप में प्रकाशित करता है। वेदान्त सूत्र पर अपने भाष्य की प्रस्तावना में आचार्य शंकराचार्य जी ने प्रश्न किया है कि क्या ऐसी कोई वस्तु है जिसे मौलिक अर्थात् सबका आधारभूत माना जा सके! और निष्कर्ष रूप में यह प्रतिपादक करते हैं कि 'प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा के विषय में अभिज्ञता रखता है ओर ऐसा कोई नहीं कहता कि मैं नहीं हूँ।' इस प्रकार आत्मा ही एकमात्र सबका आधार है। वेदान्त केवल एक तत्व मानता है वह आत्मा है।'[7]

सर्वा आत्मास्तित्व प्रत्येक न नहास्मिति।'[8]

डॉ. राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक भारतीय दर्शन भाग 2 में आत्मा को विशुद चैतन्य माना है जो सर्वोपरि तत्व है जिसके अन्दर ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय का कोई भेद नहीं रह जाता है। यह अतीन्द्रिय तथा निरपेक्ष ज्ञान है। आत्मा स्वर्गिकरूप में प्रज्ञा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, प्रज्ञा ही उसका अनन्य स्वरूप है जैसे नमक की राशि का स्वरूप उसके नमकीन स्वाद में हैं। यह सदा ज्योर्तिमय है। जिस प्रकार सूर्य स्वयं प्रकाश है, उसी प्रकार आत्मा के अन्दर चैतन्य सदा विद्यमान रहता हैं। चाहे कोई ज्ञात्व विषय उपस्थित हो या न हो। आत्मा को न कुछ त्यागना हैं ना ही उसे प्राप्त करना है।'[9]

वह आत्मा एवं ब्रह्म को एक ही स्वीकार करता है। अद्वैत वेदान्त में सतचित् आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है चेतना आत्मा का स्वरूप है। ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या अर्थात् ब्रह्म सत्य है एवं जगत मिथ्या हैं। जगत की व्यावहारिक सत्ता है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से जगत सत्य नहीं है। ज्ञान प्राप्त होनेपर इसका ज्ञान होता है। वस्तुतः ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता। अतः आत्म चेतना एवं विश्व चेतना इस स्तर पर एक है। हमारी चेतना विश्व चेतना से एकाकार है।

अतः हममें इतनी शक्ति अन्तःर्निहित है कि हम विश्व को सकारात्मक एकता प्रदान कर सकते हैं।

वस्तुतः विभिन्न प्रकार की चैतन्य का स्तर अनेक दार्शनिकों की सदियों की मेहनत एवं कठोर आत्ममन्थन का परिणाम है प्रत्येक व्यक्ति अपनी चेतना के स्तर से विश्व चैतन्य का अंश हैं। विश्व हमारा घर है। भले ही हम अपने को वैश्विक चेतना का अंश स्वीकार करे या न करे, हम विश्व चेतना का एक अंश है। पंच तत्व का मानवशरीर निर्मित है। वायु, जल, पृथ्वी, अग्नि, आकाश जाने, अनजाने में हमारी चेतना की प्रभावित करते हैं। कभी–कभी हम अनभिज्ञ होते हैं। कभी–कभी जागृत होते हैं।

प्रश्न उठता है कि हम अपनी चेतना को वैश्विक चेतना को कैसे जोड़ सकते हैं। इसके लिए प्रथम सोपान व्यक्ति का स्वयं के प्रति जागरूक होना है। मैं कौन हूँ ? शरीर इद्रिया, आत्मा, मन, स्वयं की खोज व्यक्ति को विश्व के प्रति भी जागरूक बना देती है।

एकोऽहं बहुधा विविधा वदन्ति

विश्व चैतन्य आत्मा चैतन्य एक है उसके नाम अलग–अलग हो सकते हैं। अनात्मकवादी या जड़वादी चैतन्य के विरोधी हो सकते हैं किन्तु आत्म विमर्श के नहीं।

आत्म चैतन्य वस्तुओं की तरह नश्वर नहीं है। भगवद गीता के द्वितीय अध्याय में इसकी नश्वरता का प्रमाण मिलता है 'नैनं दहति पावकः' एवम् यथा विहानि जिर्णाणि नवानि गृहाणी नरोपाणि। अर्थात् इस आत्मा को कोई शस्त्र छेद नहीं सकता ना कोई वायु अग्नि इसे जला सकती है, ना वायु इसे सुखा सकती हैं ना जल इसे गीला कर सकती है।

आत्मा अजर अमर सर्वव्यापी है, चेतना इसमें निहित है। आत्मानुभूति एक विलक्षण अनुभूति हैं। यह रहस्यवाद को जन्म देती है, वह व्यक्ति अपने अनुभव को मात्र सांकेतिक कर सकता है। उसका स्पष्ट अनुभव करना, संभव नहीं हैं। 'नेति नेति किंचनम।'

अब चैतन्य को जानने एवं विश्व चैतन्य से जोड़ने के पीछे क्या उद्देश्य है ? वर्तमान में होने वाली समस्याओं में आधे से ज्यादा आत्मकेन्द्रित है यदि हम चैतन्य के वास्तविक स्वरुप को समझे और उसे अपने व्यवहार में उतारे तो यह समस्याएं स्वतः सुलभ जायेगी।

वैश्विक चेतना के संदर्भ में मुण्डक उपनिषद में उसे साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह दृष्टा रूप है, सब देखने वाला है।

विश्व चेतना हमारी चेतना से जुड़कर एक नवीन रूप में सृजित होती है। इतिहास साझी है, जब किसी चैतन्य ने किसी समस्या के निदान में सामूहिक आत्मा को पुकारा है तो वह समस्या स्वयं समाप्त हुई हैं। अस्पृश्यता, परतंत्रता, असमानता, छुआछूत निवारण इत्यादि समस्याओं का मंथन करती हैं।

ग्लोबल वार्मिंग, प्रदूषण की विभिन्न धाराएं एवं मानसिक अवसाद, सामंजस्य की समस्या सभी का समाधान चैतन्य के रूप में होता हैं। भारतीय परम्परा एवं दर्शन इतने सशक्त है कि आत्महत्या, अवसाद इत्यादि के लिए इसमें कोई स्थान नहीं है। मूलतः यह समस्याएँ स्वयं के प्रति उदासीनता एवं कोरी कल्पना के कारण हैं। व्यक्ति की चेतना को समझना एवं व्यावहारिक स्तर पर इसका क्रियात्मक पक्ष अत्यन्त आवश्यक है। चेतना के स्तर पर सभी एक है इसमें कोई दो राय नहीं। किसी की भी चेतना का स्तर विकसित हो सकता है।

संदर्भ

1. वशिष्ट डी.डी., वंदिष्ट, डॉ. रमाशंकर शर्मा भारतीय दार्शनिक निबन्ध मध्यप्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, 2008, पृ. 48
2. बृहदारण्यक उपनिषद 11/03/19
3. बृहदारण्यक उपनिषद 02/04/14
4. केनोपनिषद् 1/3
5. भट्टाचार्य रमाशंकर, सरत्यतात्व्कौमुदी श्लोक–17, पृष्ट–11 मोती लाल बनारसी दास, 2010
6. वही, श्लोक–18, पृ. 141
7. शंकर भाष्य 1 : 1
8. पाण्डेय रमा, भारतीय दर्शन में तत्वों का समस्यात्मक विवेचना, मोतीलाल बनारसीदास पटना, 2011, पृ. 116
9. वही, 116

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

''वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता'' : एक समीक्षा

डॉ. रास बिहारी शर्मा *

इस अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की वार्षिक अधिवेशन का केंद्रीय विषय है–''वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः'', जो यजुर्वेद के नौवें अध्याय की 23वीं कंडिका से लिया गया है। यहाँ पर पुरोहित का अर्थ उस व्यक्ति से है जो पुर अर्थात अपने रहने के स्थान का निरंतर हित करने का प्रयास करता है। प्राचीन भारत में ऐसे मनीषियों, चिंतकों, युगद्रष्टा व्यक्तियों को ही पुरोहित कहते थे, जो राष्ट्र का दूरगामी हित समझ कर उसकी प्राप्ति कैसे हो ? इसकी विचार करके उसके अनुकूल व्यवस्था करते थे। चिंतक और साधक दोनों का गुण किसी पुरोहित में सम्मिलित होता था। इस गुण के कारण ही कोई पुरोहित सही परामर्श दे सकने में समर्थ हो सकता था।[1] ऐसे उर्जावान व्यक्ति अपने संकल्पों, विचारों एवं सद्कार्यों से क्रमशः हमारा, समाज का, राष्ट्र का तथा संपूर्ण सृष्टि का हित करने के लिए तन–मन–धन से प्रभावी ढंग से पुरे सामर्थ्य के साथ जीवन समर्पित कर देता है। यजुर्वेद में जितने भी मंत्र है, सभी लोक व्यवहार से संबंधित उपदेश से परिपूर्ण है। हमें भी इससे प्रेरणा ले कर अपने जीवन को लोक कल्याण के लिए ही समर्पित कर देना चाहिए। यदि सभी लोग ऐसा ही सोचने लगे एवं इसको व्यवहार में उतार ले तो एक दूसरे का ख्याल रखने से सबका देखभाल हो जायेगा। फिर समाज में शांति व्यवस्था के लिए अलग से व्यवस्था नहीं करनी पड़ेगी।[2]

'पुरोहित' के गुढ़ अर्थ पर यदि हम विचार करेंगे तो इसका रिफ्लेक्शन (Reflection) कई रूप में सामने आ सकता है। जिसमें से मुख्य बातें मेंरे विचार में लोककल्याण यानि लोकसंग्रह से जुड़ा है एवं इसमें थोड़ी कट्टरता आ जाये तो यह राष्ट्रवाद से भी जुड़ सकता है। इन्हीं विचारों के मध्य चर्चा का विषय यहां रखा गया है।

** सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग, एम. वी. कॉलेज, बक्सर*

दर्शन की जब भी व्याख्या होती है तो इसमें अधिकांशतः लोग अपने–अपने निजी धर्म या संप्रदाय से बाहर निकल कर सोच ही नहीं पाते, उनके मन में कहीं न कहीं अपने धर्म के प्रति थोड़ा लगाव तो होता ही है। इस स्थिति में नैतिकता, तत्वमीमांसा, तर्कशास्त्र इत्यादि की बात करना बेईमानी ही होगी। दर्शनशास्त्र यह सिखाता है कि ज्ञानी व्यक्ति को स्वार्थ से ऊपर उठ कर एवं तटस्थ होकर विचार अथवा निर्णय करना चाहिए। धर्म में ही नैतिकता शामिल होता है। नैतिकता शुभ–अशुभ के विभिन्न मापदंडो के साथ सबके हित की बात उसी तरह से करता है, जिस तरह सभी धर्म एवं दर्शन अंतिम रूप से मानव के कल्याण की बात करता है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि मानव तो हम स्वयं भी है तो क्या केवल अपने कल्याण का ही हमें सोचना चाहिए एवं सिर्फ अपने लिए ही प्रयास करना चाहिए या फिर केवल अन्य मानव के लिए यहि विचार रखना चाहिए अथवा अपने साथ–साथ अन्य मानव का भी ख्याल रखना चाहिए। इन तीन विकल्पों के अलावे चौथा विकल्प यह भी है कि क्या बेकार के इन सबालों के चक्कर में पड़ना। अगर हम चौथे विकल्प की ओर बढ़ रहें हैं तो इसका मतलब ये हो जायेगा कि या तो हम विवेकशील नहीं हैं अथवा विवेकशील हैं भी तो संवेदनशील नहीं हैं या लापरवाह किस्म के व्यक्ति हैं। इसलिए हमको इन फालतू लफड़ों में पड़े बिना अपनी जिंदगी में मिले अधिकतम भौतिक सुखों का जबतक जिंदगी है, उपभोग करना है। चौथे विकल्प वाले के लिए पहला तीनों विकल्प चर्चा करना बेमानी है। यह उनसे किसी भी तरह संबंधित ही नहीं है।[3]

पहले विकल्प के अनुसार तो व्यक्ति अपनी साधना से सिर्फ अपनी ही भलाई कर सकता है। उसके सीखे ज्ञान एवं खोजे हुए रास्ते का लाभ किसी अन्य व्यक्ति को नहीं मिल सकेगा। ऐसे व्यक्ति अपने साथ ही ज्ञान का अंत कर देता है। तो यह किसी भी तरह सामाजिक एवं सार्वजनिक जीवन के लिए हितकारी नहीं हो सकता। दूसरे विकल्प पर यदि हम बात करें तो यह स्पष्ट रूप से ऐसा ही हुआ कि एक डुबता हुआ आदमी दुसरे डुबते हुए आदमी को बचाने की कोशिश करे। अगर हम खुद अपना भला नहीं कर सकते तो दूसरों का भला कैसे कर सकते हैं। जिस तथ्य का ज्ञान हमें खुद नहीं हो उसका ज्ञान दूसरों को कैसे कराया जा सकता है। इसलिए ये विकल्प भी उचित नहीं दिखाई पड़ता है। अंतिम तीसरा विकल्प ही बचता है जो सिखाता है कि पहले अपने लिए ज्ञान हासिल करें फिर दूसरों को भी बतायें, पहले अपना भला करें फिर अन्य का भी भला करने का कम से कम रास्ता तो बताते चलें। यही विकल्प लोककल्याण की ओर अग्रसर करता है।[4]

बोईथियस ने कहा है–''जो स्वर्ग जाने के लिए अकेला तैयार है, वह कभी स्वर्ग जा ही नहीं पायेगा'' इस अधिवेशन के केंद्रीय विषय ''वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः'', जो यजुर्वेद के नौवें अध्याय की 23वीं कंडिका से लिया गया है, के अनुरूप यहाँ पर विवेचन करने का प्रयास किया गया है। यहां पर पुरोहित का अर्थ उस व्यक्ति से है जो पुर अर्थात अपने रहने के स्थान का निरंतर हित करने का प्रयास करता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो पायेंगे कि प्राचीन भारत में ऐसे मनीषियों, चिंतकों, युगद्रष्टा व्यक्तियों जिसको पुरोहित कहते थे, जो राष्ट्र का दूरगामी हित समझ कर, उसकी प्राप्ति कैसे हो ? इसकी विचार करके उसके अनुकूल व्यवस्था करते थे, उनको ही राज्य के प्रमुख यानि राजा के सलाहकार अथवा मार्गदर्शक के रूप में आग्रहपूर्वक नियुक्त किया जाता था। किसी पुरोहित में चिंतक और साधक दोनों का गुण सम्मिलित होता था। इस गुण के कारण ही कोई पुरोहित सही परामर्श दे सकने में समर्थ हो सकता था। ऐसे ऊर्जावान व्यक्ति अपने संकल्पों, विचारों एवं सदकार्यों से क्रमशः हमारा, समाज का, राष्ट्र का तथा संपूर्ण सृष्टि का हित करने के लिए तन–मन–धन से प्रभावी ढंग से पुरे सामर्थ्य के साथ जीवन समर्पित कर देता है।[5]

कोरोना जैसी इस शताब्दी की भयानक महामारी में सबके जीवन को बचाने के उद्देश्य से प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी जी ने यजुर्वेद के इसी वाक्य को ''वयं राष्ट्रे जागृयाम'' दोहराया। इसका अर्थ हुआ कि हम राष्ट्र को जीवंत और जाग्रत बनाये रखेंगे। इसके लिए सभी लोगों का साथ आवश्यक है।

राष्ट्र जागरण के लिए अनेकानेक उपाय किये जा रहे हैं, जैसे बहुत सारे अवसरों पर भाषणों के अलावा आकर्षक नारों के साथ लुभावने वादे इत्यादि। फिर भी राष्ट्र जाग्रत नहीं हो रहा है। इसका कारण यह है कि सक्रिय होना और जाग्रत होना, दोनों एक नहीं है। जिस तरह से सक्रिय मनुष्यों में जरूरी नहीं कि मनुष्यता मौजूद ही हो, उसी तरह विविध राष्ट्रीय गतिविधियों के बीच राष्ट्रीय भावना का भी अभाव अनुभूत होता रहा है। राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्रीय गौरव, राष्ट्रीय आत्मीयता एवं राष्ट्रीय समृद्धि के विकास के लिए कोई न्यूनतम आधारभूत स्वरूप निर्धारित होना आवश्यक है।[6]

आज राष्ट्र सोया ही नहीं बल्कि गहन मुर्छा की स्थिति में है। इसे जाग्रत करने के लिए विशेष प्रयास करने की अनिवार्य आवश्यकता है। लेकिन वो कौन राष्ट्र पुरूष होगा जो निःस्वार्थ हो कर मां भारती के लिए सर्वस्य त्याग कर अपने दृष्टिकोण का दायरा बढ़ा सकेगा। ऐसा राष्ट्र जागरण वही कर सकता है

जिसका अंतःकरण जाग्रत हो तथा जो स्वार्थ की सीमा से बाहर सक्रिय हो और जो प्रचलित मान्यताओं के परे मस्तिष्क में कुछ नया सोच सके, साथ ही जिनका स्वभाव ही हो सामुहिक हित चिंतन। यही लोककल्याण या गीता के लोकसंग्रह की भावना में परिलक्षित होता है। इस प्रकार का व्यक्ति निष्काम कर्म करता है, जो बहुत ही कठिन तपस्या के फलस्वरूप संभव हो पाता है। इसको ठीक से कहें तो हम कह सकते हैं कि ऐसा व्यक्ति जो भी कर्म करता है वह जन कल्याण के लिए ही होता है। इसको करना नहीं पड़ता है, बल्कि स्वाभाविक रूप से होता है।

गीता के अनुसार लोकसंग्रह की अवधारणा को जीवन में उतारने वाले व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ, गुणातीत एवं भगवद्भक्त कहा गया है। ऐसे ज्ञानी पुरूष अपने मन की समस्त कामनाओं का त्याग कर दिया होता है। ऐसे व्यक्ति की प्रज्ञा स्थिर हो जाती है और वह राग–द्वेष से मुक्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के निवृत्ति लक्षण के साथ ही प्रवृत्ति लक्षण भी प्रधान होते हैं।[7]

सुखवाद की भावना के अनुसार सर्वोत्तम एवं श्रेयस्कर सुख वही है जो अधिकतम हित, अधिकतम व्यक्तियों का हित जो दुरगामी हो यानि अधिक स्थायी हो। ऐसा विचार करते हुए परमार्थ चिंतन तक पहुँचने वाला व्यक्ति ही चिंतन विश्लेषण के द्वारा कोई तरीका निकालता है और लोगों को संगठित कर विश्वमंच पर सिंहनाद कर सकता है।

भारतीय दर्शन में लोक–कल्याण की बात कई जगह कही गयी है। गीता में लोकसंग्रह की चर्चा की गयी है जिसका शाब्दिक अर्थ है – संपूर्ण विश्व के कल्याण के लिए संचय करना। यहां करना शब्द से निष्काम कर्म की अभिव्यक्ति होती है। हमारे पास जितनी सामग्री, समय, सामर्थ्य और समझ है, उसी से हम अगर दूसरों की सेवा करें तो वह सेवा लोक कल्याणकारी होगा। बिना किसी भेदभाव सबको अपना समझ के सबकी भलाई में कार्यशील रहने वाला व्यक्ति ही लोकसंग्रह का कार्य करता है। लोकसंग्रह गीता का मुख्य सामाजिक एवं नैतिक आदर्श है। स्वार्थ से किए गये कर्म तुच्छ और बंधनकारक होते हैं। इस बंधन को तोड़ना और मुक्ति का आनंद लेना ही मानव का लक्ष्य है। अगर कोई श्रेष्ठ व्यक्ति अपने आचरण से ये संदेश देते हैं तो आम जन समुदाय उसके अनुसार चलते हैं या उनका अनुकरण करते हैं।[8]

भारतीय दर्शन में गांधी जी के द्वारा ''Unto the last'' पुस्तक के अनुवाद में ''सर्वोदय'' की अवधारणा भी जनकल्याण की ही अवधारणा है। इसमें समाज के सभी वर्गों को साथ लेकर चलने एवं सबके विकास की बात की गयी है। गांधी

जी इसी अवधारणा को जीवंत करने के लिए सत्य और अहिंसा के व्रत का पालन करते थे।

भारतीय राष्ट्रवाद को जाग्रत करने में श्री अरविंद का स्थान महत्वपूर्ण है। श्री अरविंद के समस्त राजनीतिक विचारधाराओं में आध्यात्मिक राष्ट्रवाद या राष्ट्रवाद का सिद्धांत सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जो दैवी नियतिवाद से जुड़ी हुयी है।

डॉ. कर्ण सिंह के शब्दों में–''श्री अरविंद वर्तमान भारत के बड़े निर्माताओं में गिने जा सकते हैं, क्योंकि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के उस प्रासाद की नींव डालने में उन्होंने महान योगदान दिया, जिसे महात्मा गांधी और अन्य नेताओं ने बाद में निर्मित किया।''

रोनाल्ड के अनुसार – ''श्री अरविंद ने समय की आवश्यकताओं के अनुरूप राष्ट्रवाद को एक शुद्ध धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया।''

श्री अरविंद खुद लिखते हैं – ''अंतिम परिणाम तो विश्व राज्य हैं और स्वतंत्र राष्ट्रों का एक ऐसा संघ होना चाहिए, जहां दासता, बलपूर्वक समानता और अधीनता की भावना समाप्त हो जाय'' इनके अलावे स्वामी विवेकानंद ने भी विश्वधर्म की परिकल्पना की और उसके अनुसार शांति, एकता और भाईचारा का संदेश दिया और भी कई महान व्यक्ति हुए जिन्होंने अपने अनुभव से वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया और इनके अनुरूप कुछ कर्मों का प्रावधान करके उसका अनुपालन अनिवार्य बताया। जैसे– महात्मा बुद्ध, महावीर जैन इत्यादि।

निष्कर्ष–यजुर्वेद के साथ श्रीमद्भगवत गीता में जितने भी मंत्र है, सभी लोक व्यवहार से संबंधित उपदेश से परिपूर्ण है। जैन दर्शन का पंचमहाव्रत, बौद्ध का अष्टांगिक मार्ग, वेदांत का साधन–चतुष्टय इत्यादि भी जनकल्याणकारी अवधारणा से ही प्रेरित है।[9]

स्वामी जगदीश्वरानंद जी ने चाणक्यनीतिदर्पण में कहा है – ''पुष्पे गन्धं तिले तैलं काष्ठेऽग्नि पयसि घृतमं। इक्षौ गुडं तथा देहे पश्याऽऽत्मानं विवेकतः।।'' अर्थात जैसे पुष्प में गंध, तिल में तेल, लकड़ी में अग्नि, दूध में घी तथा गन्ने में गुड़ सुप्त स्वरूप में रहते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के शरीर में सुप्त स्वरूप में स्थित परमात्मा को अपने विवेक बुद्धि द्वारा देखें। यहां चाणक्य भी कहना चाहते हैं कि प्रत्येक शरीर में एक ही परमात्मा का वास है, उसी को देखो। यदि सभी प्राणियों में हम परमात्मा का दर्शन करने लगेंगे तो फिर कोई भी भेदभाव कर ही नहीं पायेंगे। इस तरह स्वभावतः सबके लिए कल्याणकारी भावना व्यवहार में परिलक्षित होने लगेगी।[10]

हमें भी इससे प्रेरणा ले कर अपने जीवन को लोक कल्याण के लिए ही समर्पित कर देना चाहिए। यदि सभी लोग ऐसा ही सोचने लगे एवं इसको व्यवहार में उतार ले तो एक दूसरे का ख्याल रखने से सबका देखभाल हो जायेगा। फिर समाज में शांति व्यवस्था के लिए अलग से व्यवस्था नहीं करनी पड़ेगी। और यह होगा साधक के सतत अभ्यास से, जो क्रम दर क्रम नैतिक पथ पर अग्रसर होकर समाज के लिए दीपस्तंभ बन सकने में सहायक होगा।[11]

संदर्भ

1. डॉ. पुखराज जैन, राजनीति विज्ञान, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा 2003
2. जे. रैम्जे मैकडॉनल्ड, द अवेकनींग ऑफ इंडिया
3. डॉ. ए. पी. अवस्थी, भारतीय राजनीतिक विचारक, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 2002
4. तस्मादसक्तः सततं कार्य कर्म समाचर। असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरूषः।। गीता– 3/19
5. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।। गीता– 3/20
6. भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन – चंद्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली
7. ओ3म् वाजस्येमं प्रसवः सुशुवेऽग्रे सोमं राजानमोशधीश्वप्सु। ताऽअस्मभ्यं मधुमतीभवंतु वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा। यजुर्वेद 9:23
8. स्वामी जगदीश्वरानंद, चाणक्यनीतिदर्पण, सरस्वती प्रकाशन, विजयकुमार गोविंदराम हासानंद, नई सड़क दिल्ली 7/21
9. http://jagrayam.com/?p=21396
10. http://gurukulam.awgp.in/gurukulam/index/showarticle?id=17205
11. https://navbharattimes.indiatimes.com/india/vayam-rashtray-jagriyam-purohita-meaning-what-pm-modi-said-in-his-speach/articleshow/75134647.cms

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

सम्यक् श्रवण

डॉ. रेणु बाला *

इति सुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्वयाचचक्षिरे। (केनोपनिषद 1.4)

(ऐसा हमने अपने पूर्व के आचार्यों से सुना है जिन्होंने हमारे लिए उसका व्याख्यान किया था।)

वस्तुत श्रवण मात्रेण शुद्ध बुद्धि निराकुलः। (अष्टावक्र संहिता 18. 48)

(शुद्ध अंतःकरण वाले सत्य के श्रवण मात्र से ही परम शान्ति को प्राप्त हो जाते हैं)

भारतीय चिंतन–सरणी में श्रवण को अतिशय महत्व प्रदान किया गया है। वैदिक शिक्षण व्यवस्था में शिष्य जब हाथ में समिधा या भेंट लेकर (समित्पाणि) अपने गुरु के पास जाता था तो गुरु पहले उसके पात्रता की परीक्षा लेते थे कि जिस स्तर के ज्ञान हेतु शिष्य आश्रम में प्रवेश चाहता है उसके लिए अपेक्षित ग्रहणशीलता से युक्त है या नहीं। ग्रहणीयता की सर्वोत्तम कसौटी यह मानी जाती है कि अभ्यर्थी का चित्त इच्छित ज्ञान–ग्रहण के लिए अत्यांतिक और ऐकांतिक प्यास से युक्त है या नहीं। उसकी जिज्ञासा सिर्फ सूचना–संग्रहण की मानसिक खुजलाहट या कुतर्क–पोषक तो नहीं है। ऐसे सुपात्र को गुरु बोल कर सम्पूर्ण वेद और वेदांग की शिक्षा देते थे और शिष्य अपनी फोटोग्राफिक स्मरणशक्ति शक्ति के बल पर उसे पूर्वापर क्रम से हूबहू अक्षरशः याद रखते थे और पुनः अपने शिष्यों को बोल–बोल कर सम्पूर्ण वेद–वेदांग को हस्तांतरित करते थे। इसलिए प्राचीन उपनिषदों में हम अक्सर ऋषियों को कहते हुए पाते हैं कि "ऐसा हमने अपने पूर्ववर्ती लोगों से सुना है। (इति सुश्रुम पूर्वेषां) ज्ञान के संचरण की यह प्रक्रिया "सम्प्रदाय" कहलाती थी। और इसका मूल आधार सम्यक् श्रवण था।[1]

सम्यक् श्रवण का अर्थ है– पूर्वाग्रह रहित मन से होशपूर्वक, एकाग्र होकर सुनना, दत्तचित्त से सुनना, निर्विकार– निर्विचार मन से सुनना। (सुनहु तात मति

* *सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग, रामबृक्ष बेनीपुरी महिला महाविद्यालय मुजफ्फरपुर*

मन चित लाई)[2] वस्तुतः श्रवण तभी सम्पूर्ण होता है जब अंतः–संवाद–शून्यता की मनःस्थिति में श्रवण किया जाए। श्रोता को वक्ता के समक्ष शरीर से ही उपस्थित रहना पर्याप्त नहीं है बल्कि मानसिक रूप से भी उपस्थित होना चाहिए। Physically and mentally present- और भी, शारीरिक व मानसिक उपस्थिति ही पर्याप्त नहीं है बल्कि उसे श्रद्धा (गुरु वेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा) संवलित भी होना चाहिए।[3] इस शोध–पत्र में हमारा उद्देश्य वेदांत–दर्शन में सम्यक श्रवण के स्वरूप और इसके लिए अपेक्षित पात्रता की प्राप्ति के उपायों का समीक्षात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करना है।

वेदांत दर्शन का आधार प्रस्थान–त्रय है। प्रस्थान–त्रय में तीन मूलभूत शास्त्रों को परिगणित किया जाता है– उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र। उपनिषद् को श्रुति–प्रस्थान, श्रीमद्भगवद्गीता को स्मृति– प्रस्थान और वेदान्तसूत्र को न्याय–प्रस्थान कहा जाता है और तीनों को एक साथ मिलाकर प्रस्थान–त्रय कहा जाता है। वेदांत दर्शन में यह सुस्थापित सिद्धांत है कि उपनिषदों के सार को वेद व्यास ने श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद के माध्यम से उपस्थापित किया है । जहां श्री कृष्ण गुरु की भूमिका में हैं और अर्जुन मानव जाति के लिए शिष्य भाव का प्रतीक है।

बिना पात्रता के सम्यक श्रवण नहीं हो पाता और सम्यक श्रवण के अभाव में ज्ञान का प्रकटीकरण असंभव हो जाता है। महाभारत के दृष्टांत से इसे समझा जा सकता है। जिसमें महाभारत युद्ध के पूर्व भगवान श्री कृष्ण ने कम से कम तीन व्यक्तियों के प्रबोधन का प्रयास किया है– दुर्योधन को कौरवों की सभा में,तत्पश्चात हस्तिनापुर से लौटते समय कर्ण को रथ पर और महाभारत युद्ध आरम्भ के ठीक पहले अर्जुन को। दुर्योधन में रजोगुण की और अहंकार की पराकाष्ठा थी अतः उसमें शिष्य–वृत्ति पैदा नहीं हो सकी, वह श्री कृष्ण की बात सुनने के लिए भी तैयार नहीं हुआ। कर्ण में सात्विक गुणों की प्रधानता थी पर अपने सात्विक होने का सूक्ष्म अहंकार भी था। अतः सुन और समझकर भी वह शिष्य भाव को प्राप्त नहीं कर सका। दुर्योधन और कर्ण दोनों यह मानते थे कि उन्हें ज्ञान की कोई जरूरत ही नहीं है। इसलिए दुर्योधन ने सुनने से इनकार कर दिया और कर्ण ने शिष्टाचार वश सुना भी तो मानने से इनकार कर दिया क्योंकि उन दोनों में कृष्ण के प्रति श्रद्धा नहीं थी। पर अर्जुन दैवी–सम्पदा युक्त सात्विक वृत्ति वाला होने के कारण उच्च स्तर की ग्रहणशीलता से युक्त है।[4] शिष्य की श्रद्धा और ज्ञान के लिए जलती हुई एकनिष्ठ प्यास गुरु के करुणा रूपी मेघ को बरसने को बाध्य कर देती है और तब शिष्य चातक की भांति ज्ञान की एक–एक बूंद अमृत–भाव से ग्रहण करता है। श्रद्धा ही वह मौलिक आधार है जो गुरु के

चरणों में शिष्य को एक समर्पित कर देता है जहाँ ज्ञानामृत बरसता है और शिष्य का हृदय सम्यक् श्रवण से तृप्त होता है। श्रद्धा अगर पूर्ण हो तो शिष्य मन बुद्धि चित्त और अहंकार सब भूलकर (मन बुद्धि चित अहमिति बिसराई) गुरु के सानिध्य में बैठ जाता है और गुरु का मौन मे भी दिया गया व्याख्यान शिष्य के संशयों को क्षीण कर देता है। (गुरोस्तु मौन व्यख्यानं, शिष्यास्तु छिन्न संशयाः।)

वस्तुतः वासनाग्रस्त अंतःकरण, पूर्व मान्यताओं व कुतर्कों के मकड़जाल में उलझे मन में विचारों का आलोरण–विलोरण और परिणामदर्शी बुद्धि व्यक्ति से ज्ञान–ग्रहण की मौलिक पात्रता छीन लेती है। वह गुरु के श्रीमुख से प्रवाहित ज्ञान–गंगा में अवगाहन कर अंतः–वाह्य शुचिता के महान लाभ से वंचित रह जाता है।

सम्यक् श्रवण वह विशिष्ट प्रकार का श्रवण है जिसमें सुनने मात्र से ही तत्व का पूर्ण ज्ञान हो जाए। (वस्तु श्रवण मात्रेण शुद्ध बुद्धि निराकुलः)[5] सामान्य लौकिक व्यवहार में पहले वस्तु के बारे में सुनते हैं फिर उसके बारे में विचार–विमर्श करते हैं फिर जब सभी ज्ञात पक्ष–विपक्ष के विमर्श के उपरांत वस्तु का स्वरूप निश्चित होता है । पुनः उसकी प्राप्ति के लिए चेष्टा करनी पड़ती है। प्रयास सही रूप में, सही मात्रा में और सही दिशा में हो तो प्रयास में सफलता प्राप्त होती है और अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है।[6] अध्यात्म शास्त्र में अनुबंध चतुष्टय की चर्चा शास्त्र के आरंभ में स्पष्ट इंगित किए जाने परम्परा रही है। ये चार इस प्रकार है : 1. अधिकारी, 2. बिषय, 3., उद्देश्य और 4. साधन। पुनः पात्रता भेद से अधिकारी भी तीन प्रकार के बताए जाते हैं–1. उत्तम अधिकारी, 2. मध्यम अधिकारी और 3. मंद अधिकारी। अधिकारी भेद का आधार 'ज्ञान की पिपासा' है। अगर सिर्फ सूचनाएं एकत्र करने में रुचि है तो वह मंद अधिकारी होगा। जो सूचनाए एकत्र करने से तृप्त नहीं होता बल्कि उसके तार्किक विश्लेषण के द्वारा उसे बुद्धि की अंतिम सीमा तक समझने के लिए कटिबद्ध है वह मध्य अधिकारी हैं और जो बुद्धि ग्राह्य ज्ञान से तृप्त नहीं होता बल्कि बुद्धि द्वारा सुचिंतित ज्ञान को अनूभूत कर ही दम लेता है, जिसकी जिज्ञासा मुमुक्षा का रूप ले चुकी है वह प्रथम कोटि का या उत्तम अधिकारी हैं। बुद्धि द्वारा सुचिंतित ज्ञान स्थायी नहीं होता क्योंकि मन पक्ष और विपक्ष में नित नए–नए तर्क उपस्थापित कर सकता है। हजारों वर्षों से दार्शनिक विषयों पर शास्त्रार्थ और ज्ञान के नित्य निरंतर विकास का आधार बौद्धिक विश्लेषण ही है। दर्शनशास्त्र की तकनीकी शब्दावली में जो मन के द्वारा गहन तर्क–वितर्क करके तत्व को जानने में रत है वह मुनि कहलाता है। पर जिन्होंने अनुभूति के द्वारा तत्व का साक्षात्कार कर समस्त संशयों को क्षीण कर लिया है, हृदय की अज्ञान की ग्रंथि का क्षय कर लिया है, मन को शून्य कर दिया है और जो आत्मज्ञान में विश्राम पा चुके हैं वे ऋषि हैं

(निःसंशयो ऋषि)।[7] इसे ही ही ध्यान में रखकर वेदांत में ज्ञान प्राप्ति के अवस्थाओं के रूप में श्रुति, युक्ति और अनुभूति की स्थान दिया गया है। 'ब्रह्मसूत्र' में वादरायण ने 'शास्त्र योनित्वात्[8] के माध्यम से इसी तथ्य का निदर्शन किया है।

विद्या अनिवार्यः गुरुमुखी होती है। शास्त्रों से या ऑन–लाइन पढ़ने से सिर्फ तथ्यों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है और आरंभिक जानकारी ज्ञान नहीं है। आरंभिक जानकारी गहन जिज्ञासा की तरफ प्रेरित कर सकती है। और धीरे–धीरे हम ज्ञान प्राप्ति की पात्रता अर्जित करते है।

सम्यक् श्रवण को 'रामचरितमानस' सुन्दरकाण्ड[9] के हनुमान की लंका यात्रा से सही रूपक में समझा जा सकता है।

हनुमान गुरु रूप में हैं। वे लंका में मुख्यतया तीन लोगों को प्रबोधित करते हैं–पहले विभीषण, दूसरी सीता और तीसरे रावण। विभीषण सर्वोत्तम कोटि के श्रावक हैं। नीतिज्ञ हैं और प्रभु के भक्त भी हैं। अतः उनके द्वारा किया गया श्रवण सर्वोत्तम श्रवण है। इधर सुना नहीं कि उधर तत्क्षण ज्ञान प्रगट हो गया क्योंकि चित्त रूपी दर्पण एकदम पवित्र है, वासनाओं के गर्द–गुबार से ढका नहीं। हनुमान विभीषण का संवाद ऐसा लगता है कि दो दर्पण आमने–सामने रखा गया हो और दोनों एक दूसरे में प्रतिबिम्बित हो रहा हो। गंगा, यमुना की तरह भक्ति का महासंगम उतर आया हो। (एहि विधि कहत राम गुण ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य विश्रामा)[10] बिभीषण का श्रवण अष्टावक्र के शिष्य राजा जनक जैसा श्रवण है। सुनते ही ज्ञान घटित हो गया, मानो पक्षी उड़ने के लिए तैयार ही बैठा था। किसी अन्य ज्ञान, कर्म या भक्ति या योग, ध्यान–साधन की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। चित्त रूपी लकड़ी में वासना रूपी गीलेपन का लेश मात्र भी नहीं था। इतनी सूखी लकड़ी कि चिनगारी देखते ही धधक उठी। इतना सजग घोड़ा कि इशारा पाते ही दौड़ पड़ा। शास्त्रकार विभीषण के माध्यम से प्रथम कोटि के श्रवण का प्रवर्तन करते हैं। अगर जिज्ञासु प्रथम कोटि का श्रावक है तब वह समझो ज्ञान में ही है। वह एक हल्की सी प्रेरणा पाये और ज्ञान प्रगट हो जाए। उत्तम श्रोता के लक्षण गिनाते हुए तुलसीदास कहते हैं कि उत्तम श्रोता वहीं है जिसकी बुद्धि शुद्ध हो, यानि मति कुतर्क में रस लेने वाली न हो सुशील हो, शीलवंत हो, अर्थात् किसी भी स्थिति में नैतिक और सामाजिक नियमों का व्यतिरेक न करें। शुचि हो, अंतर बाह्य से पवित्र हो, मनसा वाचा कर्मणा एक हो (मनस्यैकं वचस्यैकं कर्मस्यैकम्), स्वयं तथा दूसरे को किसी को हानि पहुंचाने की हिंसक भावना से रहित होना ही वास्तविक शुचिता है। कथा यानि प्रतिपादित विषय का रसिक हो और अंततः, परमात्म परायण भी हो, अर्थात् हरि दास हो।

(श्रोता सुमति सुशील शुचि, कथा रसिक हरिदास,)[11]

वस्तुतः ज्ञान और धर्म का तत्व गूढ़ है अतः:इसके सम्यक प्रतिपादन के लिए वक्ता के साथ साथ श्रोता को भी ज्ञाननिधि होना चाहिए तभी वह सम्यक् श्रवण कर सकता है। पुनः श्रोता के स्तर भेद से एक ही ज्ञान–तत्व का प्रतिपादन तदनुरूप भिन्न–भिन्न फल देता है।

सुनहि विमुक्त विरत अरु बिसई। लहहि भगति गति संपति नई।[12]

यदि व्यक्ति प्रथम कोटि का सम्यक् श्रावक न हो सके तब दूसरी कोटि के श्रवण का उदाहरण सीता के माध्यम से देते हैं। हनुमान ने जब प्रभु का संदेश सुनाया तो सीता एकदम संदेह में पड़ गई। जब हनुमान रूपी गुरु ने बार बार समझाया और "मै प्रभु श्रीराम का भेजा गया दूत हूं "– ऐसा तर्क से, युक्ति से सिद्ध कर दिया और प्रमाण दिया तब सीता को भरोसा हुआ। श्रवण की अंतिम परिणति गुरु और प्रतिपाद्य विषय के प्रति सात्विक श्रद्धा के उदय में होती है और श्रद्धा के उदय होते ही ज्ञान तत्काल प्रकट हो जाता है।

तीसरे प्रकार का श्रवण रावण के द्वारा किया गया। हनुमान को जब नागफांस में बांध कर लंका के राजदरबार में राजा रावण के सामने उपस्थित किया गया तब हनुमान ने बहुत प्रकार से रावण को प्रबोधित करने का प्रयास किया पर रावण पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उलटे उसने अहंकार के कारण हनुमान का ही अपमान करने का प्रयास किया जैसा कि कौरवों की सभा में दुर्योधन ने कृष्ण के साथ किया था। यह काम क्रोध लोभ और तीव्र अहंकार युक्त राजस श्रावक है। अहंकार की प्रबलता व्यक्ति की बुद्धि को उलटे हुए पात्र की भांति बना देती है जिसमें ज्ञानामृत की कितनी ही बर्षा हो पर एक बूंद भी जल नहीं टिक पाता।

फूलै फरै न बेंत,जदपि सुधा बरसहि जलद। मुरख हृदय न चेत जौं गुरु मिलै बिरंचि सम।[13]

वस्तुतः अज्ञानी के हृदय में अपने अज्ञान के कारण एक ग्लानि का भाव होता है। वह सोचता है कि इतने बड़े गुरु के सानिध्य में रहकर भी मैं ज्ञान से वंचित रह गया। एक पश्चाताप का भाव होता है जो एक प्रकार की विनम्रता को जन्म देता है। तब वह गुरु के पास बैठकर उनके प्रदत्त ज्ञान को सुनने और समझने की चेष्टा करता है। जो विज्ञ होते हैं वे सरल वृत्ति के होते हैं, अहंकार रहित मन वाले। उनकी जिज्ञासा पिपासा बन जाती है और वे ही सम्यक् श्रवण के योग्य होते हैं। पर जो वैसे लोग हैं जिनका शब्दों से प्राप्त जानकारी या सूचनाओं का बड़ा संग्रह होता है और उसे ही ज्ञान समझ कर स्वयं को महाज्ञानी समझने के अहंकार भ्रम में डूबे रहते हैं वे वस्तुतः अज्ञानियों से भी बड़े अज्ञानी हैं। क्योंकि सूचनाओं को ज्ञान समझकर वे आगे कुछ भी श्रवण करने को तैयार नहीं होते।

उपनिषद कहते हैं कि अज्ञानी जहाँ अंधकार में भटकता है वहीं ऐसे तथाकथित ज्ञानी महा अंधकार में भटकते हैं।[14] ऐसे लोगों को प्रबोधित करना असंभव हो जाता है जैसा कि हमने रावण और दुर्योधन की स्थिति में देखा है।

सुखं अराध्यते अज्ञः सुखतरं अराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञान लव दुर्विग्धं तं नरं ब्रह्मापि न रंजयति।।[15]

श्रावक की पात्रता के भेद से सुना गया ज्ञान भी भिन्न भिन्न फल देता है जैसे स्वाति के जल का एक बूंद सीपी के मुख में पड़ने से मोती, केला में पड़ने से कपूर और सर्प के मुंह में पड़ने से विष बन जाता है। लेकिन जो श्रावक गुरु के चरणों में प्रीति रखकर अनुराग के साथ श्रद्धा –विश्वास से निरन्तर गुरु और शास्त्र के उपदेश का श्रवण करते रहते हैं, उसके चित्त की जड़ता मिटती जाती है। सारे कषाय –कल्मष धुल जाते हैं और एक दिन वह व्यक्ति साधु की तरह पावन हो अखंड ज्ञान, वैराग्य में स्थित हो जाता है।

जे यह कथहि स्नेह समेता पढियहि, सुनियहि समुझि सचेता।
होइहै राम चरण अनुरागी ,कलिमल रहित सुमंगल भागी।[16]

उत्तम श्रोता वही है जो एक बार सुन ले तो ज्ञान हो जाने पर भी मन में सतत् अतृप्ति की प्यास छोड़ दें। यहां तक कि सत्य के लिए प्यास दिनानुदिन बढ़ती जाए। (पिव पिव लागी प्यास)। भक्ति वेदांत में इस तरह के श्रवण को आत्यंतिक रूप से महत्वपूर्ण माना गया है। इसे पृथुराज के दृष्टांत से दर्शाया गया है जिनके बारे में प्रचलित है कि उन्होंने प्रभु के नाम और चरित्र का श्रवण करने के लिए दस हजार कान वरदान में मांगे थे। तुलसीदास इसकी तरफ संकेत करते हुए कहते हैं–

"राम चरित जे सुनते अघाहि, रस विशेष जाना तिन्ह नाहि।
जिनके श्रवण समुद्र समाना कथा तुम्हारी सुभाष हरि नाना।
हरि निरंतर मोहि न पूरे, जिन्हें गृह तुमरे गृह रुरे।"[17]

वस्तुतः ज्ञानी अप्रमाद भाव से सुनता है और भक्त प्रसाद भाव से सुनता है। ज्ञानी चित्त वाला व्यक्ति होशपूर्ण होकर सुनता है, जगत के प्रति ,भूत–भविष्य के प्रति शून्य मन से सुनता है। भक्त चित्त का व्यक्ति प्रभु के प्रेम की खुमारी में मीरा की भांति इतना तल्लीन रहता है कि उस तन्मयता में अतीत भविष्य की चिंता और जगत का ध्यान कब विलुप्त हो जाता है कि उसे पता ही नहीं। वह गुरु और शास्त्र के वचनों को अमृत समझकर प्रसाद भाव से पीते जाता है।

नवधा भक्ति का मूल या प्रथम चरण है श्रवण। वही अपनी प्रौढावस्था में सायुज्य, सालोक्य आदि में पर्यवसित होता है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णो समर्थन पादसेवनम्[18]

श्रवण करते करते मुक्त हो जाने के उदाहरण राजा परीक्षित हैं। अनन्य भाव से सदा अतृप्त मन से प्रभु के चरित्र, कथा नाम शक्ति लीला आदि का अतिशय श्रद्धा पूर्वक श्रवण को सम्यक् श्रवण कहा है। अब प्रश्न उठता है कि सम्यक् श्रवण कैसे हो?

यदि मन इच्छा से भरा हो तो वैसा मन सम्यक श्रवण नहीं कर सकता। इच्छा भविष्य में ले जाती है, जबकि हमारा अस्तित्व सतत् बर्तमान में होता है।

मूढ़ / क्षिप्त / विक्षिप्त मन सम्यक् श्रवण के लिए सबसे बड़ी बाधा है। मन का विकार युक्त या विचारों में उलझा होना श्रवण को समग्र नहीं होने देता। मैं वक्ता से ज्यादा जानता हूं या वक्ता जो बोल रहा है वह हमारी मूल अवधारणा से मेल नहीं खाता। अतः श्रोता श्रवण में रस नहीं लेता। पूर्व मान्यताओं से ग्रसित मन उलटे हुए पात्र की तरह है जहां कोई ज्ञान–जल नहीं ठहरता। ऐसी आधी अधूरी मनोवृत्ति से अगर ज्ञान सुना भी जाए तो वह निष्फल हो जाता है। अष्टावक्र कहते हैं कि मंद मति वाले श्रोता ज्ञान का बारंबार श्रवण करने पर भी अपनी मूढता का त्याग नहीं कर पाता।

मंदः श्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढताम्। निर्विकल्पो बहिर्यत्नः अंतर्विषयलालसः।[19]

ज्ञेय विषय के प्रति एक जलती हुई प्यास और गुरु के प्रति अविचल श्रद्धा,ज्ञान प्राप्ति के लिए समस्त इन्द्रियों को वापस बुला कर ऐकांतिक भाव से ज्ञेय का चिंतन ही जब जीवन का एकमात्र उद्देश्य रह जाए, उसके बिना जीवन व्यर्थ लगने लगे तभी सम्यक् श्रवण की स्थिति आती है। (श्रद्धा वान लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ऐकांतिक प्यास ही व्यक्ति को सम्यक् श्रावक बनाता है जहाँ ज्ञान की सुधावृष्टि की एक एक बूंद का पान श्रावक चातकवृत्ति से करता है। यही वह क्षण है जब गुरु शिष्य के हृदय में आध्यत्मिकता का बीज– वपन करता है जिसकी अंतिम परिणति ब्रह्मज्ञान या आत्मानुभूति है। श्रवण जितना ही सम्यक् होगा ज्ञान उतना ही शीघ्रता से प्रकट होगा। यदि श्रवण पूर्ण श्रद्धा के साथ होता है तब ज्ञान तत्क्षण प्रकट हो जाता है– यही वेदांत दर्शन का सुस्थापित सिद्धांत है। इस तथ्य की पुष्टि गीता के अंत में भगवान कृष्ण के अंतिम वाक्य से होती है। वे सम्पूर्ण उपदेश करने के उपरांत अर्जुन से पूछते हैं कि क्या तुमने एकनिष्ठ भाव से इसका श्रवण किया क्योंकि एकाग्रता के साथ (सम्यक) श्रवण किए बिना अज्ञानजनित मोह नष्ट नहीं होता और परम तत्व की सम्यक् स्मृति प्राप्त नहीं होती। वस्तुतः वेद व्यास का दृढ मत है कि श्रद्धावान और दोष दृष्टि से रहित जो मनुष्य इस शास्त्र का श्रवण करते हैं वे ह के लोक को सहज ही प्राप्त कर लेते हैं। भाव यह है कि जो व्यक्ति पूर्ण श्रद्धा और अनन्य भक्ति के साथ अर्जुन की भाति सर्वभावेन श्रवण करते हैं वे भी अर्जुन की तरह

तत्काल सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो संशय रहित हो जाते हैं और परमात्मभाव में स्थित हो लोकमंगलकारी कर्म में निरत हो जाते हैं। जो सम्यक् श्रवण का आत्यंतिक लक्ष्य है।[20]

संदर्भ

1. करपात्री स्वामीः वेदार्थ पारिजात, पृष्ठ 136
2. तुलसीदास : रामचरितमानस, आरण्य कांड,14.1
3. अथ्वरीन्द्र धर्मराज : वेदांत परिभाषा, अध्याय 8
4. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 16' श्लोक 5
5. अष्टावक्र संहिता, अध्याय 16, श्लोक 5
6. वृहदारण्यक उपनिषद् 4.5.6
7. मुण्डकोपनिषद् 2.2.8
8. 'शास्त्र योनित्वात', ब्रह्मसूत्र, 1.1.3
9. तुलसीदास : रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड दोहा 5
10. वही, दोहा 7.2
11. तुलसीदास, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा 69
12. सुनहि विमुक्त विरत अरु विषई। लहहि भगति गति संपति नई।। वही 14. 8
13. फूलै फरै न बेंत जदपि सुधा बरसहिं जलद।
    मुरख हृदय न चेत जौं गुरु मिलहिं बिरंचि सम। वही लंकाकांड,सोरठा,16ब
14. अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामनुपासते।
    ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायांरताः।। ईशावास्योपनिषद् 9
15. भर्तृहरि : नीतिशतकम्, 3
16. तुलसीदास : रामचरितमानस, अयोध्या कांड, दोहा 127, चौपाई 4–5
17. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवणम्।
    अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।श्री पाद जीव गोस्वामि कृत क्रमसंदर्भ विवृत नवधाभक्ति, 23
18. श्रुत्वापि तद्वस्तु न बप विमूढताम्। निर्विकल्पो बहिर्यत्नः अंतर्विषयलालसः। (अष्टावक्र संहिता 18/78)
19. श्रद्धावान लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। गीता, अ. 4, श्लोक 39
20. श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः
    सोपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्। गीता 18/71

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

बौद्ध महायान, भागवद्गीता एवं मध्यकालीन साधना : एक अवलोकन

कमलेश कुमार सिंह *

बौद्ध महायान, भगवद्गीता एवं मध्यकालीन साधना

बौद्ध धर्म का उदय सांसारिक दुःखों को कम करने सामाजिक जटिलताओं जैसे जाति प्रथा, छुआछूत तथा पशु हिंसा आदि को समाप्त करने के उद्देश्य से हुआ। प्रायः यह कहा जाता है कि मूल बौद्व दर्शन में भक्ति एवं साधना के तत्व विद्यामान नहीं थे लेकिन यह बात सत्य प्रतीत नहीं होता। चार आर्य सत्य एवं अष्टांगिक मार्ग गौतम बुद्ध द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत था जो पूरी तरह साधना (अभ्यास) पर ही आधारित है। भक्ति का सूक्ष्मतर रूप यही साधना है। हाँ यह अवश्य है कि महायान सम्प्रदाय में बोधिसत्व सिद्धान्त एवं उपदेशक के प्रति आस्था–भाव ने भी बुद्ध के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया और मानव हृदय से युक्त भक्तों में बुद्ध अतिमानवीय गुणों से ओत–प्रोत होने लगे। बुद्ध का चरित्र चमत्कारों से अनुप्राणित हो उठा। पालि साहित्य एवं महावस्तु में भी तथागत को अतिमानव के रूप में चित्रित किया गया है। कालान्तर में लोकोत्तरवादियों का एक सम्प्रदाय अस्तित्व में आया जो हीनयान एवं महायान के बीच सेतु कहा जा सकता है। इस प्रकार बुद्ध का व्यक्तित्व ही ऐसा था जिसमें शास्ता, ज्ञान, ब्रह्म आदि सभी तत्व थे जो अनेक प्रति पूज्य भावना एवं भक्ति के उदय का कारण बना।[1]

बौद्ध महायान साधना एवं भगवद्गीता

बोध–एवं ज्ञान : आचार्य शंकराचार्य के अुनसार गीता ज्ञान मार्ग का ग्रन्थ है। जहाँ तक बौद्ध दर्शन के साथ गीता दर्शन के सम्बन्ध का प्रश्न है तो दोनों

** सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग, बी.एम.डी. महाविद्यालय, दयालपुर (वैशाली)*

दर्शन में मुक्ति हेतु ज्ञान या बोध को ही प्रश्रय दिया गया है। बौद्ध दर्शन मुख्य रूप से बोध मार्ग है और ज्ञान (बोध) मार्ग द्वारा ही दुःखों से मुक्ति का मार्ग बतलाता है। चाहे वह आष्टांगिक मार्ग का ज्ञान हो या चार आर्य सत्यों का ज्ञान हो या बुद्ध, धम्म एवं संघ रूपी त्रिरत्न का बोध हो। इन बोध या ज्ञान के अर्जन से ही दुःखों के आत्यन्तिक क्षय की बात बताई गई है। इसी प्रकार गीता में कहा गया है कि यह ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव में आने योग्य, अभ्यास करने में सुगम और अविनाशी है।[2] इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कितने ही काल से कर्म योग के द्वारा शुद्ध अन्तःकरण हुआ स्वयं ही मुक्ति पा लेता है।[3] यही बात बौद्ध धर्म में कहा गया है कि '' मागन्दिय! जब तू सद्धर्म के अनुसार आचरण करेगा तो स्वयं ही जानेगा, स्वयं ही देखेगा।[4] महात्मा गाँधी ने भी गीता को 'श्रीकृष्ण का अर्जुन को दिया हुआ बोध' कहा है।[5]

मध्यम मार्ग एवं समत्व योग

बौद्ध धर्म का प्राण मध्यम मार्ग है जो गीता में भी अत्यंत प्रतिष्ठित है। आत्मपीड़ा एवं भोगवाद की अतियां जिस प्रकार बौद्ध साधना त्याज्य है, उसी प्रकार गीता में भी उन्हें श्रेय का मार्ग नहीं माना गया है। भगवान कृष्ण ने गीता में स्वयं कहा है– हे धनंजय! तू आसक्ति को त्यागकर सिद्धि असिद्धि में समान भाव रखकर कर्तव्य कर, समत्व ही योग कहलाता है।[6] पुनः भगवान कृष्ण कहते है–हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खाने वाले का न बिल्कुल नहीं खाने वाले का, न बहुत शयन करने वाले का और न सदा जागने वाले का ही सिद्ध होता है। दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथा योग्य आहार–विहार करने वाले, यथायोग्य कर्मों में चेष्टा करने वाले एवं यथायोग्य सोने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।[7] भगवान बुद्ध के प्रथम प्रवचन का जो उन्होंने सारनाथ में धर्मचक्रप्रवर्तन में दिया था जिसका सार वस्तुतः यही है। तथागत के द्वारा अभिज्ञात मध्यमा प्रतिपदा निश्चयतः चक्षु देने वाली, ज्ञान पैदा करने वाली, शांति, ज्ञान, बोध और निर्वाण को प्राप्त कराने वाली है।[8] भगवान कृष्ण और बुद्ध का यह समान अभिप्राय जीवन–साधकों के लिए एक मार्गदर्शक का कार्य करता है।

कर्म एवं पुरूषार्थ की महत्ता

गीता मे जिस प्रकार कर्म और पुरूषार्थ पर बल दिया गया है उसी प्रकार भगवान बुद्ध भी कर्म पर बल देते हैं। निर्वाण प्राप्ति के लिए अष्टांगिक मार्ग में सम्यक कर्मान्त अर्थात सम्यक संकल्प के अनुसार कर्म का नियमन करने की बात की गई है।[9] उसी प्रकार गीता में कहा गया है कि तेरा कर्म करने में ही अधिकार

है, उसके फलों में कभी नहीं। इसलिए तू कर्मों के फल का हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो।[10]

आत्म की महत्ता

भगवान बुद्ध ने 'आत्मदीपो भव' अर्थात अपना दीपक स्वयं बनो कहा है। बुद्ध ने आत्मशरण का भी उपदेश दिया है। भगवान बुद्ध के समान गीता में भी भगवान कृष्ण ने कहा है कि अपने द्वारा अपना संसार–समुद्र से उद्धार करे और अपने को अधोगति में न डाले, क्योंकि यह मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र एवं शत्रु है।[11]

बौद्ध महायान साधना और मध्ययुगीन साधना

विकास क्रम या यात्रा : भारत में मध्ययुगीन भक्ति का काल हम सामान्यतया 12वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी तक मानते हैं। उत्तर भारत में सगुण एवं निर्गुण भक्ति दक्षिण भारत में वैष्णव वेदान्त भक्ति और बंगाल में प्रेम रूपा भक्ति या श्रृंगारिक रहस्यवाद इन तीन धाराओं में भक्ति आन्दोलन पूरे भारत में अस्तित्ववान रहा। मध्ययुगीन भक्ति साधना के विकास क्रम पर सूक्ष्म रूप से ध्यान दें तो ऐसा लगता है कि दक्षिण से भक्ति पूर्वी भारत में गई और आगे पूर्वी भारत से उत्तर भारत में विकसित एवं समृद्ध हुआ।

यहाँ हम मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन को श्रुति–स्मृति, वेद, उपनिषद, पुराण, भगवद्गीता और रामानुज, रामानन्द, बल्लभाचार्य आदि आचार्यों की परम्परा से जोड़ते हैं। इस परम्परा के अतिरिक्त दूसरा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पक्ष भी है – प्राचीन भारतीय साधना से जोड़ने का और वह है महायान बौद्ध साधना के साथ उसका सम्बन्ध। गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के 100 साल बाद द्वितीय बौद्ध महासंगीति वैशाली में आयोजित हुई जिसमें मूल बौद्ध धर्म का विभाजन हीनयान एवं महायान दो सम्प्रदायों के रूप में हुआ। वस्तुतः सम्राट अशोक एवं कनिष्क के काल में आयोजित तृतीय एवं चतुर्थ बौद्ध महासंगीतियों ने महायान के विकास एवं अभ्युदय में अग्रणी भूमिका निभायी। महायान बौद्ध धर्म के विकास क्रम का सूक्ष्म रूप से हम अवलोकन करें तो पाते हैं कि मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन के समान ही महायान का उदय दक्षिण भारत (आन्ध्रप्रदेश के गुन्टूर जिला) में हुआ जहां महासांघिको का प्रभाव अधिक था।[12] परन्तु महायान का विकास मुख्यतः पूर्वी भारत में हुआ जहाँ सर्वास्तिवादियों की प्रमुखता थी। पूर्वी भारत में विकसित होने के बाद महायान का आगमन उत्तर भारत में हुआ जहाँ इसे समृद्धि प्राप्त हुई। संपूर्ण प्रज्ञापारमिताओं में कहा गया है कि महायान धर्म की उत्पति दक्षिणापथ में होगी और वहाँ से वह पूर्वी देशों में फैलेगा एवं उत्तरी भारत में विशेष रूप से समृद्ध होगा।[13]

बौद्ध महायान साधना का मध्ययुगीन साधना में रूपान्तरण

बौद्ध धर्म की भस्म पर मध्ययुगीन भक्ति–साधना का आरोहण हुआ। सातवीं एवं आठवीं शताब्दी में जब पौराणिक धर्म का पुनर्गठन हो रहा था और वर्ण धर्म के रूप में जाति–भेद की नींव पुनः दृढ़ हो रही थी, तब महायान के विरति (वैराग्य) एवं विवेक सम्बन्धी तत्वों को शैव सम्प्रदाय ने और मानवीय एवं भक्ति सम्बन्धी तत्वों को वैष्णवों ने महायानी बौद्ध साधकों से ग्रहण किया।[14] इस प्रकार हम देखते हैं कि शैव एवं वैष्णव ने मिलकर बौद्ध धर्म के कई सिद्धान्तों के ऊपर खुद को प्रतिष्ठापित कर दिया। उपनिषद एवं पुराणों में वर्णित शिव और महायान बौद्ध धर्म के ध्यानी बुद्ध में नाम–मात्र का ही अन्तर जान पड़ता है। नेपाल में जब बौद्ध एवं शैव साधनाएँ साथ–साथ चल रही थी तो शिव एवं ध्यानी बुद्ध का समन्वय अद्‌भुत ढंग से हुआ। नेपाल में उस युग की अनेक मूर्तियों को देखकर हम निर्णय नहीं कर सकते हैं कि वे शिव की हैं या बुद्ध की। इसी समन्वय एवं एकात्मता के कारण बौद्ध मठ एवं बिहार कालान्तर में शैव मत के गिरि सम्प्रदाय के साधुओं के अधीन हो गये जिनका बौद्ध श्रमणों से नाम–मात्र का भेद था। महायान का शैव एवं वैष्णव में रूपान्तरण अत्यन्त अदृश्य ढंग से हो गया। मत्स्यपुराण में भगवान बुद्ध की स्तुति विष्णु के अवतार के रूप में की गई है जिसे बाद के वैष्णव खासकर तुलसीदास ने इसी रूप में स्वीकार किया है। उस समय के पूर्व तक बौद्ध श्रमण संघ बड़े आकार में था लेकिन कालान्तर में मध्ययुगीन भक्ति साधना में अन्तर्निहित हो गया एवं बुद्ध विष्णु रूप में समा गये। पूर्वी भारत स्थित उड़ीसा में जगन्नाथ, बलराम एवं सुभद्रा की रथ यात्रा क्या है ? यह वास्तव में बोधिसत्वों से घिरे हुए बुद्ध की रथ–यात्रा का वैष्णव रूपान्तर ही था जिसे भारत यात्रा पर आए चीनी यात्री फाह्यान ने पाँचवी शताब्दी में देखा था।[15] दुःखी प्राणियों के साथ तादात्म्य भावना की अभिव्यक्ति महायानी साधना पद्धति की आधारभूमि है। इसका वर्णन बौद्ध भक्त कवि शान्तिदेव ने भी की है। इसी तादात्म्य भावना के आधार पर वैष्णव धर्म में दरिद्र–नारायण की कल्पना का विकास हुआ।

मायावाद एवं अवतारवाद का सिद्धान्त

महायान में बुद्ध के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को उनका 'निर्माण–काय' कहा गया है जिसे वे नाना लोक में विश्व कल्याण हेतु धारण करते हैं। उसी प्रकार विष्णु के भी माया का आश्रय लेकर विभिन्न अवतारों के माध्यम से लोक कल्याण की बात वैष्णव साधना में कही गई है। मायावाद एवं अवतारवाद का सिद्धान्त पहले बौद्ध दर्शन में ही प्रकट हुआ। यह आश्चर्यजनक होते हुए भी ऐतिहासिक तथ्य है।[16]

निर्गुण एवं सगुण रूप

तथागत जो स्वयं निःस्वभाव (निर्गुण) और धर्मता स्वरूप (धर्मकाय) हैं। लोक कल्याण के लिए माया निर्मित रूप गौतम बुद्ध आदि अनेक बोधिसत्वों के रूप में धारण करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक तथागत धर्म–शून्य निर्गुण निराकार हैं और उनके मायाश्रित रूप या अवतार रूपकाय गौतम बुद्ध एवं बोधिसत्व सगुण रूप में हैं। यह भेद वैष्णव भक्ति के निर्गुण–सगुण रूपों के अस्तित्व में आने के शताब्दियों पूर्व महायान ने कर दिया था। जिस प्रकार एक ओर राम एक, अनादि, अनन्त, अरूप, सच्चिदानन्द परमार्थ रूप हैं वहीं दूसरी ओर दशरथ पुत्र कौशल्या के गोद में खेलने वाले एवं लोक मर्यादा स्थापित करने वाले पुरूषोत्तम हैं। यही बात इस वर्गीकरण के पूर्व तथागत के संबंध में शताब्दियों पूर्व कह दी गई थी। वस्तुतः तथागत तो धर्मशून्य, स्वभावशून्य एवं तथतास्वरूप हैं। इस लोक में जो गौतम बुद्ध दिखाई पड़ते हैं वह उनकी छाया मात्र हैं। जैसे कबीर ने कहा था कि हम उस राम को नहीं मानते जो दशरथ के घर पैदा हुए थे एवं धनुष तोड़कर सीता से विवाह किए थें। इसी प्रकार महायानी आचार्यों ने कहा था कि हम उस बुद्ध को नहीं मानते जिसने शुद्धोदन के घर जन्म लिया था, जिनका विवाह यशोधरा से हुआ था, जिसने तपस्या की एवं ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति की निर्गुण एवं सगुण धाराएँ अपने पूर्ण रूप में तथागत के व्यक्तित्व में अभिव्यक्ति प्राप्त कर चुकी थी।[17] इतिहासकार यदुनाथ सरकार ने लिखा है कि मध्य युग के एक उड़िया कवि ने भगवान जगन्नाथ की स्तुति में 'दारू ब्रह्म' नामक कविता लिखी है जिसमें भगवान जगन्नाथ की स्तुति बुद्ध रूप में की है। इस कविता में कवि ने जगन्नाथ भगवान को यह कहते हुए दिखाया है कि मैं बुद्धावतार हूँ। मैं कलियुग में जीवों का उद्धार करूँगा।[18] वस्तुतः यह ऐतिहासिक तथ्य है कि भगवान जगन्नाथ की मूर्ति पहले बुद्ध मूर्ति ही थी। यही बात बदरिकाश्रम मूर्ति के सम्बन्ध में भी कही जाती है। सारनाथ के समीप शिव की एक प्राचीन मूर्ति शिव संघेश्वर अर्थात् संघ के स्वामी शिव के नाम से प्रसिद्ध है। यह मूर्ति भी बौद्ध धर्म के शैव धर्म में समाहित हो जाने की कहानी को गुप्त रूप से बताती है। शैव तान्त्रिक साधना पद्धति के माध्यम से भी बौद्ध धर्म बड़ी आसानी से हिन्दू धर्म में समाविष्ट हो गया। यह कार्य पूर्वी बंगाल एवं असम में प्रमुखता से हुआ। बौद्ध तान्त्रिक धर्म की तारा और शैवों की शक्ति में कोई अन्तर नहीं है।

संदर्भ

1. महाअवदान सुत्त, लक्खन सुत्त (उद्धृत), हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, भाग–2, पृष्ठ–42
2. भगवद्गीता– 9/2
3. भगवद्गीता– 4/38
4. मज्झिमनिकाय– 2/3/5
5. गीता–बोध, पृष्ठ– 4
6. भगवद्गीता– 2/48
7. भगवद्गीता– 6/16–17
8. घम्मचक्कपवत्तनसुत (संयुक्त निकाय)
9. भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, राममूर्ति पाठक, पृष्ठ– 22, 1997
10. भगवद्गीता– 2/47
11. भगवद्गीता– 6/5
12. एस्पेक्ट्स ऑफ महायान बुद्धिज्म, नलिनाक्ष दत्त, पृष्ठ–23
13. एस्पेक्ट्स ऑफ महायान बुद्धिज्म, नलिनाक्ष दत्त, पृष्ठ–41
14. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भरत सिंह उपाध्याय, पृष्ठ–1051, 2017
15. इंडिया थ्रू द एजेज, यदुनाथ सरकार, पृष्ठ– 231–33
16. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भरत सिंह उपाध्याय, पृष्ठ–1052, 2017,
17. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भरत सिंह उपाध्याय, पृष्ठ–1052, 2017,
18. इंडिया थ्रू द एजेज, यदुनाथ सरकार पृष्ठ–33

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

भारतीय ज्ञान–परम्परा के मूलभूत अर्थसन्दर्भ

डॉ. राम नारायण मिश्र *

भारतीय सभ्यता और संस्कृति भी दुनिया की प्रचीनतम, समृद्धतम और अद्यतन सभ्यता और संस्कृति है। इसकी निरन्तरता का शानी तो दुनिया की और कोई सभ्यता और संस्कृति है ही नहीं। अतःयह तो स्वाभाविक है कि इसके अपने सुदीर्घ जीवन काल में उन सभी प्रकार के ज्ञान–विज्ञान, कला और कौशल परक अनुशासनों का न्यूनाधिक विकास हुआ ही होगा जो इसे अब तक तमाम उतार चढ़ाव के बावजूद धारण किये हुए हैं। वास्तव में जब हम भारतीय ज्ञान–परम्परा की बात करते हैं तो उसका आशय उन सभी प्रकार के ज्ञानात्मक उपक्रमों से है जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति की गतिशीलता को एक विशेष प्रकार की विश्व दृष्टि की ओर उन्मुख किये रही है।

भारतीय ज्ञान–परम्परा का भौगोलिक मानचित्र हमारे यहां विष्णु पुराण में कहा गया है–

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चौव दक्षिणम्।
वर्ष तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।

नवयोजनसाहस्त्रो विस्तारोऽस्य महामुने।
कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम्।।

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः।।

अतः सम्प्राप्यते स्वर्गो मुक्तिमस्मात्प्रयान्ति वै।
तिर्यक्त्वं नरकं चापि यान्त्यतः पुरुषा मुने।।

* *असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, एस. बी. कॉलेज, आरा (वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा)*

इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यं चान्तश्च गम्यते।
न खल्वन्यत्र मर्त्यानां कर्म भूमौ विधीयते।।[1]

यानि जो समुद्र के उत्तर तथा हिमालयके दक्षिणमें स्थित है वह देश भारतवर्ष कहलाता है। उसमें भरत की सन्तान बसी हुई है इसका विस्तार नौ हजार योजन है। यह स्वर्ग और अपवर्ग प्राप्त करनेवालों की ''कर्मभूमि है इसमें महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र–ये सात कुलपर्वत हैं। इसी देश में मनुष्य शुभ कर्मों द्वारा स्वर्ग अथवा मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं और यहीं से पाप–कर्मों में प्रवृत्त होने पर वे नरक अथवा तिर्यग्योनि में पड़ते हैं यहीं से (कर्मानुसार) स्वर्ग, मोक्ष, अन्तरिक्ष अथवा पाताल आदि लोकों को प्राप्त किया जा सकता है, पृथिवी में यहाँ के सिवा और कहीं भी मनुष्य के लिये कर्म की विधि नहीं है। भारतीय ज्ञान–परम्परा का भूगोल वाची अर्थ में हिन्दूज्ञान– परम्परा भी कहते हैं। 'बृहस्पति आगम' के अनुसार–

हिमालयात् समारभ्य यावत् इन्दु सरोवरम्।
तं देवनिर्मितं देशं हिन्दुस्थानं प्रचक्षते।।[2]

यानि हिमालय से प्रारम्भ होकर इन्दु सरोवर (हिन्द महासागर) तक यह देव निर्मित देश हिन्दुस्थान कहलाता है। यह सिन्धु नदी के उस पार के परिक्षेत्र में रहने वाले निवासियों की ज्ञान–परम्परा और उनकी भौगोलिक एकता की वाचक ज्ञानपरम्परा है। आर्यावर्त पूर्वी समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र तक और हिमालय से लेकर विन्ध्याचल तक के परिक्षेत्र को कहा जाता है परन्तु हिन्दुस्तान की दक्षिणी सीमा विध्य पर्वत से आगे कन्याकुमारी तक जाती है। इस व्यापक भूभाग की सभ्यता और संस्कृति के पीछे जिस ज्ञान– परम्परा को सक्रिय भूमिका रही है उसे ही भारतीय ज्ञान–परम्परा से अभिहित किया जाता है।

भारतीय ज्ञान–परम्पराका वाङ्मय संस्थान

भारतीय ज्ञान–परम्परा कोरे आस्थाओं की संहिता न होकर जीवन और जगत के प्रति आत्मचेतन विवेक से उपजा हुआ एक औचित्य विधान है। इसके पाव में जो आत्मचेतन विवेक की सुदीर्घ परम्परा ही है उसी की अभिव्यक्ति ऋषियों, मुनियों और व्यास परम्परा के माध्यम से श्रुति, स्मृति, शास्त्र, पुराण, दर्शन, नीति और महाकाव्यों के रूप में वाग्विग्रहित हुई है। इन सबों का सम्मिलित रूप ही भारतीय ज्ञान–परम्परा का लिपिबद्ध वैचारिक संस्थान है।

श्रुति

श्रुति का अर्थ वेद है जो ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हैं। भारतीय ज्ञान–परम्परा के आद्यस्रोत के रूप में वेदों का अपौरुषेय और पोरुषेय दोनों माना जाता है, लेकिन इससे उनकी सर्वोपरि प्रामाणिकता पर कोई आँच नहीं आती। यद्यपि वैदिक सूक्तों एवं मंत्रों के उपस्थापक ऋषि ही होते हैं लेकिन उन्हें मंत्रकर्त्ता नहीं अपितु मंत्रद्रष्टा (ऋषियोःमंत्रद्रष्टारः)[3] कहा गया है। प्रत्येक वेद की बहुत सी शाखायें हैं जिनमें कुछ प्राप्त हैं और शेष अन्य लुप्त हो गये हैं। मुख्य रूप स वेदों के चार भाग होते हैं जिन्हें मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् कहा जाता है।

स्मृति : स्मृतियाँ 18 हैं। इनमें चार प्रमुख हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर और शंख। अन्य हैं–विष्णु, दक्ष, समावर्त, व्यास, हरिता, सततपा, वशिष्ठ, यम, अपस्तंबा, गौतम, देवल, शंख, लिखिता, उष्ण, अत्रि और सेउनका आदि।

वेदांग

शास्त्र छ है जो वास्तव में विशिष्ट विद्यायें हैं। इन्हें शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष के रूप में परिगणित किया गया है। वेदांग इनका अपर नाम है। देखने लायक बात यह है कि छः वेदांगों ने चार (शिक्षा, व्याकरण, निरूक्त, छन्द) प्रत्यक्ष रूप से भाषा विषयक हैं। शिक्षा भाषा को उसके ध्वन्यात्मक रूप में विचारती है। निरूक्त उसे अर्थ विज्ञान के परिवेश में देखता है। व्याकरण भाषा को संरचना के रूप में देखता है और छन्द उसे एक लय के रूप में देखता है। शेष दो शास्त्र कल्प और ज्योतिष क्रमशः धर्मविज्ञान और खगोलविज्ञान और गणितविद्या से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक वाङमय में उपवेदों का भी उल्लेख आता है।

उपवेद

वेदांगों का उल्लेख तो उत्तर वैदिक साहित्य में मिलता है परन्तु उपवेदों की चर्चा परवर्ती प्रतीत होती है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि जो विद्यायें उपवेदों में निहित हैं वे वैदिक युग में नहीं थीं। आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र, धनुर्वेद और दण्डनीति ये सभी विद्यायें अपनी परम्परा का मूल वैदिक ऋषियों से ही बताती है।

पुराण

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।[4]
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

पुराण अठारह हैं जिनमें इतिहास, कथा, वंशावली और दृष्टान्तों आख्यानों के माध्यम से वैदिक अन्तर्दृष्टियों का लोकजीवन में संस्थानीकरण किया गया है।

मद्वयं भद्वयं चौव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।

अनापलिंगकूस्कानि पुराणानि प्रचक्षते।।

ब्रह्म पुराण, पद्म पुराण, विष्णु पुराण, वायु पुराण (शिव पुराण), भागवत पुराण–(देवीभागवत पुराण), नारद पुराण, मार्कण्डेय पुराण, अग्नि पुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्म वैवर्त पुराण, लिङ्ग पुराण, वाराह पुराण, स्कन्द पुराण, वामन पुराण, कूर्म पुराण, मत्स्य पुराण, गरुड़ पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण

दर्शन

भारतीय ज्ञान–परम्परा के दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत करने वाले छः आस्तिक दर्शन जिन्हें सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त के नाम से जाना जाता है। चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शन को नास्तिक काटि में रखा गया है। वेद के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करने के कारण ही इन्हें नास्तिक कहा गया है (नास्तिकोवेदनिन्दक)। यद्यपि भारतीय दर्शनों का यह विभाजन पर्याप्त नहीं है। यदि इसे अद्यतन किया जाये तो दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या निम्न रूप में परिगणित की जा सकता है बौद्ध, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, वैशेषिक, न्याय, जैन, योग, व्याकरणदर्शन, चार्वाक, शैवसिद्धांत, काश्मीरशैव, अद्वैतवेदान्त, विशिष्टा–द्वैतवीरशैव, न्यायवैशषिक, निम्बार्कवेदान्त, विशिष्टशैवाद्वैत, हठयोग, भक्तिदर्शन, वल्लभवेदान्त, द्वैताद्वैत, योगवासिष्ठ, अचिंत्यभेदाभेद। सर्वदर्शन संग्रहकार मध्वाचार्य ने भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या बारह मानी है।

नीतिग्रंथ

नीतिग्रंथों में शुक्रनीति, विदुरनीति और कामंदक नीति का भारतीय ज्ञानपरम्परा में बड़ा आदर है।

महाकाव्य

महाकाव्यों की परम्परा में रामायण, महाभारत, रामचरितमानस और अश्वघोषरचित बुद्धचरित महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं ये महाकाव्य कथानक के माध्यम से एक सम्पूर्ण संसार और संसार में भारतीय जीवन–दृष्टि के आदर्शतम स्वरूप को चरितार्थ हुआ दिखाते हैं। वास्तव में इन महाकाव्यों को धर्म–मय जीवन की जीवनगाथा कहा जाना अधिक उचित है। माना जाता है कि भारतीय ज्ञान परम्परा का निचोड़ इन महाकाव्यों में मानव जीवन के समस्त अन्तर्दून्द्रों के साथ,

उन का समाधान करते हुए प्रस्तुत किया गया है। महाभारत में एक संवाद के क्रम में महाभारत के माहात्म्य के बारे में कहा गया है। मानव जीवन के बारे महाभारत में जो भी कहा गया है वही अन्यत्र भी जो यहां नहीं कहा गया है वह अन्य जगह भी नहीं है।

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रिचित्।।[5]

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का जो वर्णन महाभारत में किया गया है, वही अन्यत्र है। जो महाभारत में नहीं है, वह कहीं नहीं है।

भारतीय ज्ञान परम्परा के इस विशाल वाङ्मयी संस्थान में जीवन और जगत के परमार्थ से लेकर व्यवहार पर्यन्त समस्त प्रेरणाओं, अभीप्साओं और लोकजीवन के बहुविध रूपों एवं संस्थानों का समावेश किया गया है। परा और अपरा विद्या के रूप में सम्भवतः ज्ञान के समस्त अनुशासनों का विकास इसके अन्तर्गत न्यूनाधिक रूप में सम्भव हुआ है। इनमें विविधता बहुत है, पक्ष और विपक्षों की भरमार है, फिर भी सब के सब निगमागमों के ही अर्थ विस्तार हैं। भारतीय ज्ञानपरम्परा के वाङ्मयी संस्थान की अदभुत विशेषता यह हैं कि यह कोई स्थावर हो गई रूढ विचार–परम्परा नहीं बल्कि सूत्रभाष्य, वृत्ति, वार्तिक, टीका और बहुविध प्रकार के व्याख्या ग्रन्थों के माध्यम से उत्तरोत्तर अपना आलोचनात्मक परिष्कार और अपनी अर्थ–चेतना के विस्तार में सतत्संलग्न जीवन्त विचार परम्परा है।

संदर्भ

1. श्री विष्णु पुराण, अंश –02, अध्याय – 03, श्लोक –01–05, अनुवादक– श्री मुनि लाल, गुप्त,गीताप्रेस, गोरखपुर–273005।
2. 'बृहस्पति आगम
3. यास्काचार्य का नैगमकाण्ड का निरुक्त, 2.11
4. श्री मनमहर्षि वेदव्यास प्रणीत महाभारत, अनुशासन पर्व, श्लोक 3/22, अनुवादक–साहित्याचार्य रामनारायण दत्त शास्त्री पाण्डेय। गीताप्रेस गोरखपुर।
5. श्री मनमहर्षि वेदव्यास प्रणीत महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व, श्लोक–5/50, अनुवादक–साहित्याचार्य रामनारायण दत्त शास्त्री पाण्डेय। गीताप्रेस गोरखपुर।

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

मिथिलांचल संस्कृति में लोकनाट्य : एक दार्शनिक विश्लेषण

डॉ. रीता शर्मा *

मिथिला की संस्कृति, सभ्यता व परम्परा सही अर्थ में लोकसंगीत, लोकनृत्य, लोककाव्य, लोकोत्सव, चित्रकारी, ग्रामीण–परम्पराओं, त्योहारों आदि में निहित जान पड़ती है। यहाँ के आचार–विचार, गीत–संगीत, वेश–भूषा, हास–परिहास आदि, किसी भी जनसंगोष्ठी में एक अलग पहचान बनाती है। मैथिल–वार्त्तालाप मानों मुख से मधु की बूँदें टपकती हों। यहाँ की संस्कृति का प्रत्येक तत्व सौन्दर्य बोध को उद्दीपित करता है। प्रारम्भ से अन्त तक सुरूचि और सुन्दरता को उद्‌बोधित करता है।

लोकसंस्कृति की व्युत्पति को दो अर्थो में देखा जा सकता है। 'लोक' और 'संस्कृति'। 'लोक', जिसका अर्थ प्राणी, जन, व्यक्ति, यश, कीर्ति, संसार आदि बताया गया है।[1] इसे देखना, नजर डालना, प्रत्यक्ष ज्ञान आदि भी कहते है। मैथिलि भाषा में इसका तात्विक अर्थ–भू, भूवः, स्वः, महाजन, तप और सत्य है।[2] साहित्य, कोष भाषा–1 के अनुसार लोक का अर्थ जन सामान्य है, जिसका हिन्दी रूप 'लोग' (People) है। पाश्चात्य शब्दकोष में लोक का समानार्थक शब्द 'फोक' (Folk) है। 'फोक' शब्द का प्रयोग असभ्य या अर्द्धशिक्षित वर्ग के व्यक्ति अर्थात् कम विकसित समाज, जो अधुनिकता से दूर रहते हैं। डॉ. श्याम परमार के अनुसार–'लोक साधारण जन समाज है जिसमें भू–भाग पर क्रमशः फैले हुए समस्त प्रकार के मानव सम्मिलित है, यह शब्द वर्ग भेद रहित व्यापक एवं प्राचीन परम्पराओं की श्रेष्ठ राशि समेत अर्वाचीन (आधुनिक) सभ्यता संस्कृति के कल्याण में विकास का द्योतक है। 'संस्कृति' 'सम्' उपसर्ग पूर्व 'कृ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय

* *सहायक व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग, विद्या भवन महिला कॉलेज, सिवान, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार–841226*

करने पर संस्कृति शब्द बनता है, जिसका शाब्दिक अर्थ परिष्कार, तैयारी, पूर्णता तथा मनोविकास है।[3] संस्कृति कोष के अनुसार संस्कृति उन गुणों के समुदाय है, जो व्यक्तित्व को समूह और परिष्कृत बनाते हैं। चिन्तन और कलात्मक क्रियाओं का सृजन संस्कृति के अन्तर्गत आती है, जो मानव जीवन के लिए प्रत्यक्ष में उपयोगी न होने पर भी उसे समृद्ध करती है।[4] संस्कृति को सामाजिक प्रथा या रिवाज कहा गया है। विभिन्न शास्त्रों, दर्शनों आदि में होने वाले चिन्तन जो सामाजिक परम्परा से प्राप्त होती है। इसका उद्देश्य परहित साधन आदि में नैतिक आदर्शो को प्रदर्शित करना, 'संस्कृति' कहा गया है। इसका संबंध सिर्फ भाषा, कला, विज्ञान, नीति, राज्य, धर्म आदि से नहीं, अपितु इसमें इमारतें, औजार, यातायात, धार्मिक क्रिया–कलाप आदि भी सम्मिलित है। संस्कृति से तात्पर्य समूह के सभी विशेष मानवीय–मूल्यों, जैसे–आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक विशेषताएँ जो व्यवहारिक जीवन से जुड़ी रहती हैं। निश्चित तौर पर यह भाषा, परम्परा, रीति–रिवाज द्वारा मानव समाज की चहुँमुखी विकास को अग्रसारित करता है। यह न सिर्फ बाह्य अपितु आन्तरिक सौन्दर्य को भी बिखेरती है। सृष्टिकाल से ही 'आत्मोपम्येन–सर्वत्र' जैसी भावना को आत्मसात कराती है। भारतीय संस्कृति में मिथिलांचल का स्थान निश्चित रूप से सर्वोपरि माना जाता है। ऋषि–मुनियों से लेकर जनसाधारण तक ब्रह्मतत्व और उसके लीला के मर्म (रहस्य) को समझते हैं। यहाँ की ग्राम्य संस्कृति व्यवहारिक जीवन का मूलाधार हैं जिन्हें आजकल अनपढ़, गंवार, बक्लोल आदि शब्दों से उद्बोधित करते हैं। सही अर्थ में मिथिलांचल–संस्कृति की जीवंत प्रहरी गाँवों में ही मिलती है। प्रख्यात अंग्रेजी विद्वान सर–जॉन हास्टन ने बिहार को "भारत का हृदय" कहा है।[5] हिन्दी का एक प्रसिद्ध कहावत है–'कोस–कोस पर पानी बदले और डेढ़ कोस पर बानी'। सच्ची बात तो यह है कि विविध बोलियों वाले देश में बिहार का मिथिलांचल अपने में एक अनोखी कला व संस्कृति वाला क्षेत्र रहा है।

बिहार की लोक चेतना ने अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को आज भी बनाए रखा है। मैथिली, मगही, भोजपुरी, अंगिका, नागपुरिया, कुरमाली आदि बोलियाँ यहाँ के परिवेश में मनोरम कृतियों को अणुप्राणित करती है।

मिथिला 'लोकनाट्य' के प्रादुर्भाव के संबंध में चर्चा करते हुए आचार्य सीताराम चतुर्वेदी कहते हैं–प्रारम्भ में बहुदेव–वादियों के धार्मिक कर्मकाण्ड और जादू–टोने, उत्सवों के नृत्य और गीत आदिम काल से ही लोकनाट्य का प्रादुर्भाव हो गया था।[6] सामान्यतः विश्व के नाट्यविदों का मत है कि लोकनाट्य की उत्पत्ति धार्मिक अनुष्ठानों एवं सामाजिक उत्सवों से हुई है।[7]

अध्ययन से पता चलता है कि लोकनाट्य का उत्कर्ष काल 1400 ई. से 1950 ई. के बीच का समय है।[8] भरत मुनि विरचित नाट्यशास्त्र में जिस विस्तार के साथ नाट्य प्रस्तुति के विधान और प्रयोगात्मक अनुष्ठानों का विवरण दिया है उससे यह अनुमान लगाया जाता है कि उससे पूर्व भी नाट्य प्रस्तुति होती थी। साँची, खजुराहों, रामगिरी, सीता बेंगा, हड़प्पा और मोहनजोदड़ो जैसी गुफाओं से तत्कालीन समाज में नाट्य प्रदर्शन प्रचलित होने का संकेत मिलता है। ऋग्वेद में लगभग एक दर्जन संवाद सूत्र ऐसे है जिसमें कथानक के साथ नाट्कीय कार्य व्यापार की झलक है।

मिथिलांचल परम्परा में लोकनाट्य का साक्षात् संबंध लोगों के जीवन से है। ज्योतिरीश्वर कृत 'वर्णरत्नाकर' जिसकी रचना 1340 ई. के आस–पास हुई थी। लोकनाट्य–'लोरिक नाच' ज्योतिरीश्वर से पूर्व लोक जीवन में प्रचलित था। वर्त्तमान में कहा जा सकता है कि मैथिलि लोकनाट्य का उद्भव तेरहवीं सदी से पूर्व हो चुका था। डॉ. नगेन्द्र ने लोकनाट्य को परिभाषित करते हुए लिखते हैं–"लोकनाट्य सामूहिक आवश्कताओं और प्रेरणाओं के कारण निर्मित होने से लोक कथानकों, लोक विश्वासों और लोक तत्वों को समेटे चलता है और यही जीवन का प्रतिनिधित्व करता है।"[9] डॉ. श्यामा परमार के अनुसार–"लोक नाट्य से तात्पर्य नाटक के उस स्वरूप से है, जिसका संबंध विशिष्ट समाज से भिन्न सर्वसाधारण के जीवन से है जो परम्पराओं में अपने जनसमूह के मनोरंजन का साधन रहा है।"[10]

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि जनसामान्य को आह्लादित व हर्षित करने वाला मिथिला का लोकनाट्य भारतीय जगत् के नाट्कों में अपनी विशिष्ट पहचान बनाये हुए है तथा इतिहास में अपनी एक अलग छाप छोड़ती है। दार्शनिकों, ऋषियों, साहित्यकारों की दृष्टि से मिथिला–संस्कृति उर्वर है। हिमालय एवं गंगा के बीच में अवस्थित मिथिला 'जनक युग' की कहानी गढ़ती है। समन्वयवादी विचारधाराओं को अनुसरित करने वाले मैथिल लोग "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" की भावना को आत्मसात करती है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि यहाँ के लोग भौतिकता के प्रति निरूत्साहित एवं आत्मचिंतन को श्रेष्ठ मान, अपना संतोषप्रद जीवन व्यतीत करते हैं। राजा जनक की राजसभा ब्रह्मविद्या की विमल प्रकाश से उद्भाषित थी और स्वयं उपनिषदों की शिक्षा का प्रचार–प्रसार को प्रोत्साहित करते थे। भारतीय दर्शन के प्रकाण्ड विद्वानों में याज्ञवल्क्यक, गौतम, कणाद, कपिल, वाचस्पति मिश्र, गंगेष उपाध्याय, उदयन, गार्गी, मंडन अनेकानेक दार्शनिकों का प्रदुर्भाव हुआ।

मिथिलांचल की प्रमुख लोकनाट्य

झिझिया – मिथिलांचल की एक मुख्य लोक नाट्य झिझिया मानी जाती है। यह महिलाओं के सशक्तिकरण को प्रदर्शित करता है। इसमें माता दुर्गा को शक्तिरूपिणा मान अराधना की जाती है। इसे दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो कहा जा सकता है कि महिलाएँ अपनी अराध्या से समाज में व्याप्त कलुषित (प्रदूषित) मानसिकता वाले लोगों के लिए शिकायत करते हुए प्रार्थना करती है कि यथाशीघ्र समाज के बुराईयों का अन्त हो और समाज में सद्भावना एवं भाईचारा स्थापित हो। यह दस दिनों तक चलने वाली भक्ति भाव है। यह एक तरह की तंत्रविद्या है जो समाज में व्याप्त अन्ध विश्वास जनित भय दूर करना इसका मुख्य उद्देश्य है। यह गीत द्वारा समाजिक बुराईयों से मुक्ति की बात करता है।

"देखबे त देख गे डयनी झिझिया के खेलबा!
झिझिया पर जादू नहीं चलइये गे!!
बेटा दडक सिखलें डयनी पोता मरि गेलउ
सिखला के कोन फल पयलें गे!!"[11]

यह गीत में डायन–योगिन को गाली देना तथा भविष्य में उसके प्रभाव से सामाजिक जीवन को मुक्त करना है। माता दुर्गा से प्रार्थना करते हुए अपने परिवार की कुशल–कामना एवं बुरी नजर डालने वाले का नाश हो, कुछ ऐसा ही भाव दर्शाया गया है।

नरदीय – यह लोकनाट्य का मूल, देवी–देवताओं की पूजा का आयोजन करना है। इसका प्रयोग गीतात्मक होता है, जिसमें भिन्न–भिन्न वाद्य–यन्त्रों का भी प्रयोग किया जाता है। यह वैष्णव परम्परा का लोक नाट्य है। इसमें कृष्ण की लीला को केन्द्र मान भक्ति की जाती है। जयदेव द्वारा रचित 'गीत गोविन्द' में सर्वप्रथम देखने को मिलता है। इस नाट्य में श्रीकृष्ण का मानवीय चरित्र धरातल पर उतारा गया है। प्रसिद्ध कवि विद्यापति की रचनाओं में भी मिथिला की झलक देखने को मिलती है।

जट–जटिन – इस नाट्य की शुरूआत जट–जटिन के विवाह से होती है।[12] इसमें नायक जट एवं नायिका जटिन है। दोनों में अगाध प्रेम है। दोनों परिणय–सूत्र में बँधने की चेष्टा करते हैं। यहाँ जट अपनी प्रेमिका को आदर्श नारी के रूप में देखना चाहता है । सुख–दुःख में समान रूप से सहभागी बन सके ऐसी कल्पना करता है । किन्तु जटिन उसके सोच के विपरीत प्रकृति की अलहड़, चंचल, स्वतंत्र विचार वाली नायिका है । गीत में कुछ इस प्रकार दर्शाया गया है –

जट : नवि के चलिहें गे जटिनियाँ नविके चलिहें गे!
जहिना नबतै काँच कर चिया तहिना नविहेगे!!
जटिन : नहिए नबवै रे जटवा नहिए नबवै रे!
हम त बाबाक दुरारी धीया तनिकै चलवै रे!!
जट : सिर के पग़रिया बेचबौलैं गे जटिन!
आब जटा नइ जाउ विदेश!!
जटिन : आहू सँ उत्तम कीन देबह हे जाटा!
आब जटा नइ जाउ विदेश!!

सामा–चकेबा – यह लोकनाट्य बहन–भाई के निश्छल प्रेम को दर्शाया गया है। यहाँ एक–दूसरे के अभ्युदय की कामना करते हैं। माँ लक्ष्मी से आह्वान करती बहन प्रार्थना करती है–मेरे भाई–भतीजे से प्रेम बना रहें। मैं एकमात्र गठरी की आशा पर संतुष्ट रहूँ। यहाँ नारी की त्याग को दर्शाया गया है। गीत में भाई–बहन का प्रेम कुछ इस प्रकार दर्शाया गया है –

"जुनि कानू जुनि खीजू हे बहिनि
बाबा के सम्पतिया देबह हे बाँटि
बाबा के सम्पतिया हो भइया
भतीजबा केर हे आस
हम दूर देसिन हौ भइया
मोटरिया केर हे आस
हम परदेसिन हौ भइया
सिन्दूरबा केर हे आस।"[13]

धरती माँ की भक्ति की जाती है। यह कार्तिक शुक्ल पंचमी से प्रारम्भ होकर पूर्णिमा के दिन समाप्त होती है। पूर्णमासी के दिन जुते हुए खेत में सामा–चकेबा को नया चूड़ा, दही, गुड़ का भोग लगाकर विसर्जित किये जाने का विधान है।

दसौत– नव–विवाहिता द्वारा दस दिवसीय तक चलने वाली प्रथा है। कन्या पक्ष की माँ, दादी, चाची, भाभी आदि दस थालियों में दीप प्रज्वलित कर वर परिछन की जाती है। कन्या के अखण्ड सौभाग्य की कामना की जाती है। इसमें महिलाओं की सहभगिता मुख्य है।

डोमकछ – यह एक प्रकार की सामाजिक रीति–रिवाज है। जब पुत्र के विवाह हेतु कन्या पक्ष के यहाँ बारात लेकर पुरूष वर्ग के लोग चले जाते हैं, तब आस–पड़ोस की महिलाएँ एकत्रित हो सारी रात जाग कर गीत एवं नृत्य करती

है। गीतों के द्वारा ईश्वर से वन्दना करती है कि विवाह सफलता–पूर्वक सम्पन्न हो। यहाँ नारी की शक्ति को दर्शाया गया है ।

चौपहरा – मिथिला के ग्रामीण क्षेत्रों का प्रसिद्ध नाट्य है। ऐसी मान्यता है कि जब किसी की इच्छा (मनौती) पूर्ण हो जाती है तो विधि–विधान के साथ अपनी मनोकामना पूर्ति के उपरान्त करते हैं। इसे 'भगतिया पूजा' कहा जाता है।

सलहेस – सलहेस एक राजा है। यह लोक देव है। इतिहास में इसे मिथक (काल्पनिक) होने का गौरव प्राप्त है। इस राजा को पराक्रमी और शूरवीर के रूप में मिथिलावासी मानते हैं। नेपाल की तराई में यह लोकप्रिय नाट्कों में शामिल है। ऐसी मान्यता है कि आज भी वहाँ के घरों में सलहेस राजा की कृपा होती है। यह कथानक गद्य एवं पद्य दोनों में उपलब्ध है। गीत द्वारा इस प्रकार देखा जा सकता है–

"एक सलहेसक कारन घर तेजलहुँ
घर तजि स्वामी सलहेसक कारन चललहुँ।"[14]

राजा सलहेस को लोक–कल्याण के लिए विधि–विधान से घर में बुलाया जाता है ।

विदापत– यह लोकनाट्य मध्यकालीन वैष्णव भक्ति आन्दोलन के परिचायक है। इसकी विशेषता है कि–मंडली (समूह) के रूप में की जाती है। इसका प्रारम्भ मंगलाचरण से होता है। खासकर भिखारी ठाकुर के नाटकों में मुख्य रूप से दिखाई देती है।

लोरिक – लोरिक एक अत्यन्त समृद्धशाली और अजेय चरित्र वाला व्यक्तित्व के रूप में जान पड़ती है। इन्होंने पूरा जीवन अत्याचारों के खिलाफ संघर्ष करते रहे। इसकी चर्चा 'वर्णरत्नाकर' में 'लोरिक नाच्चो' के रूप में हुई है। 'चनैन' उनकी नायिका थी। गीतात्मक रूप में विभक्त है।

'केतनो अहिरा होहि सियाना!
लेरिक छाड़ि न गाबहि आना!!'[15]

हरिलता– इस लोकनाट्य में चित्रसेन, बुद्धसेन और धर्मावलियों की प्रेम–कथा को अभिनय के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यह महिला लोकनृत्य है, जिसमें जीवन–जगत की मनोदशा का चित्रण है। मानवीय कृतियों को दिखाया जाता है।

पमरिया – इसे गृहास्थ आश्रम से जोड़कर देखा जा सकता है। नाट्य की विशेषता प्राचीन काल से देखी जा रही है। परिवार में संतानोत्पत्ति के पश्चात् पमरिया खुशी के गीत गाई जाती है। ऐसी मान्यता है कि राजा दशरथ के दरबार में भी प्रस्तुत किया गया था। आज भी पुत्र–पुत्री के जन्म पर गाया जाता है। इसे सोहर–गीत भी कहा जाता है।

झुम्मरि– मिथिलांचल की प्राचीन लोकनाट्यों में से एक है। यह भाई–बहन के स्नेहिल प्रेम को परिलक्षित करता है। झुम्मरि में नायिका मंद–मंद, मीठे स्वर में झूमते हुए अपने भाई के लिए गीत गाती है। ऐसा आभास होता है मानों प्रकृति का रोम–रोम नाच रहा हो। आनन्द की सरिता बहने लगती है। दो रूप में व्यक्त–संदेशात्मक एवं भावात्मक लोकनाट्य है। यथा गीत –

"सावन भादव करे राति इजोरिया
सखि विया है, खेलै छै झूमरिया कदम तरे।"[16]

यह संदेश के रूप में नायिका सखि से झुमते हुए गीत गाते हुए कहती है–

"कओन भइया लओता आलरि–झालरि
कओन भइया लओता पटोर
कओन भइया लओता झिलमिल केचुआ
कओन भइया कामी सिन्दूर।"[17]

पूरे भारत में बिहार के मिथिलांचल क्षेत्र अपने–आप में अद्भूत स्थान रखता है। यहाँ की भूमि का विलक्षण प्रभाव हमेशा से रहा है । एक से बढ़ कर एक अद्वितीय विद्वानों का अवतरण हुआ है, जिन्होंने शिक्षा, संस्कृति, दार्शनिक चिन्तन को उच्च से उच्चतम शिखर पर पहुँचाया है। पूरे भारत में मिथिला एक ऐसा भूखण्ड है, जहाँ एक ही साथ शिव, विष्णु, शक्ति एवं निर्गुण की उपासना की जाती है। प्रकृति के प्रत्येक तत्व की महत्ता यहाँ के पद्धतियों में देखा जाता है। जैसे–पशुपूजक, सूर्योपासना, चन्द्र उपासना, तुलसी, पीपल, वटवृक्ष, केलावृक्ष, भूमि, नदियाँ, यज्ञ, अग्नि आदि का धार्मिक अनुष्ठान प्रमुख साधना ही रही।"[18]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मैथिल–परम्पराओं साहित्यों आदि में कला, संगीत, नृत्य, अभिनय आदि मानव जीवन से जुड़े पहलुओं का बोध करता है। जगत् की लौकिक एवं अलौकिक दोनों पक्षों से रू–ब–रू कराता है व जीवन दर्शन सीखाता है। निःसन्देह मिथिलांचल लोकनाट्य में रामानुज एवं वल्लभाचार्य के भक्ति–मार्ग की पराकाष्ठा देखी जा सकती है। उपर्युक्त वर्णित लोकनाट्यों में सगुण ब्रह्म की कल्पना जनमानस द्वारा की गई है। यहां भक्ति का निश्छल रूप देखने को मिलता है। भक्ति–भाव जहां धर्म, जाति, रंग–रूप से उठ सभी के लिए सुलभ जान पडती है। वल्लभाचार्य का पुष्टि–मार्ग जो कृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पण नरदीय लोकनाट्य में स्पष्ट देखी जा सकती है। ग्रामीण परिवेश आधुनिकता से आज भी पृथक जान पड़ती है तथापि लोकनाट्य व्यवहारिक जीवन को पुष्पित करने में अहम भूमिका निभाती है। साहित्य के पर्यवेक्षण में अपने परम्परा, संस्कृति, सामाजिक, धार्मिक गरिमा को आज भी संजोये है। आज

के युवा पीढ़ियों पर यह दायित्व आ चुकी है कि लोकनाट्य कीं परम्पराओं को आने वाली पीढ़ी के हाथों में सौंपे। हम सबों को अपनी अमूल्य संस्कृति को बचा भारत को विश्व गुरू बनने की कामना को सार्थक करना है।

संदर्भ

1. भार्गव आदर्श हिन्दी शब्दकोष–संपादक प्रो. रामचन्द्र पाठक, भार्गव बुकडिपो चौक, वाराणसी, 1980, पृ. सं. – 21
2. डॉ. हरदेवलाल बाहरी–प्राचीन भारतीय संस्कृतिकोष पुणे, संस्करण 1962, पृ0–77
3. संस्कृति–हिन्दीकोष, प्रकाशन का वर्ष–2007, पृ. – 1348
4. लीलाधर शर्मा पवत्तीय –भारतीय संस्कृतिकोष, वर्ष 2012, पृ. – 929
5. www.ijcrt.org.433 (International Journal) of Creative Research Thought - 433.
6. चतुर्वेदी आचार्य सीताराम 'लोकनाट्य : भारतीय तथापाश्चात्य रंगमंच', पृष्ठ–85
7. चौधरी डॉ. रविन्द्रकुमार, शोध सरिताजनवरी–मार्च, 2021, पृ. – 109
8. मैथिलीकलोकनाट्य : डॉ. ओम प्रकाश भारती, प्रकाशन– 2010, दरभंगा, पृ.–34
9. भारतीय नाट्य साहित्य, 1968 , दिल्ली, प्रकाशन डॉ. नागेन्द्र पृ. – 76
10. मैथिली लोक साहित्य चन्द्रनाथ मिश्र, प्रथम संस्करण–2013, पृ. – 78
11. ativekumarblog.wordpress.com
12. जट–जटिन : ग्रन्थांलय प्रकाशन, दरभंगा, प्रकाशनवर्ष 1971, पृ–27
13. मिथिला–लोकगीत, संकलन : डॉ. अणिमा सिंह, लोकसाहित्य परिषद, कलकत्ता, प्रथम संस्करण 1970, पृ. – 142
14. जार्ज अब्राहिम ग्रियर्सन और बिहारी भाषा साहित्य : डॉ. आशागुप्त, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1970, पृ. – 142
15. तत्रैव, मासिक पत्रिका–2020, से साभार
16. मैथिली नाटक ओरंगमंच, डॉ. प्रेमशंकर सिंह, मैथिली अकादमी, पटना, 1978, पृ.–141
17. मैथिली लोकगीत, डॉ. अणिमा सिंह, प्रथम संस्करण – 1997, पृ. – 185
18. मिथिला शुभ संस्कार, दास विन्देश्वरी और दास ब्रह्मदेवलाल, तृतीय संस्करण–2018, ।

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

'आचार्य उदयन कृत न्यायकुसुमांजली' का मिथिला की दार्शनिक परम्परा में योगदान

*रंजना यादव**

मिथिला परंपरा अपने जीवंत बौद्धिक संस्कृति के लिए जानी जाती है, जहां विद्वान जीवंत बहस में लगे रहते हैं। मिथिला में दार्शनिक संवाद और बौद्धिक प्रवचन की एक समृद्ध परंपरा है। मिथिला की संवाद परंपरा तार्किक विश्लेषण और तर्क पर बहुत जोर देती है। मिथिला परंपरा के आचार्य उदयन ने संवाद में तर्क के उपयोग को ईश्वर सत्ता तक पहुंचने और ईश्वर के प्रति दार्शनिक असहमति को हल करने के लिए एक महत्वपूर्ण उपकरण के रूप में प्रयोग किया है। आचार्य उदयन एक प्रमुख न्याय सम्प्रदाय के दार्शनिक और तर्कशास्त्री थे।

मिथिलातत्त्वविमर्श के अनुसार आचार्य उदयन का जन्म मिथिला के प्रसिद्ध करियन ग्राम में 10वीं शताब्दी में हुआ था। यह ग्राम दरभंगा जिले में आज भी विद्यमान है आचार्य उदयन के वंशज जहाँ आचार्य उपाधि को धारण कर उनकी न्यायिक परम्परा को आगे ले जा रहे है। आचार्य उदयन प्राच्य न्याय परम्परा धारक एवं नव्य न्याय परम्परा के आदर्श स्वरूप रहे थे और उनकी ख्याति को सर्वोच्च स्तर पर ले जाने में उनके दो प्रकरण ग्रन्थ 'आत्मतत्वविवेक' एवं 'न्याय कुसुमाञ्जलि' का अद्भुत योगदान रहा जो तर्कों के माध्यम से आत्मा एवं ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर पाश्चात्य परम्परा को टक्कर देती है। आचार्य ने लघुकायिक, लक्षणग्रन्थ, लक्षणमाला एवं लक्षणावली की भी रचना की। साथ में वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका एवं महर्षि गौतम के न्यायसूत्र पर न्यायपरिशुद्धि एवं न्यायपरिशिष्ट रूपी व्याख्या ग्रंथ भी लिखे। आचार्य उदयन ने 'न्यायकुसुमाञ्जलि' के माध्यम से तर्क साध्य 'ईश्वर' का प्रणयन किया है। ईश्वर

** असिस्टेंट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, मगध महिला कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय, पटना*

जो परमात्मा स्वरूप है, जिसकी उपासना से स्वर्ग तथा अपवर्ग की प्राप्ति होती है उस मनन स्वरूप ईश्वर की उपासना करने में आचार्य उदयन पञ्चावयवरूप न्यायवाक्य का प्रयोग कर 'ईश्वर' के चरणो में न्याय कुसुम को समर्पित करते

'स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः।

यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते।।[1] न्यायकुसुमाञ्जलि, 1–2

उदयन का ''न्याय–कुसुमांजलि'' एक व्यापक और व्यवस्थित ग्रंथ है जो न्याय दर्शन के विभिन्न पहलुओं को समाहित करता है। यह उनके तार्किक कौशल, प्रतिद्वंद्वी स्कूलों (बौद्ध , मीमांसा , सांख्य , चार्वाक, वेदांत , जैन) के साथ जुड़ाव और न्याय विचार के विकास में योगदान को प्रदर्शित करता है। न्याय स्कूल वैध ज्ञान के साधनों में से एक के रूप में अनुमान (अनुमान) का उपयोग करता है, और ईश्वर के अस्तित्व के लिए तर्क अक्सर अनुमान का उपयोग करके विकसित किए जाते हैं। न्याय परंपरा के भीतर ईश्वर के अस्तित्व के लिए तर्क अक्सर कार्य–कारण, ब्रह्मांड में डिजाइन और एक बुद्धिमान और उद्देश्यपूर्ण निर्माता की आवश्यकता की अवधारणाओं पर आधारित हैं। ''न्यायकुसुमांजलि'' शब्द दो संस्कृत शब्दों का संयोजन हैः ''न्याय'' और ''कुसुमांजलि'' जिसका अर्थ है '' न्याय रूपी फूलों की माला'' जिसे आचार्य ईश्वर को समर्पित करते है। 'न्यायकुसुमाञ्जलि' गद्य और पद्य का समन्वय है। उदयनाचार्य ने पद्य की व्याख्या को स्पष्ट करने के लिए गद्य लिखा है। यह ईश्वर निरुपण प्रधान ग्रन्थ पाँच स्तबकों में विभाजित है। आचार्य उदयन ने न्यायकुसुमांजली की पंचम स्तबक में ईश्वरसत्ता सिद्धि के लिए कार्य, आयोजन, धृति, विनाश, पद, प्रत्यय, वेद, वाक्य एव विशेष प्रकार की संख्या इन हेतुओ के माध्यम से ईश्वर सिद्धि की है। ये अनुमान 'आस्तिक' एवं 'नास्तिक' सम्प्रदाय के आक्षेपो के समाधान स्वरूप है। अगर पाश्चात्य दर्शन कि युक्तियों से तुलना की जाए तो उदयनाचार्य द्वारा प्रस्तुत ईश्वरसत्ता सिद्धि की युक्तियाँ, प्रयोजनमूलक, सत्तामूलक, सृजनमूलक आधार को प्रस्तुत करती है। भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय को आस्तिक एवं नास्तिक में विभक्त किया गया है। वेद के निंदक नास्तिक एवं अनुयायी आस्तिक होते हैं। परन्तु ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करने के संबंध में नास्तिक सम्प्रदाय (चार्वाक, बौद्ध, जैन) के साथ–साथ आस्तिक सम्प्रदाय (मीमांसा, सांख्य) ईश्वर–विरुद्ध प्रमाण प्रस्तुत करता है।

चार्वाक पूर्णतः भौतिकवादी दर्शन, ईश्वर, आत्मा, पाप, पुण्य, कर्म, फल, स्वर्ग, नरक, पुर्नजन्म का खण्डन कर प्रत्यक्ष गम्य शक्तिसम्पन्न राजा को ही ईश्वर मानता है। जैन, ईश्वर की सत्ता को प्रत्यक्ष जन्य एवं अनुमानजन्य न मानते हुए, प्रमाणहीन मान खण्डन करते हैं। बौद्ध दर्शन ने ईश्वर का खण्डन करते हुए संसार

को अनित्य एवं परिवर्तनशील माना है जिसका कोई भी चेतन सृष्टा नहीं है। मीमांसा ने कर्म के सिद्धान्त सृष्टि को नियामक माना है और बीज से वृक्ष के परिवर्तन प्रक्रिया के समान सृष्टि की प्रक्रिया को सतत् माना है। न्यायकुसुमांजली के पंचम स्तबक में आस्तिक एवं नास्तिक सम्प्रदाय द्वारा प्रस्तुत आपत्तियों एवं उदयनाचार्य द्वारा इन आपत्तियों को तार्किक निराकरण किया गया है।

न्याय के आचार्य ईश्वर को नित्य, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, कर्मफलदाता, रचनाकार, 'वेद के आधार' है। उद्योतकर के अनुसार ईश्वर के गुण, उनकी कार्य–प्रणाली को दर्शाते हैं जो ईश्वर का बोध कराने में सहायक प्रमाण रूप है।

इश्वरौर्व्य निराकारः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान।
अनादिरविकारी चान्यतः सर्वगतो विभः।।
सच्चिदानन्दरूपी या दयालुर्न्याय तत्परः।
सर्गस्थितो लये हेतु नित्यतृप्तो निराश्रयः।।[2]

उद्योतकर के द्वारा वर्णित ईश्वर के गुणों को ईश्वर–सत्ता सिद्धि में शब्द एवं अनुमान प्रमाण की सहायता से सिद्ध करने का कठिन प्रयास करते हैं आचार्य उदयन।

प्रथम स्तबक में ईश्वर की सत्ता के विषय में सर्वप्रथम विप्रतिपत्ति का निराकरण किया गया है जो मुख्यतः चार्वाक मत से सम्बन्धित है। इस विप्रतिपत्ति के अनुसार अलौकिक परलोक साधन का अभाव होने से ईश्वर की सत्ता नहीं है। प्रथम स्तवक का विप्रतिपत्ति वाक्य है 'अलौकिकस्य परलोक साधनस्याभावात्'। यह विप्रतिपत्ति चार्वाक मत को प्रकट करती है जिनसे निम्नलिखित अर्थ निकलते हैं–

1. अलौकिक सत्ता नहीं है ('अदृष्ट') ।
2. स्वर्ग/नरक का अभाव ।
3. अलौकिक सत्ता एवं परलोक की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रभाव से संभव नही।
4. 'अदृष्ट का प्रत्यक्षीकरण न होना उसके कारण स्वरूप को असंभव बनाता है।
5. कार्यकरण भाव के स्थान पर स्वभाववाद का पक्षधर होना।

वस्तु का नित्य व अनित्य होना, विचित्र होना, अग्नि का उष्ण होना, जल का शीतल होना वायु का स्पर्शवान होना आदि पदार्थ की विशिष्ठता एवं स्वभाव है जो किसी वाहय दैविक सत्ता से नियत्रिंत एवं निर्मित नहीं होती अतः अदृष्ट का आधार जगत का रचनाकार एवं संहार कर्त्ता, कर्म फल का दाता, और वेद का प्रणेता ईश्वर की सत्ता असिद्ध एवं मिथ्या है। उपरोक्त मत चार्वाक के निरिश्वरवादी विचारधारा को प्रकट करते है । चार्वाक के उपरोक्त मत के खण्डन हेतु आचार्य उदयन ने निम्नलिखित तर्क दिये है–

सापेक्षत्वादनादित्वात् वैचित्यात् विश्ववृत्तितः।
प्रत्यात्मनियमाद भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः।।[3] न्यायकुसुमाञ्जलि, 1–4

सापेक्षत्वाद 'कार्य और कारण' के मध्य सापेक्ष सम्बन्ध का समर्थन करता है, कारण के रहने पर कार्य का होना और कारण के न रहने पर कार्य का न होना कार्य की विचित्रता के आधार पर कारण में वैचित्य का होना। संसारिक विविधता, क्रिया, प्राणी के कर्मानुसार भोग में विविधता आदि सभी अलौकिक कारण की ओर संकेत करते है। अनादित्वात् कार्यकारणभाव की अनादि अवस्था का समर्थन करते है अर्थात बीज व अंकुर की प्रमाणिकता में अनवस्था का अनादिकाल से बना रहना कार्यकारण भाव का खण्डन नहीं करता अपितु समर्थन करता है। कार्य की वैचित्र्य, कारण के वैचित्र्य पर निर्भर है जो संसारिक वैचित्य के कारण ईश्वर की विलक्षण स्वरूप को मानते है। स्वर्ग और अभिष्ट फल की प्राप्ति के लिए यज्ञ एवं होम को कारण के रूप में नही स्वीकार किया जा सकता क्योंकि यज्ञ के नष्ट होने पर फल नष्ट नही होता अतः उक्त जन्मान्तर मिलने वाले फल के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर को स्वीकार किया जाता है। ईश्वर निमित्त कारण के रूप में सहकारी कारण (माया प्रकृति, शक्ति) से संसार की सृष्टि करता है। आचार्य उदयन 'निमित्त कारण स्वरूप ईश्वर' की प्रथम स्तवक के उपसंहार पद्य में स्तुति करता है जिसमें आचार्य शक्ति स्वरूप, शांति प्रदाता, अदृष्त फलदायक, विरतप्रपरचना कोलाहल के केन्द्र स्वरूप 'ईश्वर' सभी प्राणी को शांति प्रदान करें।

न्यायकुसुमाञ्जलि के द्वितीय स्तवक में ईश्वर के विरूद्ध मीमांसीय विप्रतिपत्ति का निराकरण किया गया है। मीमांसा कर्म कांडीय दर्शन है अतः परलोक प्राप्ति के साधन के रूप में यज्ञ के अनुष्ठान का समर्थन करते है और वेदों की अनंतता और वैदिक सूत्रों और अनुष्ठानों की प्रभावकारिता में विश्वास करते थे। मीमांसक कहते हैं, ईश्वर का कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि स्वर्ग प्राप्ति के साधन ऐसे किसी भी अस्तित्व से स्वतंत्र रूप से अपनाए जा सकते हैं। यज्ञ, जो स्वर्ग प्राप्त करने के साधन हैं, ईश्वर के बिना भी किए जा सकते हैं, क्योंकि वेद अपनी शाश्वतता और दोषों से मुक्त हैं। 'स्वर्गकामो यजेत्' को मानते हुए सृष्टि एवं प्रलय के कारक 'ईश्वर' को सत्ता को अस्वीकार करते है। मीमांसक इस मत के निराकरण हेतु आचार्य ने निम्नलिखित युक्ति द्वारा किया है।

प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलय संभवात् तदन्यास्मित्रविश्वासात् न विधान्तरसंभवः।।[4] न्यायकुसुमाञ्जलि, 2–1

प्रमा प्रमाणाधीन है सर्ग प्रलयाधीन और दोनो ही ईश्वर पर विश्वास के बिना संभव नही। मीमांसक यह मानते हैं कि जीवो द्वारा किये गये कर्म 'अपूर्व' को उत्पन्न करते है जो जीवो की सुख–दुःख प्राप्ति का कारण बनता है। अपूर्व 'साकरात्मक ऊर्जा' है जो व्यक्ति के प्रयास को उचित परिणाम प्राप्ति की ओर अग्रसर करता है, यह यज्ञकर्त्ता की सफलता का श्रोत है क्योंकि मीमांसा दर्शन यज्ञ दि अनुष्ठान एवं वेद को प्रमाणित मान स्वर्गादि की प्राप्ति को मानव को

सर्वोच्च का यथार्थ लक्ष्य मानता है। अपूर्व धर्म एवं अधर्म का आधार है। परन्तु न्यायिक धर्म–अधर्म रूपी अदृष्ट को परमेश्वर द्वारा संचालित मानते है। आप्त पुरूष ईश्वर के वचन प्रमाण है वेद का, क्योकि ईश्वर, राग, द्वेष से रहित यथार्थ ज्ञाता है और समवाय संबंध के द्वारा यथार्थ वाक्यार्थ का बोध वक्ता रूपी 'ईश्वर' को ही रहता है। वेद स्वयं में प्रमाण नही हो सकते क्योकि नैयायिक के अनुसार वेद के वर्ण समूह जो शब्द के रूप में उच्चारित होते है वह उच्चारित होने के पश्चात नष्ट हो जाते है अतः अनित्य होने से वह स्वतः प्रमाण नही। वक्ता के वाक्यार्थ ज्ञान रूपी गुण से उत्पन्न होने के कारण और उक्त गुण का आधार स्वरूप ईश्वर को मानना आवश्यक बन जाता है। मीमांसक प्रलय को नही मानते एवं छह प्रमाणो के माध्यम से उसका अभाव सिद्ध करते है। जिसके परिणाम स्वरूप प्रलय के कारण ईश्वर की सत्ता का भी बोध होता है। मीमांसक कहते है–

1. सृष्टि, सनातन काल से चली आ रही है और दिन रात नियम पूर्वक होती है जो प्रलय मानने से यह पूर्व के दिन रात समान सिद्ध नही हो पायेगा।
2. कर्म, काल जन्य एवं भोग जन्य है। काल एवं भोग में व्याप्ति है, जो प्रलय को मानने से नष्ट हो जाती है।
3. काल, संसार का आधार है और जीवो की धर्म एवं अधर्म का भी, अतः प्रलय को मानना सभी वृत्तियों की निरूद्ध अवस्था के समान होगा।
4. ब्राहमण से ब्राहमण का जन्म, प्रलय को मानने से संभव नही हो पायेगा।
5. प्रलय के पश्चात् सृष्टि की शुरूआत में वस्तु निर्माण–परम्परा का कोई निर्माता नही रहेगा।
6. प्रलय मानने पर पदार्थो के संकेतक शब्द जो पदार्थ के अभाव में उनके अर्थ का ज्ञान न करवा पायेगे जिससे शब्द का व्यवहार ही संभव नही हो पायेगा।

मीमांसा की उपरोक्त आपत्तियों का निराकरण आचार्य उदयन निम्न युक्तियों के माध्यम से करते है।

वर्षादिवद्भवोपाधिर्वृत्तिरोधः सुषुप्तिवत्।
उद्भिद्वृश्चिकवद् वर्णामायावत् समयादयः।।[5] न्यायकुसुमाञ्जलि, 2–2

वर्षादि के दिनों के समान, संसार की स्थिति ही नियम है अर्थात वर्षा के दिन के विषय में ज्योतिषशास्त्र कहता है कि सूर्य का विशेष लग्न में आने से वर्षा होती है उसी प्रकार संसार के संसार की स्थिति है और दिन से पूर्व रात्रि और रात्रि से पूर्व दिन का नियम है, सर्ग से पूर्व प्रलय एवं प्रलय के पूर्व सर्ग है। कर्म फल में भी सर्ग एवं प्रलय बाधक नही क्योंकि प्रलय के समय जीव के कर्म निरूद्धावस्था में होते है और सर्ग में उक्त कर्म के फल स्वरूप मनुष्य जन्म, सुख एव दुःख प्राप्त

होता है। सर्ग प्रलय, की अवस्था, सुषुप्ति एवं स्वप्न, जागृत अवस्था के समान है जिस प्रकार सुषुप्ति की अवस्था में सुख दुःख का भाव निरूद्ध हो जाता है तो उसी प्रकार कर्म फल के प्रवाह का निरूद्ध हो जाना प्रलय काल के समान है अतः कर्म फल की व्यवस्था सर्ग प्रलय के लिए बाधक नही। आचार्य उदयन कहते है जिस प्रकार जन्म, संस्कार, विद्या, शक्ति, स्वाध्याय तथा योग आदि कर्म समूह में ह्रास के निरन्तर क्रम को देख कर वेद का प्रलय की अवस्था में ह्रास होना स्वभाविक लगता है। सृष्टि के समयानुसार ह्रास प्रलय का सूचक है। सृष्टि एवं प्रलय, शाश्वत रूप से चलती आ रही निर्माण परम्परा है।

'जन्म संस्कार विद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः।
ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम् ।।[6] न्यायकुसुमाञ्जलि, 2–3

आचार्य उदयन मीमांसा के मतो के विरूद्ध कहते है कि ईश्वर अदृष्ट (माया, शक्ति) की सहायता से सृजन एवं संहार करता है जो उसके लिए क्रीड़ा समान है अतः इस अशरीरधारी, मनन योग्य एवं विश्वास के आधार परमात्मा रूपी शिव को आचार्य उदयन समर्थन करते है।

बौद्ध दार्शनिक तृतीय स्तवक में ईश्वर के निराकरण में सहायक (प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि आदि प्रमाणों की उपलब्धि) को आधार बनाकर ईश्वर के अस्तित्व को असिद्ध मानते है। बौद्ध ईश्वर की अनुपलब्धि अर्थात् अप्रत्यक्ष के आधार ईश्वर की सत्ता का खण्डन करते हैं। अनुपलब्धि प्रमाण जो अभाव सूचक है , ईश्वर के अभाव को सिद्ध करता है। जिस प्रकार भूतल पर घट है तो वह उपलब्ध है और अगर नहीं है तो वह अनुपलब्ध है उसी प्रकार ईश्वर जिसमें प्रत्यक्ष योग्यता का अभाव है और नेत्रों से जिनके दर्शन नही हो सकते वह अनुपलब्ध है। जिनका प्रत्यक्ष नही होता उनका अनुमान भी नहीं हो सकता है जैसे अलौकिक पदार्थ – शश श्रृंग, बन्ध्या पुत्र, आकाश कुसुम। ईश्वर के अभाव को सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्ष द्वारा अनेक अनुमान प्रस्तुत किये गये हैं, किन्तु उन सभी में आश्रयसिद्धि या स्वरूपसिद्धि हो जाने से अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती है।

ईश्वर की सत्ता के विरोधी कहते हैं कि ईश्वर केवल 'शश के सींग' के समान शब्दमात्र है जिसका कोई अस्तित्व नहीं क्योंकि 'शशश्रृंग' के समान ईश्वर भी अनुपलब्धि है। उक्त युक्ति आश्रयसिद्धि एवं ईश्वर सिद्धि में बाधक नहीं, क्योंकि शशश्रृंग जो स्वयं में अभावयोग्य है वह ईश्वर के अभाव को किस प्रकार सिद्ध कर सकता है, क्योंकि अभाव से अभाव का बोध कैसे हो सकता है और योग्यानुपलब्धि (शशश्रृंग, बन्ध्यापुत्र) से अयोग्यानुपलब्धि (वायु, आत्मा, काल, मन) का बोध कैसे हो सकता है, क्योंकि दोनों भिन्न प्रकार की अनुलब्धि है। यह तो उसी प्रकार हास्यजनक बात होगी जहाँ हम कहते हैं कि–

बन्ध्यापुत्रः समायतिखपुष्पकृत शेखरः।
मृगतृष्णाजलं पीत्वा शशश्रृंग धनुर्धरः।।[7]

अर्थात आकाश में खिलने वाले पुष्पों मुकुट पहन, मृगतृष्णिका के स्वच्छ जल को ग्रहण कर, शशश्रृंग से बना धनुष धारण कर, बन्ध्या का पराक्रमी पुत्र युद्ध करने चला आ रहा है। इस प्रकार तृतीय स्तवक में ऐसे बहुत सी युक्तियाँ का प्रतिपादन आचार्य ने किया है जो नास्तिक सम्प्रदाय द्वारा ईश्वर के अभाव को सिद्ध करने में प्रमाण की भूमिका को दर्शाती है, परन्तु आचार्य ने बड़ी ही कुशलता एवं विद्वता के साथ प्रत्येक ईश्वर–सत्ता विरुद्ध प्रमाणों का विश्लेषण कर हेत्वाभास, तार्किक दोष को दर्शाते हुए ईश्वर बाधक प्रमाण को असंगत सिद्ध किया है।

चतुर्थ स्तबक में ईश्वर की सत्ता के विषय में विप्रतिपत्ति 'सत्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात्'[8] को दिखलाया गया है जो मुख्यतः जैन सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इस विप्रतिपत्ति के अनुसार यदि ईश्वर को मान भी लिया जाये तथापि वह प्रमाण नहीं है। चतुर्थ स्तबक में ईश्वर विषय ज्ञान को प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जाता, क्योंकि ईश्वर के ज्ञान में प्रमा का लक्षण नहीं दिखलाई पड़ता। प्रमा वह है जो अज्ञात विषय का बोध कराये (अनाधिगतार्थगन्तृत्वं प्रमात्वम्) परन्तु ईश्वर सर्वज्ञ है और उसके लिए कोई विषय अनधिगत नहीं अतः ईश्वर ज्ञान में प्रमा का लक्षण दृष्टिगत नहीं होता और इस अवस्था में ईश्वर के उपदेश स्वरूप वेदवाक्य प्रमाणजन्य नहीं होंगे। उपरोक्त प्रमा के लक्षण में अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोष हैं। आचार्य उदयन कहते हैं–

अव्याप्तेरधिकव्याप्तेरलक्षणमपूर्वदृक्।
यथार्थानुभवों मानमनपेक्षतयेष्यते।।[9] न्यायकुसुमाञ्जलि, 4–1

प्रमा का लक्षण अग्रहीतार्थ ग्राहित्वम् मानने से धारावाही ज्ञान अव्याप्त हो जायेगा, क्योंकि प्रमा में वस्तु का बोध निरन्तर बना रहता है और जो ज्ञान विस्मृत हो गया है उसके पुर्नज्ञान में अव्याप्ति दोष होगा। प्रमा की इस परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष भी पाया जाता है, क्योंकि इस लक्षण द्वारा शुक्ति में रजत और रज्जु में सर्प को भ्रान्ति न मानकर ज्ञान मानना होगा। अतः प्रमा का लक्षण अग्रहीतार्थ ग्राहित्वम् रूप में संभव नहीं। आचार्य उदयन यथार्थानुभवत्वम् को प्रमा का लक्षण स्वीकार कर ईश्वरज्ञान को सिद्ध करते हैं। यथार्थानुभव एवं स्मृतिज्ञान दोनों भिन्न हैं, क्योंकि स्मृति की उत्पत्ति में पूर्व अनुभव का होना जरूरी है और यथार्थानुभव में दूसरे पूर्व अनुभव की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि यह स्वयम् में यथार्थ है। ईश्वर की सत्ता के विषय में सांख्य मत की विप्रतिपत्ति है कि ईश्वर के साधक प्रमाणों का अभाव होने से ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती है, पञ्चम

स्तबक में आचार्य ने ईश्वर साधक प्रमाण के अभाव का निराकरण करते हुए ईश्वर साधक प्रमाण के रूप में आठ –हेतुओं की चर्चा की है–

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् सङ्ख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।।[10]

न्यायकुसुमाञ्जलि, 5–1

(कार्यातः, आयोजनात्ः, धृत्यादै, पदात्, श्रुतेः, प्रत्ययतः,वाक्यात्ः, संख्या विशेषः)

क्षित्यादिकं सकर्तकं कार्यत्वात् घटवत्11 अर्थात् क्षिति जो कार्य स्वरूप है वह कर्त्ता से उत्पन्न होता है जिस प्रकार घट रूपी कार्य को जुलाहा रूपी कर्त्ता करता है। जिस प्रकार जुलाहा को समवायिकारण स्वरूप गीली मिट्टी का ज्ञान रहता उसी प्रकार संसार के समवायिकारण स्वरूप अतीन्द्रिय परमाणु समूह का ज्ञान एवं उसमें गति उत्पन्न करने की शक्ति साधारण जन में संभव नहीं है उसमें गति उत्पन्न करता है चेतन 'ईश्वर'।

आ–समन्तात्–सर्वतोभावेन,
युज्यते–द्रव्ययुगलम् अनेनइति आयोजनम्[12]

आयोजन पद चेतन क्रिया को इंगित करता है जो संयोग के माध्यम से अचेतन परमाणुओं को संक्रिय कर सृष्टि में सहायक बनाते हैं और इस आयोजन को संभव बनाता है चेतन 'ईश्वर'। जगत को धारण करने एवं संहार करने का सामर्थ्य रखने वाला, जगत का अधिष्ठाता है ईश्वर।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते
येन जातानि जीवन्ति
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति[13] (तैत्तिरीय उपनिषद 3.1.1)

पद्यते गम्यते व्यवहारोऽनेन इति पदम्[14] , पद वह है जो व्यवहार को दर्शाये और सृष्टि के निर्माण में जिस कौशल एवं व्यवहार की आवश्यकता होती है वह सर्वज्ञ 'ईश्वर' में ही पाया जाता है। ईश्वर का साधक हेतु प्रामाण्य है जो प्रत्यय सूचक है। आगम प्रत्ययधारी है, क्योंकि यह ईश्वर का उपदेश है। श्रुति (वेद) जिसका उपदेश अज्ञान, भ्रम आदि से रहित है जो सत्य ज्ञान सूचक है, जिसके ज्ञान से मानव का कल्याण एवं इष्ट की प्राप्ति होती है। उस वेद का उपदेशक आप्त पुरुष या योग का पुरुष विशेष ईश्वर है। वेद–वाक्य अपौरूषेय है, क्योंकि यह सर्वज्ञ एवं नित्य ईश्वरकृत है। योग दर्शन के पुरुष विशेष गुण से सम्पन्न एवं क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय से रहित 'ईश्वर' वेदवाक्य के उपदेशक है। वेदान्तकृत वेदविदेव चाहम्।[15] गीता के ये वचन 'ईश्वर' को वेद के कर्त्ता एवं ज्ञाता रूप को परिभाषित करते हैं। संख्या विशेष से तात्पर्य पदार्थों की संख्या से जो सृष्टि के निर्माण में सहायक होते हैं, द्वयगुण जो दो परमाणुओं के संयोग से

उत्पन्न होते हैं, उसके विषय में ज्ञान एवं उसमें चेतना का प्रवाह करने वाला सर्वज्ञ ईश्वर है।

श्रद्धा और भक्ति के माध्यम से आस्तिक व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व को सहज ही स्वीकार कर लेता है, परन्तु एक दार्शनिक उचित प्रभावों के अभाव में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं कर सकता और यही कारण रही है कि मिथिला की परम्परा के दार्शनिक श्रद्धा एवं विश्वास को तार्किक आधार प्रदान कर प्रमाणित रूप में प्रस्तुत करने की अद्‌भुत साहस रखते हैं और उनकी यही विशेषता है। पाश्चात्य दर्शन के ईश्वर सम्बन्धी विचार एवं सत्ता सिद्धि के प्रयुक्त तर्कों से सर्वोच्च बनाती है। मिथिला की ईश्वर के प्रति तार्किक विश्वास की परम्परा से अद्‌भुत योगदान देने वाले आचार्यों में आचार्य उदयन का नाम एवं उनकी कृति 'न्यायकुसुमाञ्जलि' सर्वोच्च स्थान रखती है। आचार्य उदयन में अपनी कृति 'न्यायकुसुमाञ्जलि' के माध्यम से 'अनुभवाश्रित प्रमाण' के रूप में स्मृतिमूलक, प्रमाण, प्रयोजन, मूलक प्रमाण, नीतिपरक, प्रमाण के साथ–साथ धर्म एवं आस्था पर आधारित अनुभव से सम्बन्धित प्रमाणों की सहायता से ईश्वर की सत्ता सिद्धि में बाधक विचारों का निराकरण कर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध किया है।

संदर्भ

1. न्यायकुसुमाञ्जलि, 1–2
2. बंदिष्टे, डॉ० डी०डी० एवं डॉ० रमाशंकर आर्य, 1999 भारतीय दार्शनिक निबन्ध, भोपाल : मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ 23
3. न्यायकुसुमाञ्जलि, 1–4
4. न्यायकुसुमाञ्जलि, 2–1
5. न्यायकुसुमाञ्जलि, 2–2
6. न्यायकुसुमाञ्जलि, 2–3
7. शास्त्री, पं० जगदीशचन्द्र, 2015, 'न्यायकुसुमाञ्जलिः', सम्पादक डॉ० धर्मेन्द्र शास्त्री, दिल्ली : विद्यानिधि प्रकाशन, पृ 63
8. झा, डॉ० किशोर नाथ, 2017, न्यायशास्त्र में आचार्य उदयन का अवदान, सम्पादक डॉ० नन्दकिशोर चौधरी, वाराणसी : मनीष प्रकाशन, पृ 63
9. न्यायकुसुमाञ्जलि, 4–1
10. न्यायकुसुमाञ्जलि, 5–1
11. वही, पृ 66
12. वही, पृ 67
13. तैत्तिरीय उपनिषद 3.1.1
14. वही, पृ 68
15. वही, पृ 70

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

ज्ञान का स्वरूप : जैन दर्शन के आलोक में

डॉ. रामधनी राम *

ज्ञान शब्द 'ज्ञ' धातु से बना है जिसका अर्थ है जानना, बोध, साक्षरता अनुभव अथवा प्रकाश। सरल शब्दों में कहा जाए तो किसी विषय वस्तु के स्वरूप का अनुभव करना ज्ञान है। ज्ञान के स्त्रोत उन साधनों को संदर्भित करते हैं जिनके माध्यम से कोई मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर रहा है। ज्ञान का अर्थ किसी भी मनुष्य द्वारा अनुभव या शिक्षा के माध्यम से प्राप्त कौशल तथ्य का जानकारी या यदि कोई जिज्ञासु है तो वह वस्तु स्थिति स्पष्ट करने के लिए ज्ञान के ज्ञान स्त्रोतों की खोज का अन्वेषण करेगा।[1]

जैन दर्शन में ज्ञान को दो भावों से अध्ययन किया गया है। एक है स्वाभाविक ज्ञान और दूसरा है विभाव ज्ञान। जिस ज्ञान का सम्बन्ध आत्मा से होता है अर्थात् जिस ज्ञान में इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती उसे स्वाभाविक ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान में मिथ्यात्व की जरा भी गुंजाइश नहीं रहती है। यह स्थिति केवल ज्ञान की है। विभाव ज्ञान के अन्तर्गत सम्यक्–ज्ञान तथा मिथ्या–ज्ञान आते हैं। सम्यक्–ज्ञान यानी यथार्थ ज्ञान। जैन दर्शन में पांच प्रकार के ज्ञान माने गये हैं– मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय तथा केवलज्ञान। आचार्य कुकन्दकुन्द ने मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्याय को सादि और भ्रान्त माना है तथा अन्तिम केवलज्ञान सादि और अनन्त ज्ञान है। इनमें से प्रथम चार को उन्होंने विभाव ज्ञानोपयोग तथा अन्तिम को मनः पर्याय तथा केवलज्ञान को सम्यक्–ज्ञान माना है। इस प्रकार ज्ञान की उपयोगिता सिर्फ जैन दर्शन या भारतीय दर्शनों में ही नहीं बल्कि विश्व के सम्पूर्ण दर्शन में प्राप्त होता है।

मतिज्ञान : इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है।[2] मतिज्ञान के चार भेद हैं – अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।[3]

** सहायक प्राध्यापक, प्राकृत एवं जैनशास्त्र विभाग, वीर कुँवर सिंह वि.वि., आरा*

अवग्रह : विषय और विषयी का सम्बन्ध होने के बाद किसी वस्तु या पदार्थ का जो सामान्य ज्ञान होता है वह अवग्रह है। व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह– ये अवग्रह के दो प्रकार हैं। प्रथम ज्ञान की अव्यक्तावस्था है और द्वितीय व्यक्तावस्था प्रथम अवस्था में ज्ञान इतना क्षीण रहता है कि ज्ञाता को उसका बोध नहीं होता। व्यंजनावग्रह से अर्थावग्रह की स्थिति तक की प्रक्रिया को सकोरे के उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है, जैसे– मिट्टी के नय सकोरे पर पानी की दो बूँदें पड़ती हैं लेकिन उसमें पानी का पता नहीं चलता है। लेकिन पानी की बूँदें पड़ती हैं लेकिन उसमें पानी का पता नहीं चलता है। लेकिन पानी की बूँदें जब लगातार सकोरे पर पड़ती हैं तो अन्त में वह गीला हो जाता है और उसमें जल दिखाई देने लगता है। सकोरे में जल की अव्यक्तावस्था व्यंजनाग्रह होने के बाद अर्थावग्रह होता है।

ईहा : अवग्रह ज्ञान से जो सामान्य बोध होता है उसके विषय में विशेष रूप से विचार करना ईहा कहलाता है। ईहा ऊह, तर्क, परीक्षा, विचारण, अपोह, मार्गण, गवेषणा आदि नामों से भी सम्बोधित किया गया है।[3] अवग्रह में यह ज्ञात होता है कि ध्वनि है। इहा में यह जिज्ञासा होती है कि यह ध्वनि किसकी है ? यह रमेश की है या सुरेश की है। यदि रमेश होता तो भाई कहकर सम्बोधित करता, हो सकता है यह ध्वनि सुरेश की हो। यह ईहा की स्थिति है। ईहा को देखने से ऐसा लगता है कि यह ज्ञान की संशयात्मक स्थिति है। लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि यह आगे चलकर किसी संभावना पर पहुँच जाती है।

अवाय : ईहा द्वारा गृहीत अर्थ को भाषा आदि के द्वारा निर्णय करना अवाय ज्ञान है। इनमें यह ज्ञान हो जाता है कि ध्वनि रमेश की नहीं बल्कि सुरेश की है। इसमें वास्तविकता का बोध तथा अवास्तविकता का निवारण हो जाता है। नन्दीसूत्र में अवाय के लिए आवर्तना, प्रत्यावर्तना और विज्ञान आदि पर्यायवाची शब्द बताये गये हैं।

धारणा : यह मति ज्ञान का चौथा स्तर है ज्ञान दृढ़ हो जाता है यह निश्चित हो जाता है कि यह ध्वनि रमेश की है और उसे हम धारण कर लेते हैं। धारणा को स्मृति का कारण माना गया है। नन्दीसुत्र में धारणा के लिए धरनी, स्थापना, कोष्ठा, प्रतिष्ठा, आदि पर्यायवाची शब्द बताये गये हैं।[4] तर्कभाषा में भी धारणा के प्रतिपति, अवधारणा, अवस्थान, निश्चय, आवागमन, अवबोध, आदि पर्यायवाची बताये गये हैं।[5]

श्रुतज्ञान : श्रुतज्ञान के दो भेद हैं– अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। महावीर के वचनों के संकलित रूप को अंगप्रविष्ट कहते हैं तथा महावीर के बाद के आचार्यों के वचनों एवं अन्य परम्पराओं के धर्म व पथप्रदर्शकों के वचन को अंगबाह्य कहते हैं।

जैन परम्परा में मति और श्रुत को परोक्ष ज्ञान गया है। क्योंकि इन्द्रिय और वस्तु के सम्पर्क से प्राप्त होते हैं। इन दोनों के विषय भी समान होते हैं। अतः एक के ग्रहण करने पर दूसरे का भी ग्रहण हो जाता है। लेकिन दोनों में अन्तर भी हैं। मतिज्ञान कारण है तो श्रुतज्ञान कार्य हैं, क्योंकि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। मतिज्ञान वर्तमान से संबंधित होता है जबकि श्रुतज्ञान त्रिकालवर्ती पदार्थों को ग्रहण करता है।

अवधिज्ञान : आत्मा से रूपी पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान अवधिज्ञान है। इसके दो प्रकार हैं– भव प्रत्यय और गुण प्रत्यय। भव का अर्थ होता है– जन्म और प्रत्यय का अर्थ होता है– कारण। अर्थात् जिस अवधिज्ञान कहते हैं। यह देव और नारकियों को होता है।[6] इसी प्रकार जिस ज्ञान में सम्यवक्त्वादि गुण निमित्त बनते हैं वह ज्ञान गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान मनुष्य एवं तिर्यच्चों को होता है।[7]

मनःपर्यय ज्ञान : किसी के मन की बात बिना किसी के बताये जानना मनःपर्यय ज्ञान है। मनःपर्यय ज्ञान के दो भेद हैं ऋजुमति और विपूलमति। सरल, मन, वचन और काय से विचारे गये पदार्थ को जानने वाला ऋजुमति ज्ञान कहलाता है तथा सरल और कुटिल दोनों प्रकार से चिन्तित पदार्थ को जानने वाला ज्ञान विपूलमति कहलाता है।[8] आचार्य उमास्वाति के अनुसार ऋजुमति की अपेक्षा विपूलमति ज्ञान ज्यादा विशुद्ध है। उनका मानना है कि ऋजुमति ज्ञान होकर छुट जाता है, लेकिन विपूलमति ज्ञान एक बार हो जाने पर केवलज्ञान पर्यन्त रहता है।[9]

केवलज्ञान : केवलज्ञन सर्वज्ञता की स्थिति है। इस ज्ञान में ज्ञाता समस्त विषय और उसकी समस्त पर्यायें को जानने लगता है।[10]

संदर्भ

1. नियमसार, 1
2. वही 2
3. तदिन्द्रियाडनिन्द्रियनिमित्तम्, तत्त्वार्थसूत्र 3
4. तत्त्वार्थसूत्र 4
5. सर्वार्थथसिद्ध, 5
6. नन्दीसूत्र 6
7. वही 7
8. तर्कभाषा, 8
9. श्रतं मतिपूर्व द्वयनेकद्वादशभेदम्। तत्त्वार्थसूत्र 9
10. तत्त्वार्थसूत्र 10

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा रचित श्री परात्रिंशिका में अनुत्तर तत्त्व

डॉ. पूजा कुमारी *

प्रसिद्ध ग्रन्थ में अनुत्तरभट्टारक की स्वरूपमयी और कुलरूपिणी शक्ति माता 'श्री पराभट्टारिका' के अनुत्तरीय स्वरूप और कुल एवं अकुल के अनुत्तरीय समरसीभाव का विश्लेषण ही प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थं ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनीं में अनुत्तरीय प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्तित्व का जीता जागता चित्र प्रस्तुत किया है।[1]

श्री परात्रिंशिका शैवाद्वैत दर्शन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थरत्न है, जिसमें दार्शनिक एवं साधना का विलक्षण रहस्य समझाया गया है। यह शास्त्र त्रिकाचार के किसी प्राचीन जाने–माने सिद्ध पुरूष या आचार्य के द्वारा लिखी गयी कोई स्वतन्त्र रचना नहीं, बल्कि रुद्रयामल नामी अतिप्राचीन तन्त्र ग्रन्थ से चुने हुए तीस से कुछ ही अधिक अनुत्तर सूत्रों का संग्रहमात्र है। ग्रन्थ के अन्तिम सूत्र के दूसरे चरण–इत्येतद रूद्रयामलम्[2] में स्पष्ट शब्दों में रुद्रयामल तन्त्र को इस शास्त्र का उद्‌गम स्वीकारा गया है।

परात्रिंशिकाशास्त्र एक अतिगहन आगम ग्रन्थ है। भगवान् आशुतोष द्वारा इसमें सूक्ष्मतिसूक्षम आध्यात्मिक तत्त्व सूत्र रूप में समझाये गये है। त्रिकदार्शनिकों के अनुसार आगम ग्रन्थों में वर्णित प्रश्न एवं प्रतिवचन का वास्तविक अभिप्राय यह है कि अनुत्तर तत्त्व की अभिन्न शक्ति पराभट्टारिका का स्वरूप केवल अनुग्रह है। अनुग्रहमयी होने के कारण वह मात्र संसारी पशुओं का उद्धार करने के लिए एक ओर प्रसार क्रम में स्वयं पश्यन्ती एवं मध्यमा भूमिकाओं पर उतरकर प्रश्न पूछने

** सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग, रमेश झा महिला महाविद्यालय, सहरसा (भूपेंद्र नारायण मंडल विश्वविद्यालय, लालूनगर, मधेपुरा, बिहार)*

वाली देवी के रूप में दूसरी ओर संहार क्रम में अनुत्तर भाव पर अवस्थित रहकर उत्तर देने वाले भैरव के रूप में केवल स्वरूप का ही विमर्श करती रहती है। प्रसार की भूमिका पर यह सम्पूर्ण विश्व ही एक प्रश्न और संहार की भूमिका पर समाधान है। फलतः यह सारा प्रश्नरूपी और उत्तररूपी प्रपंच स्वतन्त्र पराशक्ति के अनुग्रहात्मक स्वभाव का ही खेल है।

प्रसिद्ध ग्रन्थ में अनुत्तरभट्टारक की स्वरूपमयी और कुलरूपिणी शक्ति माता 'श्री पराभट्टारिका' के अनुत्तरीय स्वरूप और कुल एवं अकुल के अनुत्तरीय समरसीभाव का विश्लेषण ही प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में अनुत्तरीय प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्तित्व का जीता जागता चित्र प्रस्तुत किया है। 'अनुत्तर' वह भूमिका है जिसमें तथाकथित भूमिकाये पार करके अपवर्ग को प्राप्त करने की कोई विवशता नहीं होती।

प्रस्तुत ग्रन्थ का दार्शनिक पक्ष अपने मूलभूत सिद्धान्तों पर अचल प्रतिष्ठित रहा है, साधना पक्ष में विभिन्न प्रकार के साधनमार्गों को आचारों की संज्ञा दी गयी है, त्रिकाचार भी इन्ही सम्प्रदायों में से एक आचार है और शैवदर्शन की विचार परम्परा में त्रिकाचार कहलाता है। यह ग्रन्थ पश्यन्ति भूमिका पर उतर कर अपने ही बहिर्मुखीन शाक्त प्रसार का रहस्य समझने की कामना से शिष्य के रूप में प्रश्न पूछने वाली भगवती परभैरवी पराभट्टारिका और पराभाव पर ही अवस्थित रहकर गुरू के रूप में उसके प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करने वाले उत्तरदाता –'पराभैरव' का पारस्परिक संवाद है।

अनुत्तर वही, जो उत्तर से अतिगत है। अर्थात अनुत्तर एक ही सर्वव्यापी, शाश्वतिक और स्वयं सिद्ध चेतना है जो कि समानरूप से स्वयं ही उत्तर अनुत्तर, एक साथ ही दोनों और दोनों से निरपेक्ष भी है। लोकोत्तर बोध और क्रियात्मक स्वातन्त्र्य का समरसीभाव ही मात्र इसका रूप है। स्वरूपतः वह न कम और न ज्यादा ही है और उसके अतिरिक्त और कोई भी सत्ता या महासत्ता न तो उससे अलग और न अधिक ही है। यह सम्पूर्ण ऐन्द्रियबोध से ग्राह्य; व्यक्त नामरूपात्मक या अव्यक्त कल्पनात्मक विश्वमय रूपविस्तार, स्थूलरूप से उत्तर दिखाई देता हुआ भी मूलतः सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुत्तर ही है। इसलिये वह (अनुत्तर) हर समय वर्तमान और हर वस्तु में व्यापक और सभी को प्रत्यक्ष ही दिखायी दे रहा है। उसको एकान्त हिमगिरी के उतुङ्ग शिखर पर बैठकर अन्नत आकाश की दूरियों या अपार पारावार की गहराइयों में ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं और न उससे

कोई लाभ ही है। वह तो ढूँढ़ने वाले के अन्तर मन में छिपी हुयी निजी हार्दिक स्फुरणा ही है। सृष्टि के उषाकाल से ही मानव अपने को जानने का संघर्ष करता आया है।

'अद्यापि यन्न विदितं सिद्धानां बोधशालिनाम्' (परात्रिंशिका पृष्ठ 48) खोई हुयी चीज ढूँढने पर मिल सकती है, परन्तु जो चीज अपने अन्दर या बाहर हर जगह मौजूद हो उसको कैसे ढूँढा जा सकता है?

अनुत्तर चतुर्दिक आत्मप्रकाश है, परन्तु जड़प्रकाश नहीं। वह तो सर्वव्यापी जीव, स्वभाव से ही चेतन, नित्य, आनन्दमय सबकुछ चाहनेवाला और सबकुछ जाननेवाला तत्त्व है। चिदात्मा होते हुये वह न तो ऐकान्तिक इच्छा और न ऐकान्तिक ज्ञान ही कहा जा सकता है, इन दोनों की समन्वितरूपिणी क्रियाशक्ति अर्थात् कण–कण में स्पन्दायमान रहनेवाली गति अथवा दूसरे शब्दों में हृदयगति की तरह अविराम रूप से चलती रहनेवाली विश्वात्मिका हलचल ही उसका शरीर है।[3]

यह पारमेश्वरी क्रियाशक्ति सर्वस्वतन्त्र, है फलतः शाश्वतिक क्रियात्मकता ही अनुत्तर का स्वातन्त्रय है। यह प्रतिसमय देश, काल और आकार की सीमाओं से जनित इयत्ताओं का तार आगे–आगे बढ़ाती रहने पर भी स्वयं इनकी वशवर्तिनी नहीं है।[4]

अनुत्तर सर्वव्यापी 'आत्म प्रकाश' अर्थात् आत्मा की चिन्मात्रमयी बोध की अवस्था है। यह आत्मिक बोध सूक्ष्माति सूक्ष्म, सब दिशाओं में सामान्य रूप से व्यापक, सुचारू ढ़ंग से व्यवस्थित शाश्वतिक और स्वभाव सिद्ध है। स्पष्ट शब्दों में यदि कहा जाये तो शैव मान्यता के अनुसार अनुत्तरीय बोध वास्तव में परिपूर्ण चैतन्य ही है।

इस अनुत्तरीय रूप विस्तार के दो पार्श्व हैं। एक विश्वोत्तीर्ण और दूसरा विश्वमय। विश्वोत्तीर्ण परिपूर्ण होने के कारण आकांक्षारहित है आकांक्षा न होने कारण उसमें गाँठ ही नहीं है। वह तो मौलिक समरसतामयी आत्म–अवस्था होने के कारण द्वैतहीन द्वन्दरहित एक स्वभाविक अवस्था है। शास्त्रों में इसे संहारमयी या पूर्णतः स्वरूपविश्रान्ति की अवस्था कहा गया है।[5]

त्रिकशास्त्रियों ने अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में अनुत्तरीय हृदय की प्रमुख सोलह गाँठो का विश्लेषण किया है। यह सोलह ग्रन्थियाँ अनुत्तर भाव पर पहुँच पाने के मार्ग में दुर्मेद्य प्राचीरें है। वीर पुरूष केवल अपने अडिग आत्मविश्वास अथक

प्रयास, निरन्तर मानसिक परिष्कार और सर्वोपरि सदगुरूओं के कृपाकटाक्ष से ही इनको परास्त करने में सक्षम बन जाते हैं। इन सोलह गाँठो पर अनुसन्धान करने और सबसे पहले अपने–आप पर इनका परीक्षण करने के उपरान्त किसी अन्य व्यक्ति को इसका ज्ञान कराना चाहिये। इन आत्मिक विडम्बनाओं और जधन्य कुत्साओं से एक बार आत्मा का पिण्ड छूट गया तो वही मुक्ति है और आत्मा की स्वभाविक अनुत्तर अवस्था है।

चैतन्य केवल उसी पदार्थ को माना जा सकता है जिसमें विमर्शशक्ति स्वभाविक रूप से विद्यमान है। विमर्श की चेतना ही चेतनता अथवा स्पन्दमयी गति है। इसी गति को बहिरंग विश्वरूप में विसर्ग अर्थात सृष्टि के रूपवाले प्रसार अथवा दूसरे शब्दों में रूपविस्तार का अत्यन्त दुर्घट कार्य सम्पन्न हो जाता है। चैतन्य पदार्थ का जीवन बना हुआ यह विमर्शमय स्पन्दन ही उसकी अभिन्न शक्ति है। इसी शक्ति को यहाँ परा–भट्टारिका कहकर आचार्य अभिनवगुप्त इस सृष्टिमयी शक्तिमता के प्रति अपनी अपार श्रद्धाभक्ति का भाव दर्शाते हुये इसे भट्टारिका–परा आदि नामों से इंगित करते है। यह पारमेश्वरी विमर्शशक्ति सूक्ष्म है अर्थात् यह विमर्शमयी गति साधारण प्राकृतिक बुद्धि या ज्ञान से गम्य नहीं, क्योंकि इस विमर्शमय संवित्, भाव के क्षेत्र में बुद्धि और ज्ञान इन दोनों के स्थूल भेदभाव का कोई अवकाश नहीं है।[6]

त्रिकशास्त्रियों की मान्यता के अनुसार यह विमर्शमयी संवित् शक्ति ही प्राथमिक प्रतिभा है। जिसमें किसी भी प्रकार के संकोच अथवा देशकालादि से जनित इच्छाओं के लिये कोई स्थान नहीं है।[7]

'कुल' और त्रिक दोनों प्रक्रियाओं में भगवती पराभट्टारिका को (कौलिकी) अर्थात् कुलशक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है, और इसको अनुत्तरीय हृदय में हमेशा स्पन्दयमान रहनेवाली हृदयगति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अनुत्तर तत्त्व ही बहिर्मुखीन प्रसार की प्रक्रिया में अनन्त प्रकार के पशुप्रमाता और प्रमेयों के रूपों में विकसित होने पर कुल' अर्थात– समूह कहा जाता है। इस कुल की वर्त्तमानता और बहिरंग रचना नाना प्रकार की कायाओं, उनमें वर्त्तमान रहने वाले प्राण, अपान इत्यादि के तारतम्य और परस्परभिन्न नीलसुख आदि प्रमेयवर्ग के विचित्र रूपों में प्रत्यक्ष दिखायी देती है। कुल के इन सारे रूपों में स्वभाव से ही कोई अलक्ष्य परन्तु सामान्य स्पन्दमयी शक्ति निहित रहती है जो इनको अपने–अपने अपेक्षित कार्यो को यथावत् रूप में सम्पन्न करने के लिए सक्षम बनाती यही शक्ति कुलशक्ति है। जो सम्पूर्ण विश्वमय कुल को सुव्यवस्थित ढंग से पूर्ण रूप में आगे

बढ़ाने की प्रेरणा देनेवाली कुलनायिका भी है। अनुत्तरमय हृदय शाश्वतिक रूप में पराभट्टारिकामयी विमर्श शक्ति से ओतप्रोत है। इसी कारण इस विमर्श शक्ति को कौलिकी अथवा कुलशक्ति कहा जाता है।[8]

अनुत्तरीय प्रकाशपुंज का सीधा साक्षात्कार असम्भव है। उसका साक्षात्कार पराशक्ति के स्फार का रूप धारण करने वाले 'कुल' में ही सम्भव हो सकता है। अपने ही हृदय में विद्यमान शक्ति ही अपनी मौलिक अनुत्तरीय आत्मासत्ता का साक्षात्कार करवा लाती है।[9]

भगवती पराभट्टारिका विमर्शमयी होने के कारण स्वभाव से ही अविराम और अखण्ड रूप में स्पन्दायमान रहनेवाली है अतः यही अनुत्तरीय क्रियाशक्ति है। परमेश्वर की क्रियात्मकता होने के कारण यही उसका स्वातन्त्र्य है। इसके इस स्वभावसिद्ध प्रसारात्मक धर्म को ही त्रिकशब्दों में विसर्ग अथवा विसर्गमयता कहते हैं। अतः भगवती पराभट्टारिका स्वभावतः वैसर्गिकी कला ही है। इस प्रसारक्रम में पहला स्पन्द इच्छाशक्ति दूसरा ज्ञानशक्ति, तीसरा क्रियाशक्ति है। वास्तव में यह इच्छा, ज्ञान और क्रिया लोकोत्तर एवं यौगपादिक स्पन्दन के तीन कोण हैं। इन्हीं तीन कोणों को क्रमशः भगवती के परा, परापरा और अपरा रूपों की स्फुरणा भी कहते है। अनुत्तर तत्त्व सम्पूर्ण भावात्मक और भूतात्मक विश्व का मात्र 'हृदय' अर्थात् स्फुरण का मूल उद्‌गम स्थान है। उसका स्वरूप प्रकाश एवं विमर्श है इनमें से किसी एक को अलग मानकर उसकी प्रमुखता और दूसरे की गौणता की कल्पना संभव नहीं है। त्रिकमत के अनुसार अनुत्तर भाव 'अहम्' और 'इदम' का एक त्रिकालाबाधित संघट्ट अर्थात् शिवभाव और शक्तिभाव का एक ऐसा लोकोत्तर संपृक्त रूप है जिसमें शिवभाव शक्तिभाव के और शक्तिभाव शिवभाव के कण–कण में ओतप्रोत है। इसी संघट्ट को दूसरे शब्दों में 'यामल' कहते हैं। इसी कारण त्रिकशास्त्रियों ने इसे 'रूद्रयामल' की भी संज्ञा दी है। इस शब्द का तात्पर्य है अनुत्तरभाव, भगवती रूद्रा (शक्ति) और भगवान रूद्र (शिव) का ऐसा मेल अर्थात् धुलामिला समरसीभाव जिसमें किसी प्रकार की प्रश्नात्मकता और उत्तरात्मकता के पार्थक्य का कोई अवकाश न हो। साथ ही यह विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय दोनों रूपों में अविनाभाव रूप से मूल अकुल सत्ता में अविचल अवस्थित है।[10]

त्रिक दार्शनिको के अनुसार अनुत्तरतत्त्व के बहिरङ्ग प्रसार का रूप 'अहम्' और अन्तरङ्ग संहार का रूप 'महअ' है। दोनों रूपों में यह वास्तव में अनुत्तरीय अहम विमर्श ही है। अ+ह+म शब्द के 'अ' 'ह' और 'म' ये तीन वर्ण क्रमशः

शिवभाव, शक्तिभाव और नरभाव के प्रतीक हैं। इसी प्रकार म–ह–अ इस शब्द में 'म' 'ह' और 'अ' ये तीनों वर्ण भी इन्हीं के प्रतीक हैं, परन्तु विलोम क्रम में। फलतः अहम् का तात्पर्य यहाँ बर्हिमुखीन विश्वरूप में स्वरूप का प्रसार करने की उन्मुखता में 'अकला' अर्थात् भगवान अनुत्तर पहले 'ह' कला का प्रसार करते हैं, अर्थात स्वयं ही शक्ति रूप को स्वीकारे हैं। इसके अन्नतर 'म', कला अर्थात् नरभाव का प्रसार करते हैं। सम्पूर्ण जड़चेतनमय प्रमेय विश्व के रूप में स्वरूपतः विकसित हो जाती हैं। 'महअ' शब्द का तात्पर्य ठीक इसका विलोग क्रम है। वह यह कि अन्तर्मुखीन अनुत्तरभाव में ही संग्रहित हो जाने की उन्मुखता में, वही नरभाव पर पहुँचते हुए भगवान अनुत्तर पहले शक्तिभाव और अनन्तर मौलिक अनुत्तरभाव पर आरोह करके फिर भी अनुत्तरस्वरूप में संग्रहित होकर विश्रान्त हो जाते हैं।

त्रिक दार्शनिकों के अनुसार 'अ' से लेकर 'क्ष' तक का स्वर व्यंजन समुदाय अथवा 'मातृका' ही अनुत्तर का बहिर्मुखीन प्रसार है। इसे ही भगवान चन्द्रमौलि ने मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में 'आक्षरी सृष्टि' का नाम दिया है। इस सम्पूर्ण सृष्टि का मूल एवं विश्रान्ति का स्थान 'अ' अर्थात्– अनुत्तरकला है। यह 'क्ष' वर्ण पर पहुँच कर विश्रान्त हो जाती है।[11] अकला अपने में परिपूर्ण स्वभावसिद्ध, अपरिवर्त्तनशील एवं शाश्वतिक अनुत्तर है। इसकी न कभी सृष्टि ही होती है और न कभी संहार ही होता है। यह स्वयं सृष्टि एवं संहार दोनों का समरसीभाव है।

अनुत्तरतत्त्व की उपलब्धि–त्रिकदर्शन प्रत्येक मानव को, अपनेआप में ही दृढ़ आत्मसंयम, सच्ची लगन और निरन्तर अभ्यास के द्वारा उत्तरत्व के दूषित कलंक को मिटाकर अनुत्तरतत्त्व की उपलब्धि पाने का उपदेश देता है। यह लक्ष्य प्राप्त करने में चाहे सद्गुरूओं की वाणी, शास्त्रों का गहरा पर्यालोचन, अथक प्रयत्न अथवा और भी जो कुछ करना पड़े करने में सङकोच नहीं करना चाहिये–

'गुरूतः शास्त्रतः स्वतः।' त्रिकशास्त्रियों के अनुसार ज्ञानमार्ग, क्रियामार्ग या योगमार्ग का अनुसरण करने से यह लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने ज्ञानमार्ग को ही सर्वोपरि माना है तथा जगह–जगह पर इसका समर्थन किया है।[12]

ज्ञानमार्ग पर निरन्तर चलने से एक समय ऐसा आता है जब अनुत्तरतत्त्व का निर्मल प्रकाश हृदय में उदित हो जाता है। आत्मसंयम सद्गुरूओं की असाधारण भक्ति, शास्त्रों का गहरा अध्ययन और एकटक आत्मिक अनुसन्धान ही ज्ञान प्राप्ति के अनिवार्य साधन है। इसकी प्राप्ति में न जाने कितने ही जन्म लग सकता है।[13]

इन सभी कठिनाईयों को ध्यान में रखकर सिद्धजनों ने जनमानस के लिए क्रिया मार्ग को ही हितकर माना। त्रिकसिद्धों के अनुसार क्रियामार्ग के द्वारा ही अनुत्तरभाव में प्रवेश किया जा सकता है। इसपर चलने से ज्ञान की आँखें स्वयं खुल जाती है क्योंकि इच्छा और ज्ञान की पूर्ण परिणति ही क्रियाशक्ति है। कोई भी आत्म–साक्षात्कार करने का इच्छुक व्यक्ति अनन्य भक्ति के द्वारा योग्य सद्गुरूओं को प्रसन्नचित बनाकर उनसे पाये उपदेश के अनुसार परापूजा के बाहरी क्रियात्मक विधिविधान और आन्तरिक विमर्शमय अनुसन्धान को पूरा कर लेने की क्षमता पाने पर अपने हत्कमल में ही अनुत्तर का स्पष्ट साक्षात्कार पा लेता है।[14]

वह अपने में अनुत्तरतत्त्व का उन्मेष हो जाने से तत्काल ही जीवनमुक्त हो जाता है। जीवनमुक्त को प्राप्त कर लेना ही दूसरी भोग सिद्धियां पा लेने की अपेक्षा उत्कृष्ट माना जाता है। इसके अतिरिक्त कई साधकों के मन में निःश्रेयससिद्धि की अपेक्षा अवर प्रकार की भोगसिद्धियां पाने की ही रूचि होती है। ऐसे में त्रिकशास्त्रियों ने एक विशेष प्रकार के योगमार्ग को दर्शाया है।[15]

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार ऐसे मार्ग पर चलने वाले साधक जीवनमुक्ति से वंचित रह जाते है। यह योगमार्ग अभिनवगुप्त के कथानुसार अपनी जगह अपूर्ण है।[16]

इस त्रिकसाधना के मार्ग पर चलने से साधक को अनुत्तर का स्पष्ट साक्षात्कार अपने हत्कमल में ही, अमृत बीज के रूप में हो जाता है। भगवान, शिव ने अमृतबीज के स्वरूप का वर्णन निम्नलिखित अनुसार सूत्र में किया हैं।[17]

संदर्भ

1. पूर्णव्याकरणावगाहनशुचिः सत्तर्कमूलोन्मिष–
   त्प्रज्ञाकल्पलताविकेककुसुमैरन्यर्च्य हृद्देवताम् ।
   पीयूषासवसारसुन्दरमहासाहित्यसौ हित्यभाग् ––
   विश्राम्याभ्यहमीश्वर। द्वयकथाकान्तासरवः साम्प्रतम्।।
2. परात्रिंशिका पृष्ठ 440
3. 'आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृनचिद्विभुः। अनिरूद्धेच्छाप्रसरः प्रसरव.विक्रयः शिव।। (शिवदृष्टि 1,2)
4. एव स्वातन्थ्यसार अकालकलित क्रियाशक्तिशरीरम्–अनुत्तरम्'' (परात्रिंशिका, पृष्ठ 48)

5. ''यत्पुनः सूक्ष्मं सर्वदिक्कं व्यवस्थिम्। ज्ञानं बोधमयं तस्य शिवस्य सहजं सदा।।''
6. 'सूक्ष्मं बुद्धिज्ञानाद्यविषयं तत्र बुद्धिज्ञानात्मने भेदस्य विगलनात्' (शिवदृष्टि 1/27 की टिप्पणी)
7. परामृशत च प्रथमां प्रतिभाभिद्यानां सङकोचकलङ्क कालुष्यलेशशून्यां भगवतीं संविदम्। (परात्रिंशिका पृष्ठ–162)
8. शक्तिः पदार्थजातस्य देवदवेस्य साखिला शक्ति–शक्तिमतामुक्ता सवत्रैवे ह्मभेदिता, शिवदृष्टि 3, 64–65
   यदिदं परमेश्वरस्य भैरवभानोः रश्मिचक्रात्मकं निजभासास्फारमयं कुलम्उक्तम्, परात्रिंशिका पृष्ठ 55
9. 'तद्वत–परभैरवोऽति सौक्ष्म्यादनुभवगोचरमेति नैव जातु।
   अथ देशा.तिकालसन्निवेशस्थिति संस्पन्दितकारकव्योगा।
   जनयन्त्यनुभाविनीं चिति ते झटिति न्यक्कृतभैरवोयबोघाः, (परत्रिंशिका पृष्ठ–36)
10. 'रूद्रस्य रुद्रायाश्च यद् यामलं–संघष्टः निर्विभागप्रश्नोत्तररुपामर्शनप्रसराड् आरभ्य, यावद्बहिरन्तापरिगणमीयसृष्टिसंहार शतभासनं यत्रान्तः, तदेतद्, अकुलोपसंहृतमेव (रूद्रयामलम), परात्रिंशिका पृष्ठ 4
11. अमूला तत्क्रमाऽज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुद्राहृता
12. 'यत्र भावनाथनवकाशः। प्रसङ्ख्यानमात्रमेव दृढ़चमत्कार लक्षणहृदङ्ग मतात्मकप्रतिपन्तिदाढ़र्यपर्यन्त यत्र उपायधौरेयघराघराणि घत्ते।परात्रिंशिका पृष्ठ 4
13. 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो यति परां गतिम्'
14. ''क्रमपूजामाहात्म्यदेव तारताम्यातिशयात् स्वयं वा प्रसन्नगुरूभट्टारकवदन–कमलाद्वा मन्त्रवीर्यं हृदयांत्मकम् आसादयति।'' (परात्रिंशिका पृष्ठ 425)
15. 'सिद्धिप्रेप्सुषु तु योगो वक्तव्य' परात्रिंशिका पृष्ठ 428
16. किन्तु जीवनमुक्तापेक्षया मन्दशक्तिपातोऽसावुच्यतेअपूर्णप्रायत्वात्–। परत्रिंशिका पृष्ठ 426
17. 'चतुर्दशयुतं भद्रे। त्थिशान्त समन्वितम्। तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि। हृदयं भैरवात्मनः। परात्रिंशिका पृष्ठ 343

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

आदिम युग में आत्मवाद एवं इसका प्रभाव : एक अवधारणात्मक अध्ययन

डॉ. रवि शंकर कुमार *

दार्शनिक दृष्टिकोण से आत्मवाद तत्त्वशास्त्र के विषय–वस्तु है, क्योंकि तत्त्व चिन्तन भौतिकशास्त्र की सीमा को पारकर वैसे पदार्थों की खोज करता है जो भौतिक जगत के कारणस्वरूप है। आत्मवाद के अनुसार मनुष्य का आत्मा अमर है और उसका शरीर विनाशी है अर्थात् मूल तत्त्व आत्मा है जो अमर है। मनुष्य का शरीर भौतिक पदार्थों से निर्मित है जो नाशवान होता है, परन्तु मनुष्य में एक ऐसा भी तत्त्व मौजूद है जिसे अभौतिक या आध्यात्मिक सत्ता की संज्ञा दी जाती है जिसका स्वभाव या प्रकृत्ति सत्+चित्+आनंद, नित्यता और निर्मलता है वह आध्यात्मिक तत्त्व है – ''आत्मा''। आत्मतत्त्व भौतिक पदार्थों से परे की सत्ता है। उपनिषदों में आत्मविद्या को सर्वाधिक महत्वपूर्ण विद्या बताया गया है, क्योंकि आत्मविद्या ही मनुष्य को मोक्ष प्राप्त कराती है। इस प्रकार आत्मवाद तत्त्वशास्त्र के विषयवस्तु है।

भौतिक शास्त्र भौतिक जगत की व्याख्या तक सीमित रहता है जबकि तत्त्वशास्त्र भौतिक जगत के तह में बैठ कर परम सत्ता का खोज करता है जो भौतिक जगत का आधार है। यहां सत्ता का अर्थ है, परम्सत्ता। तत्त्वशास्त्र यह पता लगाना चाहता है कि अनुभव जगत का अंतिम आधार या पारमार्थिक सत्ता क्या है? जिससे अनुभूत जगत अस्तित्व में आया है अर्थात् तत्व शास्त्र में एक ऐसी सत्ता की खोज की जाती है, जिस सत्ता के परे कुछ भी नहीं है जो स्वयं अपना आधार है और जगत के सभी पदार्थों का पर्याप्त कारण है। चूंकि तत्त्वशास्त्र मूल तत्व की खोज करता है इसलिए इसके सिद्धान्त सार्वभौम होते है, सभी पदार्थों

** अतिथि शिक्षक, दर्शनशास्त्र विभाग, सब डिविजनल गार्मेंट डिग्री कॉलेज, नौहट्टा, रोहतास (वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा)*

के विषय पर लागू होते हैं। तत्त्वशास्त्र मे मूल तत्त्व के खोज का मूख्य कारण जगत् के स्वरूप या स्वभाव है, क्योंकि जगत् के स्वरूप के संबंध में यह प्रश्न अनिवार्य रूप से उठता है कि अनुभूत जगत जिस रूप में हमें प्रतीत होता है, क्या वही उसका वास्तविक स्वरूप है या वास्तविक स्वरूप कुछ और है। प्रतीति और वास्तविकता कें अन्तर को देखकर दार्शनिक सोचने लगता है कि जगत् सिर्फ प्रतीति मात्र है या जगत् की वास्तविक स्वरूप कुछ और है। इस प्रकार जगत् के वास्तविक स्वरूप की खोज में दार्शनिक एक ऐसी परम्सत्ता की खोज करने का प्रयास करता है जिस परम्सत्ता के परे कुछ भी न हो, जो स्वयं अपना आधार है और जगत् के हर एक पदार्थों का भी वही आधार है एवं सर्वव्यापक अर्थात् सार्वजनिक हो।

वस्तुतः आत्मवाद् धर्म से उत्पन्न विचार है जिसका संबंध तत्त्वशास्त्र से है अर्थात् आत्म्वाद तत्त्वशास्त्र का विषय–वस्तु है। आत्म्वाद में मूल तत्व को अभौतिक या आध्यात्मिक स्वीकार किया जाता है। आत्मवाद् के अनुसार मनुष्य की आत्मा अमर है और उसका शरीर विनाशी है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यों की संस्कारों के क्षय हो जाने पर आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाती है। यही जन्म और पुनर्जन्म है। जन्म और मृत्यु केवल भौतिक शरीर का ही होता है, आत्मा का नहीं। आत्मवाद् की यही मान्यता है।

वास्तव में उपर्युक्त शीर्षक का मूल उद्देश्य है, पूर्व काल या आदिमानवों का अध्यात्मिक जीवन दर्शन की अवधारणाओं को प्रस्तुत करना एवं उसके प्रभाव को उजागर करना, क्योंकि वर्त्तमान मानवीय जीवन शैली पूर्व की अपेक्षा परिवर्त्तित हुआ तो जरूर है, परन्तु आध्यात्मिक विचार पूर्व के तरह ही विद्यमान है। खासकर भारतीय जनमानस में, जो कि एक महत्वपूर्ण तथ्य है। वर्त्तमान युग में भी मनुष्य इस तथ्य को दरकिनार करके अपना दैनिक जीवन या व्यावहारिक जीवन नहीं जी सकता है। इसलिए यहां यह उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है कि आदिम धर्म में आत्मविचार कैसे उद्भूत हुए जिसका प्रभाव वर्त्तमान युग में भी विद्यमान है। विद्वानों के मतानुसार प्रारंभिक धर्म ही समाज का सर्वप्रथम धर्म माना गया, जो विकास का पहला स्तर है, क्योंकि यहय आदिकाल के मनुष्य का धर्म है। सामान्यतः प्रारंभिक धर्म का अर्थ प्राचीन धर्म है, परन्तु धर्म–दर्शन के आचार्यों का मानना है कि प्रारंभिक धर्म का अर्थ अशिक्षित, अविकसित तथा असभ्य लोगों का धर्म है। अशिक्षित लोगों के धर्म में अंधविश्वास, भ्रंम, जादू–टोना आदि की प्रधानता पायी जाती है। अतः प्रारंभिक धर्म का अर्थ अशिक्षित तथा अंधविश्वासी लोगों का धर्म है। धर्म के इतिहास से पता चलता है कि अशिक्षित व्यक्ति अंधविश्वासी होता है और उचित–अनुचित का विचार किये बिना ही वह किसी भी वस्तु या व्यक्ति

में विश्वास करने लगता है। उसके विश्वास को आधार नहीं ज्ञात होता। अतः वह अंधविश्वासी कहलाता है। आदिममानव की बुद्धि अविकसित एवं अशिक्षित थी। अतः वह अंधविश्वास के आधार पर किसी को शक्तिसम्पन्न मानकर आराधना करने लगता था। इसे जातीय धर्म भी कहा जाता है, क्योंकि पहले लोग जातीय परंपरा को ही धर्म मानते थे। मानव समुदाय अनेक जातियों में विभक्त था और प्रत्येक जाति के निजी परंपरा होती थी। अतः जाति–प्रथा परंपरा को ही वे अपना धर्म मानते थे। अतः जातीय धर्म ही प्रारंभिक धर्म माना जाता है क्योंकि जाति–प्रथा ही मानव समुदाय का प्रथम एकता सूत्र है। इस जाति–प्रथा परंपरा को ही लोग धार्मिक परंपरा मानते थे। प्रारंभिक धर्म के अन्तर्गत–जीववाद्, प्राणवाद् आदि आते हैं। जिसमें आत्मवाद् के बीच विद्यमान है। इसलिए इनका अध्ययन आवश्यक होता है। वास्तव में देखा जाता है कि जीववाद में मानव को किसी प्रकार से यह अनुभूति हुई कि प्रकृति मानव के समान सजीव या जीवधारी है। इसका मूल कारण यह था कि प्रकृत्ति परिवत्तनशील है और परिवर्त्तन गति के कारण होता है। अतः प्रंकृत्ति के हरेक वस्तु में गति विद्यमान है जिसके कारण उसमें परिवर्त्तन होता रहता है एवं जिसमें गति है, वह मृत नहीं अर्थात् निर्जीव नहीं माना जा सकता। अतः गतिशील होना, परिवर्त्तनशील होना है और परिवर्त्तनशील होना, सजीव होना है। इस प्रकार नदी, पर्वत, वन, पशु–पक्षी, सभी सजीव हैं। अतः सभी सचेतन हैं। हम चेतना के आधार पर किसी को प्रिय और अप्रिय मानते हैं, जो प्रिय होता है, वह हितकारी है और जो अप्रिय होता है, वह अहितकारी है, परन्तु मानव दोनों शक्तियों की आराधना करता है; जैसे – नदी से सुन्दर, स्वच्छ और सरस जल प्राप्त होता है, वृक्ष से स्वादयुक्त फल प्राप्त होता है आदि। परन्तु संसार में कुछ ऐसी शक्तियों भी हैं, जिनसे मानव का अहित होता है, फिर भी वह उन शक्तियों के डर से आराधना करता है; जैसे – नाग–पूजा, व्याघ्र–पूजा आदि। इस प्रकार हित–अहित की चेतना प्रकृत्ति की सभी वस्तुओं में है, सभी सचेतन हैं, सभी सजीव है। इस संबंध में डॉ. बद्रीनाथ सिंह लिखते हैं कि – ''जीववाद आदि मानव का विचार है, परन्तु इसे अशिक्षित या असभ्य लोगों का विचार ही माना जाता है। इसलिए एटकिंसन ली महोदय का कहना है कि जीववाद तो आदिमानव का विश्वविचार है।''[1] पुनः उनका मानना है कि जीववाद् आत्मवाद् का अविकसित रूप है। आत्मा की सत्ता को स्वीकार किये बिना किसी धार्मिक या आध्यात्मिक कार्य की व्याख्या करना कठिन है, परन्तु आत्मा जीव का उच्च अवस्था है। केवल सजीव होना ही, सात्मक् नहीं माना जा सकता। धर्म में आत्मा की सत्ता अपेक्षित है, केवल जीव की नहीं। जीव में धार्मिक भावना और क्रिया की संभावना नहीं [2] सजीव और निर्जीव के अन्तर के संबंध में एम0

हिरियन्ना का मानना है कि – ''सजीव वस्तुएं वे हैं, जिनमें जीव निवास करते हैं और निर्जीव वे है, जिनमें जीव निवास नहीं करते।''[3] जीववाद का विकसित अवस्था का नाम प्राणवाद् है। दूसरे शब्दों में प्राणवाद् जीववाद और आत्मवाद् के बीच की अवस्था है। जीववाद के अनुसार प्रकृत्ति की प्रत्येक वस्तु जीवधारी है, कोई वस्तु निर्जीव नहीं है। परन्तु प्राणवाद के अनुसाार जीव का सूक्ष्म एवं विकसित अवस्था प्राण है प्राण सूक्ष्म है। इसलिए वह एक शरीर का त्याग कर दूसरे शरीर में प्रवेश भी करता है। उल्लेखनीय है कि जीववाद में जीव और शरीर मे अभेद या एकता का संबंध देखा जाता है। परन्तु प्राणवाद में प्राण और शरीर दोनों में भेद का संबंध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राण जीव की सूक्ष्म अवस्था का नाम है जो पूर्णतः न तो शारीरिक है और न शरीर से असंबद्ध ही है; क्यांकि अगर प्राण जीव के समान शारीरिक होता, तो शरीर से इसका अभेद संबध होता, लेकिन शरीर से प्राण का भेद संभव है जिसके कारण प्राण एक शरीर का त्याग करके दूसरे शरीर में प्रवेश कर सकता है। दूसरे तरफ प्राण शरीर से असंबद्ध भी नहीं है; क्योंकि प्राण का शरीर से कोई संबंध नहीं होता, तो शरीर पर किये गये आघात् या चोट की अनुभूति प्राण को नहीं होती, लेंकिन चोट की अनुभूति प्राण को होती है, इसलिए प्राण शरीर से संबंधित भी है, यही मान्यता प्राणवाद् की है। जीववाद् और प्राणवाद् के विषय में डॉ0 बद्रीनाथ सिह का मानना है कि – ''जीववाद् के अनुसार मनुष्य में निर्जीव प्रकृत्ति को सजीव बनाया तथा सशक्त वस्तुओं की पूजा प्रारंभ की। प्राणवाद् के अनुसार भी मनुष्य में सभी प्राकृतिक वस्तुओं में प्राणों की प्रतिष्ठा की, यही प्राणवाद् आगे चलकर आत्मवाद् और आध्यात्मवाद् कहलाया। इसके अनुसार मनुष्य की आत्मा अमर है तथा शरीर विनाशी है। संस्कारों के क्षय हो जाने पर आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाती है। यही जन्म और पुनर्जन्म है। जन्म और मृत्यु शरीर का ही होता है, आत्मा का नहीं। आत्मवाद् की यही मान्यता है। प्राणवाद् की मान्यता इससे कुछ भिन्न है। प्राणवाद् आध्यात्मिक पक्ष अर्थात् अमरत्व का स्पष्टतः प्रतिपादन नहीं करता। बल्कि यह बतलाता है कि मानव के प्राण स्वतंत्र और स्वेच्छाचारी है। तात्पर्य यह है कि प्राण शरीर का त्याग कर स्वतंत्र रूप से विचरण कर सकते हैं तथा सदा के लिए शरीर को छोड़ भी सकते हैं। शरीर को छोड़कर प्राण अनन्त दिशा में विद्यमान् रहते हैं।''[4]

उल्लेखनीय है कि हरबर्ट स्पेंसर ने प्रेतवाद का उल्लेख किया कि प्रेतवाद प्राणवाद का दूसरा रूप है। प्रेतवाद के अनुसार मानव के प्राण शरीर को छोड़कर प्रेत का रूप धारण कर लेते हें। इस संबंध में वेदप्रकाश वर्मा ने उल्लेख किया है कि – ''बहुंत प्राचीन काल में ही मनुष्य ने संसार के साथ–साथ स्पष्ट रूप से

परलोक की भी कल्पना कर ली थी। आत्माओं के अस्तित्व के विचार की भांति उसके परलोक की इस कल्पना का आधार भी इस संसार के संबंध में स्वयं उसका अनुभव ही था। वह अपने अनुभव से यह जानता था कि इस संसार में सभी व्यक्ति समान नहीं हैं। कुछ व्यक्ति कमजोर है तो व्यक्ति बहुंत शक्तिशाली है, कुंछ दास है, तो कुछ मुखिया या राजा।''[5]

जीववाद्, प्राणवाद् और प्रेतवाद् के उपर्युक्त अवधारणाओं से यह स्पष्ट होता है कि आत्मवाद् की उत्पत्ति में प्राणवाद् का मुख्य भूमिका है, परन्तु जीववादी विचार को इससे दरकिनार करके नहीं देखा जा सकता; क्योंकि इसकी भी भूमिका आत्मवाद् में मौजूद है जो कि गौण रूप में है। इसका कारण यह है कि जीववाद् में आत्मावाद् अन–अभिव्यक्त अवस्था में है। जबकि प्राणवाद में आत्मवाद् अभिव्यक्त या प्रस्फुटित अवस्था में है।

निष्कर्ष :– निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आदिम समाज के मानव वृत्ति में उपर्युक्त विचार धारा का प्रभाव पड़ा, जो धर्म की उत्पत्ति में सहायक हुंआ, जिसका कालान्तर में निरन्तर विकास होता चला गया, जिसका स्पष्ट प्रस्फुटन आत्मवाद् के रूप में हुआ, जो कालान्तर में आध्यात्मवाद् के रूप में जनमानस के जीवनशैली को अधिक प्रभावित किया, जिसका प्रभाव वर्त्तमान युग में भी देखा जा सकता है। उपर्युक्त अवधारणाओं के सहारे ही मनुष्य का दैनिक जीवन सम्पन्न होता है। हालांकि आज का युग प्रौद्योगिकी का है फिर भी उपर्युक्त अवधारणाएं किसी न किसी रूप में वर्त्तमान समाज में कायम है। इस प्रकार आत्मवाद् को दरकिनार करते हुए दैनिक जीवन असंभव है।

संदर्भ

1. डॉ. बद्री नाथ सिंह, धर्मदर्शन की रूप रेखा, आशा प्रकाशन वाराणसी वर्ष–2004, पृ.–32.
2. वही
3. एम. हिरियाना, भारतीय दर्शन की रूप रेखा, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. 1–बी. नेताजी सुबास मार्ग, नई दिल्ली–110002, वर्ष 2002, पृ.–63
4. डॉ. बद्री नाथ सिह, धर्म दर्शन, स्टुडेंट्स फ्रेंड्स एंड के. बी.एच.यू. रोड, लंका, वाराणसी, पृ.–34
5. वेद प्रकाश वर्मा, धर्म दर्शन की मूल समस्याएं, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निर्देशालय, बैरक नं.–2 व 4, केवेलरी लाइन, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110007, वर्ष 2003, पृ.–42.

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

योग : एक उच्चस्तरीय मनोविज्ञान

डॉ. मो. अरशद अली *

आधुनिकता की इस दौड़ में मानवीय जीवन मूल्यों का स्तर बहुत नीचे गिरा है जिसके फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व विकास की प्रक्रिया अवरूद्ध सी पड़ गई है एवं मानवीय व्यक्तित्व इस युग की भोगवादी आँधी में छिन्न–भिन्न हो गया है तथा उसके आंतरिक विघटन की स्थिति बहुत गंभीर बनी हुई है। समाज एवं वातावरण में व्याप्त अराजकता, आतंक एवं अशांति का साया इसी आंतिरक टुटन, सड़न एवं आक्रोश की बाह्य अभिव्यक्तियाँ मात्र है। युद्धोन्माद, आतंकवाद, जाति एवं साम्प्रदायिक हिंसा, भ्रष्टाचार, बलात्कार, आत्महत्या जैसी गंभीर सामाजिक समस्याएँ मानवीय व्यक्तित्व के आंतरिक विघटन की ही बाह्य प्रतिकृतियाँ कही जा सकती है।

बढ़ते मनोरोगों की आँधी एवं विकार की बाढ़ युग की गंभीर समस्या बन गई है। वस्तुतः हम मानवीय चेतना के गंभीर संकट से गुजर रहे हैं। न्यूरोसिस, साइकोसिस, सिजोफ्रेनिया जैसे बिखराव एवं विखण्डन के परिचायक शब्द आज प्रचलित मुहावरे बन गये हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार 40 से 90 प्रतिशत बीमारियाँ मानवीय चेतना के आंतरिक टुटन एवं विघटन की ही परिणाम है।[1]

इस भौतिकवादी सभ्यता ने प्रकृति पर विजय पाने का अहंकार दिया, भोगवादी संस्कृति दी, सभी मानवीय संबंधों, जीवन मूल्यों का बाजारीकरण कर दिया काम–वासना, लोभ–मोह जैसे विकारों को सुलगा कर मानवीय अस्तित्व को महाविनाश के कगार पर पहुँचा दिया है।[2]

आज के भोगवादी सभ्यता की देन आधूनिक जीवन शैली ने जहाँ मानवीय जीवन को चौतरफा क्षति पहुँचायी है जिसमें जीवन का सुख चैन, प्रसन्नता, सब कुछ समाहित हो गई है एवं अनेक प्रकार की मानसिक एवं शारीरिक समस्याएँ

** सहायक प्राध्यापक, दर्शन शास्त्र विभाग, जगजीवन महाविद्यालय, आरा*

काल के रूप में प्रकट हो रही हैं। अस्त–व्यस्त जीवनचर्या के कारण तनाव, चिन्ता, निराशा, आत्महीनता के साथ विभिन्न मनोकायिक विकृतियाँ जैसे–हृदय रोग, उच्च रक्तचाप, अस्थमा, मधुमेह एवं कैंसर जैसी खतरनाक बीमारियाँ मानव समुदाय को प्रभावित कर रही है। चारों तरफ फैली आधुनिक चिकित्सकीय भ्रान्ति के मध्य अक्षम स्वास्थ्य संतुष्टि चिन्ता का विषय बना रहा क्योंकि इसका कारण भावनात्मक असंतुलन है जिसे भर्तृहरि ने भी स्वीकार किया है कि तृष्णा एवं भोग जीवन को अस्वस्थ बनाता है यथा–तृष्णा न जीर्णा वमेयव जीर्णाः। भोगान मुम्ता वमेयव भुक्ताः।

अगर इन सारी समस्याओं के मूल में दृष्टिपात किया जाय तो एक ही कारण समझ में आता है कि अपनी पुरातन भारतीय जीवनशैली–जिसमें भोग और त्याग, धर्म और अर्थ, प्रेय और श्रेय, अभ्युदय और निःश्रेयस, भौतिकता और आध्यात्मिकता का संतुलित समन्वय ही जीवन का आदर्श माना जाता है, को छोड़ कर व्यक्ति आधुनिक जीवन शैली की चकाचौंध में अविवेक का अवलंबन लेकर नरकीटक एवं नरपशु का अमानवीय जीवन जी रहा है।[3]

आधुनिक जीवन में उत्पन्न हुई अनेकानेक शारीरिक, मानसिक एवं मनोकायिक समस्याओं का आज के विज्ञान के पास कोई सटीक उपाय नहीं है। विज्ञान के पास चिकित्सा की जो पद्धतियाँ आज प्रचलित एवं सुलभ है, वे अत्यन्त अधूरी, एकांगी एवं प्राणघातक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सारे विश्व में एक नींद, तनाव की दवा 'थेलिडौमाइड ट्रेजेडी' अपने प्राणघातक प्रभाव विकलांग बच्चों के जन्म के रूप में सारे विश्व में विख्यात हुई थी।[4]

इस तथ्य में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि आधुनिक चिकित्सा पद्धति ने अनेकों क्षेत्रों में क्रांति की किन्तु इनके द्वारा हुए कुप्रभावों को भी नहीं नकारा जा सकता है, जिसका कारण आज के चिकित्सा पद्धति का एक पक्षीय चिकित्सा सिद्धांत है। जिसमें वह शरीर को ही सब कुछ मानता है। उसने चेतना जैसे मानवीय अस्तित्व के मूलाधार की अवहेलना की। संभवतः उसे समझ ही न पाया। मानवीय मन के मर्मज्ञों के अनुसार अनेक स्थूल रोगों की जड़ सूक्ष्म मन में पलती है। प्रसिद्ध मनोविज्ञानी हेक ड्यूक ने अपनी कृति 'माइण्ड एण्ड हेल्थ' में शरीर पर पड़ने वाले मानसिक प्रभावों का विस्तृत वर्णन किया है। उनका निष्कर्ष है कि काया पर सर्वाधिक प्रभाव व्यक्ति की अपनी मनःस्थिति का पड़ता है। यह प्रभाव नाड़ी संस्थान पर 36, अंतः स्रावी ग्रंथियों पर 56 एवं मांसपेशियों पर 8 प्रतिशत पाया जाता है।[5]

मानवीय अस्तित्व के संकट के इस दौर में इनके उपचार के प्रयास न हो रहे हों, ऐसी बात नहीं है। दार्शनिक, धार्मिक, वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक हर स्तर

पर कुछ न कुछ प्रयास चल रहे हैं, किन्तु इनकी परिसीमाएँ स्पष्ट है। दार्शनिक प्रयास प्रमुखतया बौद्धिक उफहापोह तक सीमित है, इनकी व्यवहारिक उपयोगिता संदिग्ध ही बनी है। धार्मिक प्रयासों की सीमा उनकी रूढ़िवादिता, हठधर्मिता, पूर्वाग्रहों एवं अवैज्ञानिकता के कारण एक छोटे दायरे में सिमट जाती हैं। जबकि मनोविज्ञान अहं के इर्द गिर्द ही चक्कर लगाता रहता है। वैज्ञानिक प्रयास जैविक हेर–फेर जैसे जीन परिवर्तन, क्लोनिंग आदि तक सीमित होने के कारण अभी सतहों में ही भटक रहे हैं, जबकि मानवीय व्यक्तित्व मात्र जैविक रसायनों का संगठन भर नहीं है, इसकी अपनी मनोवैज्ञानिक एवं उससे उच्चस्तर आध्यात्मिक सत्ता भी है।

आचार्य पं० श्रीराम शर्मा के शब्दों में मानवी सत्ता दो हिस्सों में बँटी हुई है। एक–शरीर, पदार्थ और दूसरी–चेतना, मन, बुद्धि, अंतस्। आवश्यकता इन दोनों को पुर्णतया विकसित करने की है।[6] किसी एक को उपेक्षित छोड़ देने पर विकास के स्थान पर समस्याएँ ही जन्म लेंगी। क्योंकि समग्र दृष्टि अभाव एवं एकांगी प्रयत्नों के कारण ही अनेकानेक समस्याओं का जन्म होता है तथा वे संकट का कारण बनती है। संतुलित एवं सुव्यवस्थित विकास क्रम के लिए उन सभी पक्षों का समावेश करना होता है जो शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक प्रगति के लिए जरूरी हों।[7]

हालांकि आधुनिक मनोविज्ञान भी वर्तमान में एक विकसित चिकित्सा पद्धति के रूप में उभरा, परन्तु व्यक्तित्व विकास के महत्वपूर्ण प्रश्न पर आधुनिक मनोविज्ञान की मौलिक त्रुटि रही है और वह है–मानवीय चेतना की अधूरी समझ। इस संदर्भ में मधुसूदन रेड्डी का कहना है कि आधुनिक मनोविज्ञान अपने भौतिक एवं वैज्ञानिक आधार के कारण सतही मन के सतही मूल्यों से ही संबंध रखता है।[8] महर्षि अरविन्द के शब्दों में चेतना को सामान्यतः मन का पर्याय मान लिया जाता है जबकि मानव चेतना (मन) मात्रा मानवीय परिसीमा है जो चेतना के समस्त स्तरों का प्रतिनिधित्व नहीं करती है।[9] इस तरह पश्चिमी मनोविज्ञान मानवीय मन, व्यवहार एवं व्यक्तित्व के सांगोपांग अध्ययन एवं आत्यंतिक उपचार एवं समग्र विकास का प्रश्न हो तो वहाँ चुप्पी साध लेता है। इसकी सबसे बड़ी भूल को बताते हुए शांति प्रकाश आत्रेय कहते हैं कि वह चेतना के आधार (आत्मा) को ही भूल गया है। अपनी इस भूल के कारण वह अपने लक्ष्य से दूर अन्यत्र पहुँच गया है। अतः चेतन सत्ता (अतिचेतन) का अध्ययन मनोविज्ञान का प्रतिपाद्य विषय होना चाहिए।[10] इस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान अहं के गठन के इर्द–गिर्द ही व्यक्तिव विकास का प्रयास करता है किन्तु व्यक्तित्व विकास की समग्र दृष्टि से इतना भर पर्याप्त नहीं। सुविख्यात मानसशास्त्री कार्ल जुंग अहं की विकृति

पर विचार करते हुए ठीक ही कहते हैं कि इसके कारण मानवीय चेतना समग्र से कटी हुई और अपनी आत्मा सहित मानवता से अपना सम्बंध खो बैठी है।[11]

इस भोगवादी संस्कृति से उपजी अन्यान्य समस्याओं का वर्तमान विज्ञान के पास कोई सार्थक समाधान नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि क्या आधुनिक चिकित्सा पद्धति मानसिक और आध्यात्मिक स्तर तक का सफल उपचार कर सकेगा? क्योंकि ये स्तर अत्यंत सूक्ष्म एवं आत्यांतरिक है। आधुनिक चिकित्सा पद्धति की असमर्थता को देखते हुए आवश्यकता है एक ऐसी चिकित्सा पद्धति की जो पूर्ण हो एवं जिससे संपूर्ण मानव समुदाय का चातुर्दिक उत्थान हो। गोरी व ऐलेन के अनुसार समस्त समाज आज तक एक समग्र चिकित्सा तंत्र की आवश्यकता महसूस कर रहा है।[12]

मानव चेतना की समग्रता को खोजने के लिए इन दिनों आधुनिक विज्ञान के साथ पश्चिमी मनोवैज्ञानिक भारतीय ज्ञान–विज्ञान एवं योग पद्धतियों की ओर काफी आकर्षित हुए है। जैसे इस बातका प्रमाण है कि कार्ल जुंग (1933) ने इस संदर्भ में 'माडर्न मैन इन सर्च आफ ए सोल' नामक ग्रंथ की रचना की।[13] इसी तरह जीन हार्डी (1997) 'साइकोलॉजी विथ ए सोल' को लिखने के लिए प्रेरित हुए।[14] बुद्धि के साथ भावनाओं की उपयोगिता को स्वीकार करने का विचार डेनियल गोलमैन (1996) की रचना 'इमोशनल इन्टैलिजेन्सं मे व्यक्त हुआ[15] तथा दाना जौहर (1999) ने जीवन को समग्रता देने वाली आध्यात्मिक प्रतिभा के रूप में 'स्प्रीचुअल केपिटा' को प्रस्तुत किया है।[16]

वैदिक काल के आरंभ एवं आदि कालीन चिकित्सकीय उन्नति का परिणाम समेटे योग वशिष्ठ[17] के इस सत्य को आज का संपूर्ण मनोचिकित्सक समुदाय भी स्वीकारने लगा है कि जिन्दगी की समस्याओं की जड़ें–इंसान के मन में होती हैं। रोग शारीरिक हो या मानसिक इसका मुख्य कारक अचेतन मन की परतों में छिपा होता है। आधुनिक मनाविज्ञान के अनुसार समस्त समस्याओं की जड़ अचेतन में दबी भावनाएँ होती हैं जो अनेकों रूपों में समय–समय पद प्रकट होती रहती है। योगी इसे चित्त कहते हैं जिसको ब्लैक बाक्स कहा जा सकता है। जिसमें हमारे वर्तमान जीवन की सभी इच्छाएँ, आकाक्षाएँ, आदत–संस्कार आदि समाहित रहते हैं। यही संस्कार हमारे भावी जीवन के सुख–दुखों का निर्धारण करते हैं।[18] प्रख्यात मनोविद लारेन्स हाइड के शब्दों में–मनोवैज्ञानिक विधियों की अपनी सीमाएँ हैं, जिनके द्वारा व्यक्तित्व के विकारों को एक सीमा तक ही ठीक किया जा सकता है, किन्तु उनका सर्वांगपूर्ण उपचार यहाँ संभव नहीं है।[19] उनके अनुसार जीवन को आत्मकेन्द्रित बनाये बिना किसी भी तरह व्यक्तित्व तथा जीवन के बिखराव की पूर्ण समाप्ति नहीं हो सकती। वस्तुतः व्यक्तित्व को

अखंडित कर सकना मानसिक स्तर से गहरे जाने पर ही संभव है, जहाँ आत्मिक सत्ता ही है। जब तक समूचा व्यक्तित्व इस केन्द्र से संचालित नहीं होता, तब तक इसकी समस्याओं के समाधान के लिए किए गए प्रयास वृक्ष की जड़ों को छोड़कर पत्तों को सींचने जैसे ही होंगे।

पोलैण्ड के 'थर्ड क्लीनिक आप मेडिकल' के डायरेक्टर प्रो० जूलियन का कहना है कि इन समस्त विकराल समस्यओं के समुचित, सटीक, समग्र एवं निरापद समाधान हेतु हमें पुनः वैदिक भारत की चिर पुरातन यौगिक प्रक्रियाओं का अनुसरण करना होगा। यहीं से उन्हें आज की सभी शारीरिक, मानसिक समस्याओं के सार्थक और सक्षम समाधान प्राप्त करना संभव हो सकता है। चूँकि योग सुपरचेतन (आत्मा) को व्यक्तित्व का आधार मानते हुए व्यक्तित्व के समग्र संगठन एवं विकास की ठोस पृष्ठभूमि तैयार करता है। जीवन का उच्च ध्येय सुस्पष्ट आचार पद्धति एवं अचेतन (चित) के परिष्कार की सुव्यवस्थित प्रक्रिया द्वारा यह इस कार्य को प्रभावी ढ़ंग से आगे बढ़ाता है।

स्वामी यतीश्वरानन्द के शब्दों में इस तरह संगठित व्यक्त्वि में अहं की वैयक्तिक चेतना ब्रह्माण्डीय चेतना से लयबद्ध रहती है और यह संगठित चेतना मन और शरीर को सहज, सक्रिय एवं सामंजस्य ढ़ंग से निर्देशित रखती है।[20] योग और आधुनिक विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन करने वाली प्रख्यात् विदुषी साधिका कोस्टर के शब्दों में 'योग पद्धति मानव जाति के लिए सार्वभौम रूप से सत्य है और इसमें उपलब्ध सामग्री की हम असीम लाभ के साथ जाँच और प्रयोग कर सकते हैं।' साथ ही यह दावा करती हैं कि 'योग मानसिक विकास की एक व्यवहारिक पद्धति है। मैं पूर्ण आश्वस्त हूँ कि महर्षि पतंजलि का योगसूत्र कुछ ऐसी सूचनाएँ रखता है' ।[21] मानवीय मन के विशेषज्ञ कार्ल रोजर्स ने इस क्षेत्र में बहुतायत शोध कार्य किये हैं, उनके अनुसार मानवीय स्वास्थ्य संकट के समाधान का समस्त विज्ञान योग शास्त्र में उपलब्ध है।[22] इस संदर्भ में मधुसुदन रेड्डी का भी कहना है कि मानसिक स्वास्थ की दृष्टि से योग की पद्धतियाँ आधुनिक एवं प्रायोगिक है।[23]

इस तरह वर्तमान भौतिकवादी, विश्व दृष्टिकोण, विज्ञान एवं तकनीकी पद अधिक पराश्रयता तथा योग विहिन जीवनशैली जहाँ व्यक्तित्व की महाव्याधियों का मूल कारण है, वहीं इनके उपचारार्थ इन सब में एक आमूल–चूल परिवर्तन अपेक्षित है। एक अधिक समग्र जीवनदृष्टि, एक स्वस्थ एवं संतुलित जीवन पद्धति की आवश्यकता है। इच्छा शक्ति का सम्यक विकास एवं भाव संतुलन, मस्तिष्क का समग्र विकास एक स्वस्थ, संतुलित, सामंजस्यपूर्ण जीवन के लिए अनिवार्य है और यही सब कुछ यौगिक जीवन हमें प्रदान करती है।[24]

योग का क्रियात्मक पक्ष जहाँ शरीर व मन को नियंत्रित करता है, साइको–न्यूरो–इम्यून तंत्र में संतुलन स्थापित करता है, शरीर में जीवनी शक्ति (प्राण) को बढ़ाता है और मन को एकाग्र एवं शांत रखता है।[25] वहीं इसका सैद्धान्तिक पक्ष जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण प्रदान करता है, जीवन के सार्थकता को प्रकट करता है तथा जीवन के चरम लक्ष्य के प्रति आश्वस्त करता है।[26]

निष्कर्ष

निष्कर्षतः योग साधना मानवीय चेतना का विज्ञान है, उच्चस्तरीय मनोविज्ञान है। जो हमारे जीवन के आंतरिक एवं बाह्य वातावरण के साथ सामन्जस्य स्थापित करता है। मस्तिष्क की कार्य क्षमता को बढ़ाता है, शरीर व मन को विश्राम देता है तथा जीवन को आरोग्यता से उच्चतर चेतना की ओर अग्रसर करता है। इस प्रकार यौगिक जीवन हमें शारीरिक व मानसिक रूप से परिपूर्ण सुखी, सम्मुन्नत जीवन प्रदान करता है।

संदर्भ

1. Pandya, P. (2003) Akhand Jyoti, April 2003, Akhand Jyoti Sansthan Mathura, Pp15.
2. गुप्ता, कृष्णा (2002) चेतना मानव अनुसंधान पत्रिका, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला, हिमाचल प्रदेश।
3. डॉ० शशिप्रभा (1996) वैदिक विमर्श, जे० पी० पब्लिकेशन हाऊस, दिल्ली पृ० 5
4. World Health Report (2003) Dainik Bhashkar 2003, 3rd October, Indaur, M.P.
5. Pandya, P (2004) Ayurved Vikas, Dabar India Ltd. Gaziabad, Apr. 2004, Pp25-26.
6. आचार्य, श्रीराम शर्मा (1984) आत्मविश्वास जगायें–सफलता पायें, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, अ० ज्यो० वर्ष 47, अंक 4, पृ० 50
7. श्रीमाली, मन्दाकिनी (2001) प्रज्ञापुरूष का समग्र दर्शन, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, पृ० 7.2
8. Reddy, M (1990) Integral Yoga Psychology Institute of Human Study, Shri Aurobindo Darshan Hyderabad, Pp 58.
9. Aurobindo, Shri (2003) Letters on Yoga, Shri Aurobindo Publication Pondicherry, Vol. 22, Pp 234.
10. आत्रेय, शांति प्रकाश (1965) योग मनोविज्ञान, द इंटरनेशनल पब्लिकेशन, वाराणसी, पृ० 341

11. Jung, CG (1933) Modern Man in Search of a Soul, San Diego Publishers New York - London, Pp. 141.
12. Gowri, A & Ellen, H (2001) American Family Physician, Spirituality & Medical Practice: Using the Hope Questions as a Practical Tool of Spiritual Assesment. American Academy of Family Physician.
13. Jung, CG (1933) Modern Man in Search of a Soul, San Diego PublishersNew York - London.
14. Hardy Jean (1997) A Psychology with a Soul. Penguin Group 27, Wright lane London - 8.
15. Golman Deniel (1996) Emotional Intelligence, Bloomsbury Publishing Plc 36 Square London.
16. Jauhar, D (1999) Spiritual Capita. Bloomsbury Publishing Plc 36 Square London.
17. योग वशिष्ठ 6/1/11/30
18. Weiss, Brain (2001) Through Time into Healing- How Past Time Life Regression Therapy can Heal Mind, Body and Soul, MacKay's of Chatham PLC, Chatham, Kent. Pp72.
19. Hyde Larences (1963) Isis and Orisis Pp. 109.
20. Yatishwaranand, Swami (1979) Metitation and Spiritual Life, Shri Rqamakrishna Ashram Bull Temple Road Bangalore.
21. Coster G (1974) Yoga and Western Psychology: A comparison. Oxford University Press, London, Pp 245.
22. Sachdeva IP (1978) Yoga and Depth Psychology. Motilal Banarsidas, Bangalore Road, Jawahar Nagar, Delhi, Pp 7.
23. Reddy, M (1990) Integral Yoga Psychology Institute of Human Study, Shri Aurobindo Darshan Hyderabad, Pp 35.
24. Nagendra, HR (2001) New Perfection in Stress Management, Swami Vivekanand Yoga Prakashan Bangalore, Pp 1-3.
25. Lamb, T. (2003) Health Benefits of Yoga, Yoga Research and Education Center, November 3, 2003.
26. Abhedananda, Swami (1999) The Yoga Psychology, Ramakrishana Vedanta Math, Calcutta.

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

अघोर सन्त अघोरेश्वर महाप्रभु की धर्म–मीमांसा

डॉ. आशुतोष कुमार सिंह *

अघोरेश्वर महाप्रभु का अवतरण बिहार प्रान्त के जिस गुण्डी ग्राम में हुआ, वह महान साधकों की साधना भूमि रही है। बिहार राज्य के भोजपुर जिलान्तर्गत आरा रेलवे स्टेशन से लगभग 12 किलोमीटर उत्तर, गंगा से 3 किलोमीटर दक्षिण और सोन से 6 किलोमीटर पश्चिम में गुण्डी ग्राम स्थित है। महाप्रभु का जन्म व कुछ समय का प्रारंभिक जीवन इसी गुण्डी ग्राम में व्यतीत हुआ जो कि महान साधकों की भूमि रही है। ऐसा कहा जाता है कि व्यक्तित्व निर्माण में परिवेश का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान होता है अतः बाल्यकाल से ही महाप्रभु को ऐसा ही परिवेश प्राप्त हुआ जो उनको एक ऐसे अघोर सन्त के रूप में वन्दनीय बनाता है जिन्होंने न सिर्फ 'अघोर', 'अवधूत', 'औघड़' शब्दावली के सही तात्पर्य को आम जनमानस के समक्ष स्पष्ट किया बल्कि दलित, दमित, त्रसित, भाई–बंधुओं के कष्टों एवं समस्याओं का निदान भी किया। उनकी संवेदनशीलता के कारण ही उन्हें अघोरेश्वर संवेदनशील एवं एक 'औघड़ लीक से हटकर' भी कहा गया। अद्वैत चिंतन एवं साधना परम्परा भारतीय अध्यात्म का उत्कृष्टतम स्वरूप है। ब्रह्माद्वैत, शैवाद्वैत, शाक्ताद्वैत, कौल एवं अघोर इसी अद्वैत चिन्तन एवं साधना–परम्परा की विभिन्न धाराएँ हैं जिनमें एक ही परम तत्व को परब्रह्म, परमशिव, पराशक्ति, परावाक्, कुल, अघोर आदि विविध स्वरूपों में प्रस्तुत किया गया है। इन सबका उद्देश्य एक ही परम सत्ता के अस्तित्व का निरूपण करना है। अघोर परम्परा के आदि गुरु दत्तात्रेय महाराज का चिन्तन जहाँ ब्रह्मवादी अद्वैत परम्परा के निकट है। वहीं अघोराचार्य कीनाराम जी शैवाद्वैत एवं सन्तमत के अद्वैत का समर्थन करते हैं। अघोरेश्वर महाप्रभु जी शाक्ताद्वैतवादी प्रतीत होते हैं, जबकि आचार्य अभिनवगुप्त

** अतिथि प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग, शासकीय ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)*

कौल साधक हैं। पूज्यपाद अघोरेश्वर भगवान राम जी अघोर परम्परा के एक विशिष्ट ध्वजवाहक सन्त थे, काशी की उज्जवल तपःपूत अघोर साधन–परम्परा को उन्होंने अपनी साधना एवं लोकमंगल के कार्यों से अप्रतिम गति एवं स्थान प्रदान किया। चिन्तनात्मक दृष्टि से उनकी विचारधारा ब्रह्माद्वैत, शैवाद्वैत एवं शाक्ताद्वैत का समन्वित स्वरूप है। परम सत् के रूप में उन्होंने पराशक्ति 'सर्वेश्वरी' की परिकल्पना की है। अघोरेश्वर भगवान राम ने इस सर्वाधारभूता सर्वसारभूता पराशक्ति को सर्वेश्वरी का सार्थक अभिदान दिया है। यह पराशक्ति का भावात्मक निदर्शन है। शैवाद्वैतवादियों की भाँति वे शिवशक्ति अद्वैत एवं समन्वय का समर्थन तो करते हैं किन्तु शक्ति को सर्वाधारभूता स्वीकार करने के कारण उनके चिन्तन का केन्द्रीय तत्व 'शक्ति' अथवा 'सर्वेश्वरी' है। अघोरेश्वर महाप्रभु अघोर –साधना–परम्परा के सर्वोच्च आचार्य थे उन्होंने समदर्शिता एवं समवर्तिता के समन्वय जीवन्मुक्त का अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया तथा श्री सर्वेश्वरी समूह की स्थापना कर दैहिक एवं सामाजिक कुष्ठ जैसे जातिवाद, सम्प्रदायवाद, दहेज एवं दिखावा आदि का उन्मूलन किया। धर्म, समाज को एक सूत्र में बाँधने का अत्यन्त सशक्त उपादान हुआ करते हैं परन्तु वर्तमान समय में स्थिति ठीक इसके विपरीत है। अघोरेश्वर भगवान राम जी की दृष्टि में इसका सबसे बड़ा कारण धर्म का राजनीतिकरण है–महाप्रभु के समाज–चिन्तन में धर्म का एक नवीन स्वरूप प्राप्त होता है। इसका केन्द्रभूत तत्व ईश्वर न होकर मानव एवं मानव समाज है, क्योंकि उनके अनुसार ''जिसे जीवित–जागृत प्राणियों से प्रेम नहीं होता, उसे मंदिर में बैठे पत्थर के देवता और मस्जिद के शून्य निराकार ईश्वर से प्रेम नहीं हो सकता।

प्रस्तावना

भारत की पवित्र भूमि अनेक साधु, महात्माओं एवं सन्तों के अवतरण से समय–समय पर पुष्पित, पल्लवित होती रही है। हम यदि भारतीय संत परम्परा की बात करेंगे तो यह पायेंगे कि यह अत्यन्त ही विविधताओं से परिपूर्ण है तथा कहीं–कहीं तो आपस में ही एक दूसरे के सिद्धान्त के खण्डन–मण्डन की परम्परा चलती रहती है, परन्तु इसमें ध्यान देने योग्य यह बात है कि साधना के स्तर पर भले ही मतैक्यता न हो परन्तु समस्त सन्त परम्परा का लक्ष्य एक ही होता है, उस परमशक्ति परमतत्व की खोज करना। प्रस्तुत शोध आलेख एक ऐसे औघड़ सन्त के जीवन वृत्त, लोक मंगल के कार्य एवं उनके धर्म–मीमांसा आदि पर आधारित है जो कि उत्तर भारत के प्रसिद्ध चमत्कारी औघड़ सन्त किनाराम की शिष्य परम्परा के एक प्रतिष्ठा प्राप्त औघड़ महात्मा रहे हैं।[1]

सर्वप्रथम हम अघोर, औघड़ तथा अवधूत इन तीनों शब्दों के अर्थ को समझेंगे, दरअसल ये तीनों शब्द एक ही प्रकार के शक्ति साधक के लिए प्रयोग किए जाते हैं। बात भी वस्तुतः यही है 'औघड़' शब्द जो आजकल प्रचलित है, आज से हजारों वर्षों पहले, इस देश में अपने संस्कृत रूप में प्रचलित था। 'औघड़' शब्द का संस्कृत रूप 'अघोर' है।[2] यजुर्वेद का एक अध्याय है जिसे 'रूद्राध्याय' कहा जाता है। इस रूद्राध्याय में ही सबसे पहले रुद्र की मंगलकारी मूर्ति को 'शिवा' कहा गया है और साथ ही साथ रुद्र की इस शिवा मूर्ति को 'अघोरा' विशेषण से विभूषित किया गया है। इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि रुद्र ही शिव है और शिव ही अघोर हैं। आजकल का 'औघड़' शब्द भी शिव का ही अर्थ रखता है। इसलिए यह सिद्ध है कि शिव ही 'अघोर' हैं। जिसे आजकल 'औघड़' कहते हैं।[3]

अघोर परंपरा भारत की अद्वैत चिन्तन–धारा की मूल है। किन्तु आत्मप्रकाशन से विरत इस परम्परा के आत्मानन्दलीन साधकों एवं उनकी परम्परा के विषय में बहुत ही कम विषय–सामग्री वर्तमान समय में उपलब्ध है। इसके फलस्वरूप इस मत के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ एवं मिथ्यावधारणाएँ प्रचलित हैं। अघोरेश्वर महाप्रभु का इस विषय में कथन उल्लेखनीय है, ''आप किसी को खोपड़ी लिए शराब–गाँजा पीते–माँगते देखते हैं और उसे 'औघड़' नाम से संबोधित करते हैं, तो अपनी वाणी, चित्त, हृदय, मस्तिष्क और मन को दूषित करते हैं। ऐसे लोगों को आप यदि कुछ देते हैं, तो वह पत्थर पर बीज बोने के सदृश है।''[4]

'औघड़' शब्द सामान्य जनमानस में एक भय एवं जुगुप्सा का भाव अज्ञान के कारण आयाततः उत्पन्न करता रहा है, किन्तु यह शब्द अघोर–शिव का जो सौम्य एवं सर्व कल्याणकारी स्वरूप है, का अपभ्रंश है। अघोर ही अवधूत है। समाज की सामान्य मान्यताओं का अवधूनन–उपेक्षाकार माँ सर्वेश्वरी के सौन्दर्य के आनन्द एवं माधुर्य में रहने वाला साधक अवधूत होता है। भारतीय परम्परा में परमहंस शुकदेव अवधूत कहे गए हैं, स्वयं तुलसी ने अपने को अवधूत कहे जाने का स्वागत किया है। इस साधना का उत्स अथर्ववेद का रूद्राध्याय है। यह शिव–शक्ति सामरस्य का प्रतिपादक दर्शन है। इसके शिवाद्वैत में शक्ति पक्ष मातृत्व का प्रतीक होने के कारण स्त्री पक्ष की बड़ी प्रतिष्ठा है। इसीलिए इसमें आवरण भंग पर बल न देकर आवरण के समेटने पर बल दिया गया है। यह सृष्टि उस परम शिव का विभव है, उसका कण–कण उसी से उदीप्त है। सर्वेश्वरी की प्रतिष्ठा वस्तुतः समाज के अत्यन्त उपेक्षित, शोषित एवं दलित जन की सेवा है।[5]

ऐतिहासिकता एवं प्राचीनता–भारत में अघोर–मत के आस्तित्वक चिन्ह सर्वप्रथम सिन्धु घाटी की कला में देखने को मिलते हैं। मार्शल द्वारा प्रतिपादित पशुपति की मुहर पर अंकित योगी का स्वरूप अघोर साधना की सिद्धि का पहला मूर्तरूप है। सैंधव सभ्यता में लिंग–योनि पूजा के बहुसंख्यक प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि सिन्धु घाटी के नर–नारी जिस लोकधर्म के मतावलम्बी थे, यह अघोर मत ही हो सकता है। कालान्तर में पुर्तलीगंज (पाटलिपुत्र) के चकियों पर अंकित मातृदेवी के कला रूपों में भी इसकी पुष्टि होती है कि अघोर मत की शाक्त साधना का यही प्रारम्भिक उदाहरण है। अघोर मत की वैदिक पृष्ठभूमि अत्यन्त समृद्ध मिलती है। वैदिक प्रतीकवाद के अन्तर्गत अघोर मत के अधिकांश प्रतीक उल्लेखनीय और सुपरिचित मिलते हैं। आर्यों, द्रविड़ों, किरातों और निषादों के देवता रूद्र का वैदिक साहित्य में विस्तृत उल्लेख है। ये वैदिक और अवैदिक दोनों विचारधाराओं में पूज्य और लोकप्रिय देवता है। शुक्ल यजुर्वेद के अघोर मन्त्र में 'अघोर' शब्द से सौम्य, शान्त, मंगलरूप, विषमताओं से परे गिरिशन्त (वृष्टिकर्त्ता–मेघस्थित) पर्वत पर शयन करने वाला अत्यन्त सुख और कल्याण रूप, देहधारी (सगुण ब्रह्म), अपाप काशिनी पुण्यफल प्रदायिनी आदि बहुसंख्यक गुणवाचक, रूद्र के मूर्तरूप का वर्णन है।[6] ''अघोरान्नाऽपरो मन्त्रः नास्ति तत्वं गुरौः परम्' अर्थात् अघोर से बढ़कर दूसरा मन्त्र नहीं है और गुरू से श्रेष्ठ कोई तत्व नहीं है। वामन पुराण में शैव, पाशुपत, कालदमन और कापालिक इन चार मतों के नाम आए हैं।[7]

अघोर मत का उल्लेख वैदिक काल में भी अनेक बार हुआ है, विशेषकर महाअयर्वण काव्यऋचीक के पौत्र ऋषि जमदाग्नि और रेणुका के सबसे छोटे पुत्र परशुराम के सन्दर्भ में यह माना जाता है कि वे अघोरी डड़डनाथ के मानसपुत्र थे तथा जिनमें कापालिक महादेवी महादन्ती समाहित मानी जाती हैं। चूँकि परषुराम को अघोरी डड़डनाथ का मानसपुत्र माना गया है। अतः अघोर मत और उसकी अवधारणाओं, विश्वास और परम्पराओं का उल्लेख परशुराम सम्बन्धित साहित्य में होना स्वाभाविक है। प्राच्य विद्या के महान शोध पीठ 'भारत विद्या भवन' के संस्थापक और वैदिक साहित्य के विद्वान स्व. कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी ने परशुराम का उल्लेख अपने अनेक ग्रन्थों, लेखों और व्याख्यानों में किया है, जिसके साथ–साथ प्रसंगवश अघोर–मत का भी उल्लेख होता गया है। इनमें अघोर मत की मान्यताओं, विश्वास और परम्पराओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उनके एक ग्रन्थ ''भगवान परशुराम' में उल्लिखित सन्दर्भों के अनुसार अघोर मत के विषय में अनेक तथ्य सामने आते हैं।[8]

इसी तरह मत्स्येन्द्रनाथ के युग में भी कालघण्ट नामक एक कापालिक का उल्लेख हुआ है, जिनकी साधनाएँ अघोर साधनाओं से मिलती–जुलती हैं। इस प्रकार प्राचीनता की दृष्टि से अघोर मत एक बहुत पुराना मत है। जिस पर समय–समय पर विभिन्न धार्मिक मतों और सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ता रहा है। ईसा पूर्व की शताब्दियों से लेकर आधुनिक परवर्ती स्वरूप तक अघोर मत की जो एक अजस्त्र धारा प्रवाहमान हुई है, वह मार्ग में शैव–मत, शाक्त मत, नाथ सम्प्रदाय, दत्त सम्प्रदाय, निर्गुण सन्त सम्प्रदाय, बौद्ध सम्प्रदाय, कापालिक, कालमुख, सरभंग, किनारामी और 'श्री सर्वेश्वरी समूह' के विभिन्न घाटों को पार करती हुई आज भी अपने अविच्छिन्न रूप में गतिशील है। अघोर मत के दार्शनिक सिद्धान्तों में एकरूपता है। केवल आचार–विचार और साधना के स्वरूप तथा बाह्याचर में किंचित अन्तर दिखाई देता है, जिसे युग और परिस्थितियों तथा समय–समय पर उत्पन्न अन्य धार्मिक मतों तथा सम्प्रदाओं के प्रभाव का परिणाम माना जा सकता है। इसकी प्राचीनता और ऐतिहासिकता पुरातात्विक आधार पर भी प्रमाणित है।[9]

अघोर मत के अस्तित्व और प्रभाव का समग्र आकलन करने के लिए यह आवश्यक है कि इस क्षेत्र का विस्तृत सर्वेक्षण किया जाये। जो क्षेत्रीय स्तर पर ही आसानी से सम्भव हो सकता है। विविध धार्मिक स्थल, तीर्थ स्थल, नदी तट, आदि अघोर साधना के केन्द्र रहे हैं। अघोर मत की व्यापकता और प्रचार–प्रसार के प्राचीन उदाहरणों से सूचीबद्ध किये जाने के लिए एक योजनाबद्ध कार्यक्रम की आवश्यकता है।[10]

महत्व–हड़प्पा और मोहन जोदड़ों की खुदाई के फलस्वरूप प्राप्त वस्तुओं को देखने से ज्ञात होता है कि उस काल में अघोर दर्शन का भी महत्व था जिस प्रकार की सामग्री सिन्धु घाटी की खुदाई में मिली है वैसी ही वस्तुएँ एलम और मेसोपोटामिया की सभ्यता में भी मिली है। सर जॉन मार्शल का मत है कि एशिया और यूरोप दोनों में यह सभ्यता फैली हुई थी, इसमें दजला–फरात की घाटी, हेलमन्द की घाटी और सिन्धु की घाटी सम्मिलित थी।[11]

उपरोक्त तथ्यों एवं अघोर परम्परा की ऐतिहासिकता एवं प्राचीनता की प्रमाणिकता से यह सिद्ध होता है कि यह परम्परा वैदिक काल के पहले से भी अस्तित्व में था क्योंकि इस परम्परा का आर्विभाव ही भगवान शिव से होता है और जैसा कि हम सभी इस तथ्य से अवगत हैं कि शिव अनादि अनन्त हैं। इसलिए अघोर मत एवं इसकी धर्म मीमांसा का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। भगवान शिव से अवतरित हुए अघोर परम्परा को दत्तात्रेय महाराज द्वारा तथा

उनके अनेक शिष्यों द्वारा वर्तमान समय तक संचालित किया जा रहा है परन्तु अघोरेश्वर महाप्रभु ने समाज के प्रति संवेदनशीलता दिखाते हुए एक ऐसे 'औघड़ का परिचय दिया जो लीक से हटकर लोकमंगल हेतु स्वयं को सीधे तौर पर समाज से जोड़े रखें जो कि औघड़ परम्परा में पहली बार किसी अघोर सन्त द्वारा किया गया। मात्र 24 वर्ष की अवस्था में महाप्रभु ने 'श्री सर्वेश्वरी समूह' की स्थापना किया जिसका उद्देश्य था दलित, पीड़ित और शोषित मानवता को मुख्य धारा से जोड़ना। उपरोक्त सभी लोकमंगल की विचारधारा अघोर सन्त अघोरेश्वर महाप्रभु को वर्तमान समय में प्रासंगिक तो बनाता ही है साथ ही युवावर्ग के लिए एक नैतिक प्रतिमान भी स्थापित करता है जो वे किसी भी पंथ, समुदाय, संस्था तथा धर्म आदि के होकर भी क्रियान्वित कर सकते हैं।

अघोरेश्वर महाप्रभु की धर्म–मीमांसा–महाप्रभु के समाज चिन्तन में धर्म का एक नया स्वरूप प्राप्त होता है। इनका केन्द्रभूत तत्व ईश्वर न होकर मानव एवं समाज है, क्योंकि उनके अनुसार ''जिसे जीवित–जागृत प्राणियों से प्रेम नहीं होता, उसे मन्दिर में बैठे पत्थर के देवता और मस्जिद के शून्य निराकार ईश्वर से प्रेम नहीं हो सकता। अतः लीक से हटकर आधुनिक काल के इस समयधारा के साथ महाप्रभु ने 'बाबा भगवान राम ट्रस्ट', 'श्री सर्वेश्वरी समूह' तथा 'अघोर परिषद्', नामक संस्था का गठन करके अघोर मत को एक नया आयाम दिया है। उन्होंने इसके दार्शनिक एवं व्यवहारिक दोनों पक्षों में नयी मान्यताओं की स्थापना की। अघोर साधना को महाप्रभु ने श्मशान के बजाय आश्रमविहत बनाया। मानवीय घृणा के प्रतिरूपों मल–मांस, मूत्रादि के स्थान पर कुष्ठ रोगियों की सेवा के प्रतिमान उन्होंने स्थापित किये हैं क्योंकि, घृणास्पद वस्तुओं को अपनाने का अर्थ मल–मूत्र का भक्षण नहीं, अपितु वह कुष्ठ रोगियों की सेवा भी हो सकती है साथ ही मदिरा आदि मादक द्रव्यों का परिहार और सदाचारपूर्ण जीवन की स्थापना के प्रयत्नों के साथ अघोर मत में एक नये–युग का सूत्रपात हुआ है।[12] अघोरेश्वर महाप्रभु की धर्म मीमांसा शक्ति तत्व को ही परमतत्व मानती है साथ ही उन्होंने ब्रह्म का भी उल्लेख किया है। वस्तुतः वे दोनों को एक मानते हुए कहते हैं–''वह निष्क्रियता में ब्रह्म और सक्रियता में शक्तिस्वरूप है।''[13]

जहाँ तक अघोरेश्वर महाप्रभु के विचारों का प्रश्न है, उन पर बौद्ध दर्शन का सर्वाधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। उनके नैतिक एवं सामाजिक चिंतन की पृष्ठभूमि में बौद्ध–दर्शन का भाव स्पष्ट रूप देखा जा सकता है। उदाहरणतः महाप्रभु ने शील पर अत्यधिक बल दिया है जो कि भगवान बुद्ध द्वारा भी अपनाया

गया था।[14] महाप्रभु का कथन है कि ''औघड़ न शाक्त होते हैं और न शैव। इनका मध्यम मार्ग होता है। शक्ति की उपासना करते हैं, और रूद्र की भी उपासना करते हैं परन्तु न रूद्र को ही मानते हैं और न शक्ति को ही मानते हैं।''[15]

वैष्णव आगम की महत्वपूर्ण शाखा है पांचरात्र–दर्शन इसके मतानुसार परम ब्रह्म को अद्वितीय, असीम, अनादि, अनन्त तथा सभी प्राणियों में अन्तर्वास करने वाला माना गया है। ''महाप्रभु के दर्शन में 'कपालेश्वर' की अवधारणा पर इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। उल्लेखनीय है कि यहाँ कपालेश्वर को अजन्मा, अयोनि, निष्कलंक तथा स्वात्मालीन माना गया है।''[16] अघोरेश्वर महाप्रभु के अनुसार शक्ति ही परमतत्व है, जो इस सृष्टि के कण–कण में परिव्याप्त है। इस सर्वात्मभूता शक्ति तत्व को उन्होंने सर्वेश्वरी कहा है–''शक्ति का आदिरूप सर्वेश्वरी है, जिसकी कृपा से सभी कुछ सुलभ है। सर्वेश्वरी ही एक शक्ति है, जिसका अस्तित्व कण–कण में है।[17] सर्वेश्वरी की उपासना ही सर्वोपरि है।

उनके इस कथन से स्पष्ट है कि परम तत्व अथवा शक्ति न केवल इस सृष्टि के कण–कण में व्याप्त है, अपितु जहाँ भी जो कुछ भी है, उन सबका निमित्त (कारण) भी वही है। उससे परे अथवा पृथक कुछ भी नहीं है। न केवल जीव–जगत बल्कि कथित जड़–जगत सबमें वही व्याप्त है, क्योंकि शक्ति के अभाव में किसी भी प्रकार की क्रिया अथवा वस्तु का अस्तित्व संभव नहीं है। अघोरेश्वर महाप्रभु के अनुसार–''संसार की कर्मशाला में शक्ति से परे कुछ नहीं है। विश्व का प्रत्येक कार्य शक्ति द्वारा ही होता है।[18]

अघोरेश्वर महाप्रभु जी का दर्शन समग्र मानवता का दर्शन है, विश्व मानव समुदाय आज जिस तरह से धार्मिक उन्माद एवं असहिष्णुता से पीड़ित है उसमें यह चिन्तन–परम्परा एक नवीन दृष्टि प्रदान करती है। महाप्रभु का कथन है कि 'अघोर अथवा अवधूत कोई पंथ या सम्प्रदाय नहीं है यह साधना की सर्वोच्च स्थिति है।' अतः अपनी आस्थाओं का सम्मान करते हुए किसी भी सम्प्रदाय का साधक इस अभेदपरक अघोरत्व की स्थिति प्राप्त कर सकता है।[19] श्री सर्वेश्वरी समूह के माध्यम से लोकमंगल हेतु उन्नीस सूत्रीय कार्यक्रम देश–विदेश में आश्रम की शाखाओं द्वारा चलाए जाते हैं, कुष्ठ रोगियों कि सेवा कर इन्हें मुख्य धारा में निरन्तर लाया जा रहा है एवं दहेज रहित विवाह तथा विधवा पुर्नविवाह पर बल दिया जाता है साथ ही शिक्षण संस्थाओं के माध्यम से शिक्षा के प्रचार–प्रसार में अघोर–साधकों को प्रवृत्त करके वास्तव में महाप्रभु ने एक युगान्तकारी कार्य किया है।

अन्ततः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाप्रभु की धर्म–मीमांसा के केन्द्र में मानव कल्याण समाहित है क्योंकि हम जिस शक्ति अथवा सर्वेश्वरी की उपासना करते हैं वह सिर्फ हमारे सेवा भावना से ही प्रसन्न हो सकती हैं। महाप्रभु का दर्शन खासकर युवा वर्ग को इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वे धर्म के इस नये स्वरूप को आत्मसात कर माँ सर्वेश्वरी का मनन करते हुए जीवित जागृत प्राणियों से प्रेम करे और अपने जीवन को सफल बनाएँ इसी क्रम में यह उल्लेख करना अत्यंत प्रासंगिक होगा कि अघोरेश्वर महाप्रभु के वर्तमान उत्तराधिकारी पूज्यपाद बाबा गुरुपद संभव राम जी के कुशल नेतृत्व में माँ सर्वेश्वरी के सैनिकों द्वारा महाप्रभु के समस्त लोकमंगल कार्यों का निर्वहन अनवरत सफलतापूर्वक किया जा रहा है।

संदर्भ

1. औघड़ भगवानराम, चतुर्वेदी यज्ञनारायण, पृ. 5
2. तदैव,
3. तदैव, पृ. 6
4. अघोरेश्वर भगवान राम का दर्शन, डॉ. सिंह, राम प्रकाश, पृ. 1
5. अघोर–मत सिद्धान्त और साधना, मिश्रा, डा. सरोज कुमार पृ. iv
6. तदैव पृ. 37
7. द वैदिक एज, मुखर्जी, आर. के. पृ. सं. 196
8. अघोर मत सिद्धान्त और साधना, मिश्रा, डॉ. सरोज कुमार पृ. 47–48
9. तदैव, 49–50
10. तदैव, 61
11. पूर्व मध्ययुगीन धार्मिक आस्थाएँ, पगारे, शरद पृ. सं. 61
12. अघोर मत सिद्धांत और साधना, मिश्रा, डॉ. सरोज कुमार पृ. सं. 27
13. अघोर विचार दर्शन, पुष्प 2, पृ. सं. 17
14. अघोरेश्वर भगवान राम का दर्शन, डॉ. सिंह, राम प्रकाश, पृ. सं. 107
15. अघोर विचार दर्शन, पृ. सं. 43
16. अघोर विचार दर्शन, पुष्प–2, पृ. सं. 1
17. अघोर वचन शास्त्र, पृ. सं. 2
18. तदैव–पृ. सं. 2
19. अघोरेश्वर भगवान राम का दर्शन, डॉ. सिंह राम प्रकाश, पृ. सं. 271

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

जैन दर्शन में अनेकान्तवाद : एक विमर्श

डॉ. कुमारी प्रतिभा सिंह *

अनेकान्तवाद जैन दर्शन का आधार–स्तम्भ है। इसी आधार स्तम्भ पर जैन दर्शन के तत्वमीमांसीय विचार का महल टिका हुआ है। जैन दर्शन के तत्वमीमांसीय विचार को अनेकान्तवाद के रूप में जाना जाता है। यह सिद्धांत अपने–आप में एक अतुलनीय सिद्धांत है, क्योंकि यह वास्तववाद, सापेक्षतावाद तथा अनेकवाद का समर्थन करता है। अनेकान्तवाद को परिभाषित करते हुए कहा गया है।

अनन्तधर्मकं वस्तु।
अनन्तधर्मात्मकमेव तत्वम्।।[1]

अर्थात् अनेकान्तवाद एक ऐसा सिद्धांत है, जो अनेक की सत्ता में विश्वास करता है। यह मानता है कि इस संसार में अनन्त वस्तुओं की सत्ता है, अनेक वस्तुओं की सत्ता है तथा प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म, अनेक गुण, अनेक लक्षण तथा अनेक विशेषताएँ होती है। सभी वस्तुओं की अनेक सीमाएँ होती हैं, उनसे अनेक अपेक्षाएँ होती है। उनके प्रति अनेक दृष्टियाँ होती है। वस्तुओं में निहित अनेक धर्मों में से कुछ धर्म भावात्मक होते हैं तो कुछ निषेधात्मक कुछ नित्य होते हैं तो कुछ अनित्य। जैन दर्शन का यह विचार अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म सिद्धांत तथा बौद्ध दर्शन के सिद्धांतों के विपरीत प्रतीत होता है, क्योंकि अद्वैत वेदान्त तथा बौद्ध दर्शन दोनों ही एकात्मवादी विचार का समर्थन करते हैं। जहाँ एक ओर अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म की नित्यता को ही एकमात्र सत्य मानकर अनित्यता को पूर्णरूपेण असत्य माना गया है, वहीं दूसरी ओर बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत अनित्यता को ही सत्य मानकर नित्यता को ही असत्य माना गया है। जैन दर्शन का अनेकान्तवादी विचार पाश्चात्य दार्शनिक पार्मेनाइडीज तथा हेराक्लीट्स के विचारों के विपरीत प्रतीत होता है क्योंकि पार्मेनाइडीज ने जहाँ शुद्ध सत्ता को स्वीकार कर परिवर्तन को भ्रान्ति माना है, वहीं हेराक्लीट्स सिर्फ परिवर्तन को सत्य मानकर नित्यता को असत्य मानता है।

** एम. ए., पी.एच.डी., दर्शनशास्त्र विभाग (पटना विश्वविद्यालय, पटना)*

यह निर्विवाद रूप के सत्य है कि अनेकान्तवाद जैन दर्शन की अद्वितीय मौलिक कृति है। परन्तु वेद, उपनिषद् आदि ग्रंथों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि वेद तथा उपनिषद् में भी यत्र–तत्र अनेकान्त दृष्टि से संबंध में उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद में परस्पर विरोधी मान्यताओं में निहित सापेक्षित सत्यता को स्वीकार करते हुए 'एक सद् विप्राः बहुधा वंदति'[2] का उल्लेख किया गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि कहते हैं, 'वह स्थूल भी नहीं है और सूक्ष्म भी नहीं है। वह ह्रस्व भी नहीं और दीर्घ भी नहीं है।'[3] तैत्तिरीयोपनिषद् में परम सत्ता को मूर्त–अमूर्त, वाच्य–अवाच्य, सत्–असत् विज्ञान–अविज्ञान रूप[4] कहा गया है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि अनेकान्त दृष्टि का इतिहास अति प्राचीन है परन्तु एक सिद्धांत, दर्शन एवं विचार पद्धति के रूप में अनेकान्तवाद का सिद्धांत महावीर स्वामी की अद्वितीय देन है।

जैन दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं। धर्म किसी धर्मी का ही होता है क्योंकि धर्म को भी आश्रय की आवश्यकता होती है। जैन दर्शन में धर्मी के लिए द्रव्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। द्रव्य वह है, जो सभी वस्तुओं के अन्दर रहने वाला सार तत्व है, जो अपने को विविध आकृतियों में प्रकट करता है तथा जिसकी उत्पत्ति, नाश एवं नित्यता (स्थिति) तीन विशेषताएँ हैं, जिनके बीच आपस में कोई भी विरोध नहीं है और जिसका वर्णन विरोधी पदार्थों के द्वारा भी हो सकता है।[5] जिस प्रकार से इस विश्व का न तो आदि होता है और न ही अंत क्योंकि यह सदैव विद्यमान रहता है उसी प्रकार से द्रव्य का भी न तो आदि होता है और न अंत क्योंकि यह सदैव विद्यमान रहता है। जैन दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के धर्म पाए जाते हैं– (1) स्वरूप धर्म (2) आगन्तुक धर्म।

(1) स्वरूप धर्म–द्रव्य के अपरिवर्तनशील तथा नित्य धर्मों को स्वरूप धर्म कहा जाता है। इन धर्मों में न तो कभी भी किसी भी प्रकार का कोई भी परिवर्तन होता है और न ही इसका कभी भी नाश होता है। उदाहरणार्थ–चेतना जीव का स्वरूप धर्म है। स्वरूप धर्म के अभाव में द्रव्य के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है क्योंकि यह द्रव्य का अनिवार्य आवश्यक तथा अपृथक् धर्म है। जैन दर्शन के अन्तर्गत स्वरूप धर्म को गुण की संज्ञा दी गयी है। जिस प्रकार से परमाणुओं के अंदर भौतिकता विद्यमान रहती है, उसी प्रकार से द्रव्य के अंदर गुण विद्यमान रहती है। पंचास्तिकाय में कहा गया है 'द्रव्य और गुण के बीच का संबंध, इनके बीच की एकता असंभव पार्थक्य तथा अनिवार्य सरलता का होता है परस्पर संयोग का नहीं।[6]

(2) आगन्तुक धर्म–द्रव्य के परिवर्तनशील धर्मों को आगन्तुक धर्म कहा जाता है। इन धर्मों में परिवर्तन होते रहता है। यह द्रव्य का अस्थायी तथा परिवर्तित लक्षण हैं। द्रव्य के आगन्तुक धर्म के कारण ही विश्व के समस्त पदार्थों में परिवर्तन होता है। जैन दर्शन के अन्तर्गत आगन्तुक धर्म को पर्याय की संज्ञा दी गयी है। जैन दर्शन का पर्याय संबंधी विचार स्पिनोजा के पर्याय संबंधी विचार से साम्य रखता है क्योंकि स्पिनोजा ने भी विश्व के पदार्थों की परिवर्तनशीलता का कारण पर्याय को ही माना है। उदाहरणार्थ– सोना एक द्रव्य है जिसके घनत्व, पीत वर्ण आदि गुण होते हैं जिसमें कभी भी परिवर्तन नहीं होता है। लेकिन पर्याय के कारण ही इनके स्वरूप में परिवर्तन होता है। परिणामतः इनसे भिन्न–भिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनायी जाती है।

अतएव यहाँ यह कहा जा सकता है कि जैन दर्शन ने उत्पत्ति, क्षय तथा नित्यता की व्याख्या के लिए द्रव्य के धर्म के रूप में गुण एवं पर्याय को स्वीकार किया है। यही कारण है कि जैन दर्शन में द्रव्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है, 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।'[7] जैन दर्शन की भांति स्पिनोजा ने भी ईश्वर को मूल तत्व मानने के बावजूद भी विश्व की व्याख्या हेतु गुण एवं पर्याय को स्वीकार किया है।

जैन दर्शन के अन्तर्गत द्रव्य के दो रूपों को स्वीकार किया गया है– (i) अस्तिकाय द्रव्य तथा (ii) नास्तिकाय द्रव्य। जैसे–काल अस्तिकाय द्रव्य विस्तारयुक्त होता है। इन द्रव्यों की सत्ता होती है। जैन दर्शन की मान्यता है कि अस्तिकाय द्रव्य के दो भेद हैं–(i) जीव तथा (ii) अजीव। जीव तथा अजीव दोनों एक–दूसरे से परस्पर भिन्न तथा स्वतंत्र होते हैं लेकिन इसके बावजूद भी दोनों सहअस्तित्व वाले हैं क्योंकि ये सदैव रहनेवाले वर्ग हैं।

1. जीव–जैन दर्शन के अन्तर्गत जीव को एक चेतन द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। चेतना जीव का स्वरूप धर्म है। जैन दर्शन में जीव को परिभाषित करते हुए कहा गया है–''चेतना लक्षणो जीवः।''[8]

अर्थात् चेतना जीव का मूल लक्षण है। जैन दर्शन का जीव–संबंधी विचार न्याय–वैशेषिक के आत्मा संबंधी विचार से भिन्न हैं, क्योंकि जहाँ न्याय–वैशेषिक चेतना को आत्मा के आगन्तुक गुण के रूप में स्वीकार करता है वहीं जैन दर्शन चेतना को जीव का स्वरूप अर्थात् नित्य धर्म मानता है। जैन दर्शन की मान्यता है कि जीव में स्वरूप धर्म होने के साथ–ही–साथ आगन्तुक धर्म भी होते हैं। उदाहरणार्थ– सुख–दुःख, इच्छा, संकल्प इत्यादि। इन धर्मों को आगन्तुक धर्म कहा जाता है क्योंकि इन धर्मों की उत्पत्ति भी होती है और इनका विनाश भी होता है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव ज्ञाता भी है, कर्ता भी है तथा भोक्ता भी है।[9] जैनियों का जीव–संबंधी विचार सांख्य दर्शन के आत्मा–संबंधी विचार से भिन्न प्रतीत होता है, क्योंकि जहाँ जैन दर्शन में जीव को कर्ता माना गया है वहीं सांख्य दर्शन में आत्मा को अकर्ता माना गया है। कहा जाता है जो अनेक प्रकार के पदार्थों को जानने के साथ–ही–साथ उसका प्रत्यक्ष अनुभव भी करता है। सुख–प्राप्ति की इच्छा रखता है लेकिन दुःख से भयभीत हो जाता है। जो अपने कर्मों का निर्वहन या तो उपकार की भावना से करता है या फिर दूसरों को नुकसान पहुँचाने के उद्देश्य से करता है। साथ–ही–साथ वह अपने द्वारा किए गए कर्मों के परिणामस्वरूप मिलने वाले फलों का भोग भी स्वयं ही करता है, जीव कहलाता है।[10] जीव स्वभावतः पूर्ण होते हैं क्योंकि वह अनन्तचतुष्ट्य है।[11] अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य तथा अनंत आनन्द से युक्त होता है।

जीव के संबंध में जैन दर्शन मध्यम परिमाणवाद का समर्थन करता है। मध्यम परिमाणवाद आत्मा के परिमाण के संबंध में विभुवाद तथा अणुवाद का मध्यमवर्ती सिद्धांत है। जहाँ एक ओर न्याय दर्शन तथा अद्वैत वेदान्त आत्मा को विभु–परिमाण मानते हुए उसे सर्वव्यापी मानती है वहीं वैष्णव विचारधाराएँ आत्मा को अणु परिमाण मानने के कारण इसके आकार को अणुरूप मानती है। परंतु जैन दर्शन का मानना है कि जीव न तो विभुरूप होता है और न ही अणुरूप बल्कि वह शरीर परिमाणी होता है। यही कारण है कि वह जिस शरीर को धारण करता है उसी के आकार को धारण कर लेता है। जिस प्रकार से प्रकाश का अपना कोई आकार नहीं होता है परंतु जिस कमरे में वह प्रकाशित होता है उसी प्रकार कमरे के आकार को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार से जीव भी स्वयं आकारविहीन होता है। परन्तु वह जिस शरीर में प्रवेश करता है उसी के आकार को ग्रहण कर लेता है।

जैन दर्शन की मान्यता है कि जीव अनन्त होते हैं परन्तु सभी जीवों में चेतना की मात्रा समान रूप से नहीं होती है। जैन दर्शन का यह विचार पाश्चात्य दार्शनिक लाइबनीज के चिद्‌णुवाद के समान प्रतीत होता है क्योंकि लाइबनीज भी यह मानते हैं कि चिद्‌णु (Monad) अनेक होते हैं तथा सभी चिद्‌णु चेतन स्वरूप होते हैं। परन्तु सभी चिद्‌णुओं में चेतना की मात्रा में अन्तर पाया जाता है जिसके कारण इन्हें पाँच वर्गों में विभाजित किया जाता है।

लेकिन जैनियों का जीव–विचार लाइबनीज के चिद्‌णुवाद के समान होते हुए भी भिन्न है क्योंकि लाइबनीज के दर्शन में सर्वोच्च चिद्‌णु के रूप में ईश्वर को स्वीकार किया गया है जो कि पूर्णतः चेतनस्वरूप है परंतु जैन दर्शन में ईश्वर के

अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। जैन दर्शन के अन्तर्गत जीवों का वर्गीकरण तीन रूपों में किया गया है।[12]

(i) नित्यसिद्ध अर्थात् सदापूर्ण जीव

(ii) मुक्त जीव

(iii) बद्ध जीव

(i) नित्यसिद्ध अर्थात् सदापूर्ण जीव–नित्यसिद्ध जीव ऐसे जीवों को कहा जाता है जो कभी भी शरीर धारण नहीं करते हैं। जो सदा के लिए मुक्त हो चुके हैं।

(ii) मुक्त जीव–मुक्त जीव ऐसे जीवों को कहा जाता है जिन्होंने मोक्ष को प्राप्त कर लिया है, जिन्हें विशुद्धता की प्राप्ति हो गयी है। मुक्त जीव पूर्णतः पवित्र होते हैं क्योंकि इनके अन्दर प्रकृति का लेशमात्र भी मौजूद नहीं रहता है। मुक्त जीव निरूपाधि जीव होते हैं। इसलिए ये पवित्रता एवं असीम चेतना का जीवन व्यतीत करते हैं। ये अनन्त चतुष्ट्य से युक्त होते हैं। मुक्तात्मा के रूप में जीव शुद्ध प्रमाता अर्थात् ज्ञाता है जो कि सरल, अपरिवर्तनशील है। जैन दर्शन का मुक्त जीव–संबंधी विचार उपनिषदों में प्रतिपादित आत्मा संबंधी विचार के अनुकुल प्रतीत होता है जो अपरिवर्तनशील, ज्ञाता है। जैन दर्शन का मुक्त जीव–संबंधी विचार लाइबनीज के तीक्ष्णतम चिद्णु के समकक्ष प्रतीत होता है क्योंकि जैन का मुक्त जीव तथा लाइबनीज का तीक्ष्णतम चिद्णु दोनों ही पूर्णतः चेतनस्वरूप होते हैं परन्तु जैन तथा लाइबनीज के दर्शन में थोड़ा अन्तर पाया जाता है क्योंकि लाइबनीज ने तीक्ष्णतम चिद्णु के रूप में ईश्वर को माना है जबकि जैन दर्शन की ईश्वर की सत्ता का निषेध करते हैं।

(iii) बद्ध जीव–बद्ध जीव ऐसे जीवों को कहा जाता है जिन्हें अभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुयी है। ये कर्म बंधनों के जाल में फँसे रहते हैं। इनके अन्दर अनन्तचतुष्ट्य का अभाव पाया जाता है। बद्ध जीव भ्रांति के शिकार होते हैं। परिणामतः वे प्रकृति के साथ, सांसारिक कार्यों के साथ अपना संबंध जोड़ लेते हैं। परिणामतः उन्हें जन्म–मरण के चक्रव्यूह में फँसा रहना पड़ता है। बद्ध जीव अज्ञानी होते हैं। अपनी अज्ञानता के कारण ही वे अपने–आप को प्रकृति के समान समझ लेते हैं। जैन दर्शन के अनुसार बद्ध जीव दो प्रकार के होते हैं–(i) स्थावर (ii) त्रस।

(i) स्थावर जीव–स्थावर जीव गतिहीन होते हैं। इनके अन्दर गति का अभाव पाया जाता है। स्थावर जीवों में जीव के स्वरूप की अभिव्यक्ति न्यूनतम रूप में होती है। इनमें मात्र एक इन्द्रिय स्पर्शेन्द्रिय ही पायी जाती है। इसलिए इन्हें एकन्द्रिय जीव के रूप में भी जाना जाता है। इन्हें सिर्फ स्पर्श का ही ज्ञान

प्राप्त होता है। इनके पाँच रूप होते हैं–(i) पृथ्वीकायिक (ii) जलकायिक (iii) वायुकायिक (iv) अग्निकायिक तथा (v) वनस्पतिकायिक।

(ii) त्रस जीव–त्रस जीव ऐसे जीवों को कहा जाता है जो गतिशील होते हैं। स्थावर जीवों की अपेक्षा त्रस जीवों में चेतना अधिक विकसित होती है। चेतना की अभिव्यक्ति के आधार पर त्रस जीव चार प्रकार के होते हैं।[13]

(i) द्वीन्द्रिय जीव–द्वीन्द्रिय जीव में दो प्रकार की इन्द्रियाँ अर्थात स्पर्शेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रिय पायी जाती है। जैसे–सीप।

(ii) त्रीन्द्रिय जीव–त्रीन्द्रिय जीव में तीन प्रकार की इन्द्रियाँ अर्थात स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय पायी जाती है। उदाहरणार्थ–पिपीलिका।

(iii) चतुरिन्द्रिय जीव–चतुरिन्द्रिय जीव में चार प्रकार की इन्द्रियाँ अर्थात् स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय तथा चक्षुरिन्द्रिय पायी जाती है। उदाहरणार्थ–मक्खी।

(iv) पंचेन्द्रिय जीव–पंचेन्द्रिय जीव ऐसे जीवों को कहा जाता है जिसके अन्दर पांच प्रकार की इन्द्रियाँ अर्थात स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय तथा कर्णेन्द्रिय। इन जीवों में पंचन्द्रियों का पूर्णरूपेण विकास हो जाता है। उदाहरणार्थ–मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि।

उपरोक्त सभी प्रकार के जीवों में मनुष्य सबसे उच्च श्रेणी का जीव होता है क्योंकि इसके पास पंचेन्द्रियों के अतिरिक्त एक छठीं इन्द्रिय अर्थात् मन भी पाया जाता है तथा यह विवेक सम्पन्न भी होता है।[14]

2. अजीव द्रव्य–जैन दर्शन के अन्तर्गत अजीव को अचेतन द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। यह द्वितीय कोटि का अस्तिकाय द्रव्य है। यह जड़ भोग्य है। इसमें चेतना का अभाव पाया जाता है। परन्तु इसे स्पर्श किया जा सकता है, इसका स्वाद लिया जा सकता है, इसे देखा जा सकता है तथा इसे सूँघा भी जा सकता है। अजीव ज्ञेय अर्थात् विषय पदार्थ होता है।[15] अजीव द्रव्य चार प्रकार के होते हैं– धर्म तथा अधर्म, आकाश, पुद्गल।

(i) और (ii) धर्म तथा अधर्म–जैन दर्शन में धर्म तथा अधर्म को पाप तथा पुण्य, शुभ तथा अशुभ कर्म के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है बल्कि जैन दर्शन के अन्तर्गत संसार में दृष्टिगोचर होने वाली गति और स्थिरता (स्थिति) के रूप में धर्म तथा अधर्म को स्वीकार किया गया है। धर्म तथा अधर्म दोनों ही तत्व गतिशून्य, अमूर्त, अशरीर, विस्तारयुक्त, अभौतिक, परमाणुविहीन तथा रचना में अखंडित होते हैं। धर्म तथा अधर्म गति एवं स्थिति के उदासीन कारण है क्योंकि न तो धर्म स्वयं गति है और न ही अधर्म स्वयं स्थिरता। न तो धर्म जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों को गति प्रदान करता है और न ही अधर्म जीव पुद्गल आदि द्रव्यों

को स्थिति प्रदान करता है बल्कि जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों में जो गति एवं स्थिरता दिखलाई पड़ती है वह धर्म–अधर्म के कारण ही होता है। धर्म जीव, पुद्गल आदि की गति में केवल सहायक होता है तथा अधर्म जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों की स्थिति का आधार है।[16] धर्म तथा अधर्म दोनों का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा न होकर अनुमान ने द्वारा होता है।

(iii) आकाश–आकाश एक ऐसा अजीव द्रव्य है जो पुद्गल के एक अविभाज्य परमाणु से घिरा होता है तथा अन्य कणों को भी स्थान प्रदान करता है।[17] आकाश न तो गति की अवस्था में होता है और न ही स्थिरता की अवस्था में।[18] आकाश में एक अवयव धर्म का, एक अवयव अधर्म का, एक कण समय का तथा प्रकृति के अनेकों परमाणु एक सूक्ष्म अवस्था में निवास कर सकते हैं क्योंकि जीव, पुद्गल, धर्म तथा अधर्म का विस्तार आकाश में ही संभव होता है। आकाश में सिर्फ विस्तृत पदार्थों का ही विस्तार होता है। विस्तारहीन पदार्थों का नहीं। आकाश अनन्त है इसलिए यह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। इसका ज्ञान सिर्फ अनुमान के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

जैन दर्शन मानता है कि आकाश के दो भेद हैं–लोकाकाश तथा अलोकाकाश।

(i) लोकाकाश–लोकाकाश आकाश का वह रूप है, जिसमें गति संभव होता है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि का विस्तार लोकाकाश में ही संभव होता है।

(ii) अलोकाकाश–अलोकाकाश आकाश का वह रूप है, जिसमें गति का अभाव पाया जाता है। यह शून्य आकाश है।[19] जो लोकाकाश से परे हैं। यह अनन्त तक विस्तृत होता है।

(iv) पुद्गल–जैन दर्शन के पुद्गल को एक भौतिक अर्थात् जड़ तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। यद्यपि बौद्ध दर्शन में भी तत्व रूप में पुद्गल का प्रयोग किया गया है परंतु बौद्ध दर्शन में 'पुद्गल' का प्रयोग जीव के संबंध में किया गया है परन्तु जैन दर्शन में 'पुद्गल' का प्रयोग भौतिक तत्व के रूप में किया गया है। सर्वदर्शनसंग्रह में कहा गया है, 'पुद्गल' वह है जिसका संयोग एवं विभाग किया जा सके।[20] पुद्गल वह है जिसके द्वारा सभी मूर्त अथवा आकृतिमान पदार्थों, इन्द्रियों, इन्द्रियों के गोलको, नाना प्रकार के जीवों के शरीरों, भौतिक मन एवं कर्मों आदि का प्रत्यक्ष होता है।[21] जैन दर्शन के अनुसार पुद्गल दो प्रकार के होते हैं–(i) अणु तथा (ii) स्कन्ध।

(i) अणु पुद्गल–पुद्गल के विभाजन की अंतिम एवं सूक्ष्मतम अवस्था जो अविभाज्य है अणु कहलाती है इसका न तो आदि है, न अंत और न ही मध्य। इसका न तो निर्माण होता है और न ही नाश। यह अति सूक्ष्म, नित्य एवं निरपेक्ष

परम सत्ता है। यह सभी मूर्त पदार्थों का आधार है लेकिन स्वयं अमूर्त तथा आकृतिविहीन हैं। अणुओं के अंतर गुरुत्व का गुण पाया जाता है। जैन दर्शन मानता है कि प्रत्येक अणु में रूप, रस, गंध तथा स्पर्श गुण पाए जाते हैं। परन्तु ये गुण नित्य एवं स्थायी नहीं होते हैं। भारतीय विचारधाराओं में रूप, रस, गंध तथा स्पर्श के अतिरिक्त शब्द को भी मौलिक गुण के रूप में स्वीकार किया गया है परन्तु जैन दर्शन में शब्द को मौलिक गुण के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता है क्योंकि शब्द आकाश का गुण है। जैन दर्शन में शब्द को पुद्गलों में आकस्मिक परिवर्तन का परिणाम मात्र माना जाता है। अणु पुद्गल अदृश्य होते हैं। इसलिए इसका ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा न होकर अनुमान के द्वारा होता है। अणु पुद्गल कारण रूप होता है कार्य रूप नहीं।

(ii) स्कन्ध पुद्गल—जैन दर्शन के अनुसार अणु पुद्गलों से स्कन्ध पुद्गल का निर्माण होता है। दो या दो से अधिक अणुओं के संयोग से स्कन्ध का निर्माण होता है। अणुओं के बीच परस्पर संयोग तभी होता है जब वे परस्पर विभिन्न प्रकृति के होते हैं। अणुओं में आकर्षण की शक्ति पायी जाती है जिसकी वजह से अणुओं में संयोग तथा विभाग होता है। पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु स्कन्ध पुद्गल कहलाते हैं। इन्हीं स्कन्धों से सम्पूर्ण विश्व का निर्माण होता है। स्कन्ध से सम्पूर्ण विश्व का निर्माण होता है। स्कन्ध पुद्गल दृष्टिगोचर होता है। इसलिए इसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है। यह कार्यरूप होता है।

जैन दर्शन की भांति वैशेषिक तथा बौद्ध दर्शन भी अणुवाद को स्वीकार करता है। जैन एवं वैशेषिक दोनों ही मानते हैं कि अणु नित्य, अविभाज्य, निरवयव, अदृश्य तथा भौतिक जगत का उपादान कारण है। परन्तु जैन दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन में अणुवादी विचारों के संबंध में मतभेद भी पाया जाता है क्योंकि जैन दर्शन अणुओं में सिर्फ परिमाणात्मक भेद मानता है जबकि वैशेषिक दर्शन मानता है कि अणुओं के बीच गुणात्मक तथा परिमाणात्मक दोनों प्रकार के भेद पाए जाते हैं। जैन दर्शन सिर्फ अणुओं को नित्य मानता है अणुओं के गुणों को नहीं जबकि वैशेषिक दर्शन अणुओं के गुणों को भी नित्य मानता है। जैन दर्शन तथा बौद्ध दर्शन के अणुवादी विचारों में भी अन्तर पाया जाता है। जैन दर्शन मानता है कि अणु नित्य है जबकि बौद्ध दर्शन मानता है कि अणु अस्थायी तथा विनाशी होते हैं।

नास्तिकाय द्रव्य—नास्तिकाय द्रव्य, द्रव्य का एक रूप होता है। इसमें विस्तार नहीं होता है। जैन दर्शन की मान्यता है कि नास्तिकाय द्रव्य का सिर्फ एक भेद होता है और वह है काल।

(i) काल—जैन दर्शन मानता है कि काल एकमात्र नास्तिकाय द्रव्य है। काल का अस्तित्व तो होता है परंतु इसका विस्तार संभव नहीं होता है। काल विश्व

की ऐसी सर्वव्यापक आकृति है, जिसके द्वारा संसार की समस्त गतियाँ सूत्रबद्ध होती है। यह सिर्फ व्यवधानपूर्ण परिवर्तनों की शृंखलाओं का जोड़ मात्र नहीं होता है बल्कि यह स्थिरता की एक ऐसी प्रक्रिया है जो भूतकाल एवं वर्तमानकाल को चिरस्थायी बनता है।[22] स्थिति की निरन्तरता (वर्तना), परिवर्तन (परिणाम), क्रिया परत्व–अपरत्व प्राचीनता–नवीनता, ज्येष्ठ–कनिष्ठ आदि विचारों एवं व्यवहारों की सार्थकता के लिए काल की सत्ता का अनुमान किया जाता है।[23] जैन दर्शन के अनुसार विश्व की समस्त वस्तुओं की आकृति का विलयन काल की गति से ही संभव होता है। इसीलिए काल को संहारकर्ता के नाम से जाना जाता है।[24] जैन दर्शन का मानना है कि काल के दो भेद होते हैं– परमार्थिक काल तथा व्यावहारिक काल।

(i) पारमार्थिक काल–जैन दर्शन का मानना है कि पारमार्थिक काल नित्य एवं निराकार होता है। इस काल की न तो आकृति होती है न आदि और न ही अन्त। यह काल विभाजनरहित है। अर्थात् यह भूत, वर्तमान तथा भविष्य के विभाजन से परे हैं। वर्तना (स्थिति की निरन्तरता) पारमार्थिक काल के कारण होता है। पारमार्थिक काल को काल के नाम से जाना जाता है।

(ii) व्यावहारिक काल–जैन दर्शन मानता है कि व्यावहारिक काल सापेक्ष होता है। इसका आदि भी होता है और अंत भी। वर्तना (स्थिति की निरन्तरता) के अतिरिक्त अन्य परिवर्तन जैसे–घंटा, मिनट, सेकेण्ड, महीना, सप्ताह, आदि व्यावहारिक काल के कारण होता है। व्यावहारिक काल को समय के नाम से जाना जाता है। समय का निर्णय परिवर्तनों अथवा वस्तुओं के अंदर गति के कारण होता है।[25]

अतएव अनेकान्तवाद जैन दर्शन का ऐसा अद्वितीय सिद्धान्त है, जहाँ वैचारिक संघर्षों के समाधान के लिए संजीवनी प्राप्त होती है। वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रगति के इस युग में भी मानव जहाँ एक ओर नए–नए कीर्तिमान स्थापित कर रहा है वहीं दूसरी ओर उसका जनजीवन अनेकानेक समस्याओं से ग्रसित हो रहा है। चारों तरफ द्वेष–द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। आलोचना–प्रत्यालोचना का दुष्चक्र तेजी से अपना पॉव पसारते जा रहा है। मनुष्य किसी भी वस्तु के एक पक्ष को जानकर अंधविश्वासों के चक्रव्यूह में फँसता चला जा रहा है। अहंकार, असहिष्णुता, विरोध, हिंसा वैमनस्य आदि की स्थिति अपने चरमोत्कर्ष पर है। ऐसी समस्त परिस्थितियों समस्याओं से निजात जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तवादी सिद्धान्त को अपनाकर आसानी से किया जा सकता है क्योंकि अनेकान्तवाद एक ऐसा अद्वितीय सिद्धांत है जो सत्य, तथ्य, ज्ञान, विचार, व्यवहार आदि के संबंध में संकीर्ण दृष्टि से देखने का निषेध कर

सत्य को अधिकाधिक दृष्टिकोणों से जानने का समर्थन करता है। यह समस्त विरोधी विचारों के बीच समन्वय स्थापित करने की उदार तथा विधायक दृष्टि प्रदान करती है। यह एक ही दृष्टिकोण से पदार्थ का अवलोकन करने की पद्धति को अपूर्ण तथा अप्रामाणिक मानकर एक ही वस्तु के अनेक धर्मों, गुणों को भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों से निरीक्षण करने की पद्धति को पूर्ण एवं प्रामाणिक मानने की शिक्षा देती है। अनेकान्तवाद जीवन के सभी क्षेत्राों में समन्वयात्मक दृष्टि अपनाने का ज्ञान प्रदान करती है।

अनेकान्तवाद ऐसा सिद्धान्त है जो विषम परिस्थितियों, सभी प्रकार के दुराग्रहों का उचित समाधान प्रस्तुत करते हुए कहता है कि देश–काल तथा अन्य परिस्थितियों के कारण सत् के विविध रूप संभव होते हैं। इसलिए जैन दर्शन अनेकान्त दृष्टि से विचारने की दिशा में उदारता, व्यापकता तथा सहिष्णुता का ऐसा पल्लवन किया है जिससे व्यक्ति दूसरे के दृष्टिकोण को भी वास्तविक तथा तथ्यपूर्ण मानने लगता है, सिर्फ अपने ही विचारों, दृष्टिकोणों को वास्तविक तथा सत्य मानने की अपेक्षा दूसरे के दृष्टिकोणों के प्रति सहिष्णुता, वास्तविकता तथा समादर का भाव रखने लगता है।

अनेकान्तवाद को अपनाकर धर्म–संबंधी समस्याओं, धार्मिक मतभेदों का भी अंत किया जा सकता है क्योंकि विचारों में समन्वयशीलता का अभाव होने के कारण, धर्म के एक पक्ष पर बल देकर दूसरे पक्ष की अवहेलना करने के कारण, अपने धर्म को श्रेष्ठ मानकर दूसरे धर्म के प्रति निष्ठा तथा विश्वास का अभाव होने के कारण धर्म संबंधी समस्याएं उत्पन्न होती है, धार्मिक मतभेद होते हैं। परन्तु इन सभी समस्याओं का समाधान जैन दर्शन के अनेकान्तवादी विचार के द्वारा संभव है। अनेकान्तवाद को अपनाकर व्यक्ति अपने धर्म के प्रति निष्ठा एवं विश्वास रखने के साथ–साथ दूसरे धर्मों के प्रति भी निष्ठा तथा विश्वास रखने लगेगा। अपने धर्म में निहित सत्य के अंश को स्वीकारने के साथ ही दूसरे धर्मो में निहित सत्यता के अंश को स्वीकारने लगेगा। परिणामतः धर्म संबंधी समस्याओं का अंत हो जायेगा।

नैतिकता के क्षेत्र में भी अनेकान्तवाद को अपनाया जा सकता है। अनेकान्तवाद नैतिकता के क्षेत्र में भी एकान्तवादी दृष्टि का निषेध करके अनेकान्तवादी दृष्टि को अपनाने की शिक्षा देता है। नैतिकता के क्षेत्र में भी आंशिक मतों की संकीर्णता को त्यागकर समन्वयवादी विचार को अपनाने की शिक्षा देता है। यही कारण है कि जैन दर्शन में शारीरिक अहिंसा के साथ–साथ बौद्धिक अहिंसा को भी स्वीकार किया गया है। सिर्फ शारीरिक अहिंसा को ही आवश्यक न मानकर बौद्धिक अहिंसा पर भी विशेष रूप से बल दिया है।

संदर्भ

1. अनन्ययोग., 22
2. ऋग्वेद, 1.164.46
3. वृहदारण्यकोपनिषद्, 3.8.8
4. तैतिरीयोनिषद्, 2.6
5. डॉ. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, खण्ड–क, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 2009, पृ. 253
6. कुन्दकुन्दाचार्य, पंचास्तिकाय, 56
7. उमास्वामी, तत्वार्थसूत्र, 5/38
8. स्याद्मंजरी, 29
9. सूरि हरिभद्र, षड्दर्शन समुच्चय, पाँचवाँ संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, 2000, 48
10. कुन्दकुन्दाचार्य, वही, 129
11. सूरि हरिभद्र, वही, 48
12. डॉ. राधाकृष्णन, वही, 259
13. पाठक राममूर्ति, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, अभिमन्यू प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009, पृ. 90
14. डॉ. राधाकृष्णन, वही, पृ.–260
15. पंचास्तिकाय समयसार, कुन्दकुन्दाचार्य, वही, 132
16. वही, 91
17. माधवाचार्य, सर्वदर्शनसग्रह, 27
18. कुन्दकुन्दाचार्य, वही, 99, 100
19. वही, 19–20
20. माधवाचार्य, वही, 153
21. डॉ. राधाकृष्णन, वही, पृ. 256
22. वही
23. कुन्दकुन्दाचार्य, वही, 23–26
24. डॉ. राधाकृष्णन, वही, पृ. 256
25. कुन्दकुन्दाचार्य, वही, 107–108

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

भारतीय सामाजिक मूल्य एवं प्रथाएं : एक दार्शनिक विश्लेषण

पूजा भारती गोस्वामी *

प्रो. अवतार लाल मीणा **

प्रस्तावना : सामाजिक मूल्य मनुष्य के प्रत्येक क्षेत्र में यथा चुनाव, निश्चय, निर्णय तथा कार्य में निर्णायक की भूमिका निभाते हैं। सामाजिक मूल्य एक मानदण्ड होते है।[1] यहाँ तक की दो वस्तुओं के बीच ज्यादातर चुनाव अपने–अपने मूल्यों के आधार पर किया जाता है। इन मूल्यों का निर्धारण हम सब अपने–अपने सभ्यता तथा संस्कृति के अनुसार करते हैं। यही हमारी मूल्य–तंत्र की आधारशिला होती है। अतः इस शोध के माध्यम से हम मूल्य–तंत्र को समझ सकेंगे। इसे जानने के लिए मूल्य की अवधारणा, इसके अर्थ एवं प्रकृति को भी जानना आवश्यक है। अतः इन सभी बातों की कुछ जानकारी इस शोध के अन्तर्गत की जायेगी, इन्हें हम उच्च स्तरीय मानदंड कह सकते हैं। सामाजिक मूल्य वे आदर्श है जो सामाजिक जीवन में आचरण में अभिव्यक्त होते हैं। भारतीय सामाजिक मूल्य संबंधी अवधारणाएँ या मूल्य सामान्य रूप से भाषाई उपयोग को वांछनीय या नैतिक रूप से अच्छी तरह से विचार किए गए गुणों या गुणों के रूप में उपयोग करते हैं जो वस्तुओं, विचारों, व्यावहारिक या नैतिक आदर्शों, तथ्यों व्यवहार के तरीके चरित्र लक्षणों से जुड़े होते हैं। मूल्य के आधार पर निर्णय का अर्थ मूल्यों पर आधारित निर्णय होता है। किसी समाज के मूल्यों या मूल्यों से बनी समग्र संरचना को मूल्य प्रणाली कहा जाता है। मूल्य प्रणालियाँ अभियोगात्मक और प्रिस्क्रिप्टिव विश्वास हैं वे किसी व्यक्ति के नैतिक व्यवहार को प्रभावित करते

* *शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, जय नारायण व्यास वि.वि. जोधपुर, राजस्थान*

** *अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, जय नारायण व्यास वि.वि. जोधपुर, राजस्थान*

हैं या उनकी जानबूझकर गतिविधियों का आधार होते हैं।[2] अक्सर प्राथमिक मूल्य मजबूत होते हैं और माध्यमिक मूल्य परिवर्तनों के लिए उपयुक्त होते हैं। सामाजिक मूल्य उन परिवर्तनों के सापेक्ष महत्त्व को समझने के बारे में है जो लोग अनुभव करते हैं और बेहतर निर्णय लेने के लिए इस समझ से प्राप्त अंतर्दृष्टि का उपयोग करते हैं।[3] कवि रामधारी सिंह ने भी कहा है कि मनुष्य का सदगुण और सद्व्यवहार भी जीवन मूल्य ही है।[4] इस सापेक्ष महत्त्व को ध्यान में रखते हुए हम यह सुनिश्चित कर सकते हैं कि हम जो निर्णय लेते हैं वह लोगों के लिए मूल्यवान है, और इसके माध्यम से हम सकारात्मक वृद्धि करना शुरू कर सकते हैं और नकारात्मक प्रभावों को कम कर सकते हैं और अंततः हमारे काम के समग्र मूल्य में वृद्धि कर सकते हैं।[5] शब्दकोश के अनुसार इसके अन्य शब्द है– वेतन, परिश्रमिक, रचना के भीतर रहने वाला, उपयोगिता, उच्चता आदि के जोड़े।[6]

मूल्यों की परम्परा : एक दार्शनिक विवेचन

समाज एक अत्यन्त जटिल समस्या है जो अपने विभिन्न अंगों से मिलकर बना है। वे विभिन्न अंग अथवा समाज की निर्माण इच्छाओं परिवार, समूह, संस्था, राज्य, समिति तथा संघ आदि समाज के अन्दर अपना–अपना अस्तित्व रखते हुए अलग–अलग विचारधारा, मनोवृत्ति,स्वार्थ एवं उद्देश्य के अनुरूप कार्य करती है। प्रत्येक समाज और समूह में उनके अपने–अपने सामाजिक मूल्य और प्रतिमान होते हैं। इन्हीं के अनुरूप जीवन यापन के लिए कुछ नियम और मान्यताएँ भी होती हैं। समाज द्वारा ये अपेक्षा की जाती है कि– इन्हीं नियम और मान्यताओं के समाज के प्रत्येक सदस्य कार्य और व्यवहार करते हुए अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति करने का प्रयत्न करे। इस प्रकार समाज को एक आधारभूत शक्ति देने के लिए समाज की मूल्य और प्रथाओं का एक अलग महत्त्व होता है।

मूल्य शब्द का अर्थ समझने के लिए मनुष्य आन्तरिक अनुभवों को आधार मानता है व्यक्ति अनुभव से ही निरन्तर सीखता और समझता चलता है उसी सीखने व अनुभव करने की प्रक्रिया से उसकी वांछित इच्छाओं और उपयोगिता की पूर्ति धीरे–धीरे होने लगती है फिर इन्ही इच्छाओं की पूर्ति के साथ व्यक्ति अपने चारों ओर के सतत् विकास को समझने लगता है और वही वांछित इच्छाएँ व्यक्ति को कल्याण की ओर ले जाती है यही आगे चलकर मूल्यों में बदलने लगती है।

मूल्यों का आरम्भ कोई देवी चमत्कार की तरह अचानक मूल्यों का आरम्भ समाज एवं मानव नहीं होता है। मूल्यों का तो आरम्भ समाज एवं मानव चेतना के साथ होता है जितना पुराना समाज उतना ही पुराने मूल्य भी है। शुरूआत

में मनुष्य ने किसी विशेष अवसर पर विशेष व्यवहार किया और जब उसे बार–बार अपनाने लगे तो वही रूढ़ी हो गई। इस प्रकार विशेष वर्गों में रूढ़ियों और प्रथाओं का निर्माण हुआ।

मूल्य शब्द लैटिन भाषा के 'वेलियर' शब्द से बना है। अंग्रेजी शब्द भाषा के शब्दकोश के अनुसार वेलियर शब्द का अर्थ है Ability utility and importance हिन्दी में इन शब्दों का अर्थ क्रमशः है योग्यता,उपयोगिता,एवं महत्त्व। इस प्रकार शब्दिक आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल्य किसी व्यक्ति अथवा वस्तु का वह गुण है जिसके आधार पर उसका महत्त्व, सम्मान, उपयोग, विकास अथवा कल्याण हो सके।[7]

मूल्य की परिभाषाएँ

मूल्य की परिभाषा के संबंध में पश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने तत्संबंधी कई विचार प्रकट किए हैं–

प्रो. कृष्णनाथ के अनुसार– मूल्य की परिभाषा के सन्दर्भ में 'शुक्रनीति' की कुछ पक्तियों को उर्द्धृत है कि शुक्रनीति के अनुसार "जो कुछ भी अप्रतिम है, बेजोड है वह रत्न जैसा ही है सब मनुष्यों का मूल्य देशकाल के अनुसार तय होना चाहिए। जो गुणहीन है और व्यवहार के योग्य नहीं है उसका कोई मूल्य नहीं"कामना के अनुसार–पदार्थों का मोल ही या अधिक कमोवेश होता है।[8] प्रो. कृष्णनाथ ने मूल्य की परिभाषा देते हुए उपनिषदो का साक्ष्य भी दिया है जो है वो तय है और जो होना चाहिए वह मूल्य कहा जाता है जो होना चाहिए उसके लिए उपनिषद में दो शब्द आये है।

गीता के सोलहवें अध्याय[9] में श्री कृष्ण ने बताया है कि–"हम जिसे मूल्य कहते है। उसे गीता में संपूद्क हो गया है गीता के सोलहवें अध्याय में देव और आसुरी संपूद्क का विवेचन है वे लोग उच्चतर मूल्य का प्रयास करते है वे ही देवी, संपूद्क युक्त है और वे लोग जो केवल ज्ञान्द्रियों के मूल्यों का प्रयास करते है वे आसुरी संपूद्क युक्त है।" अपितु हम सब जानते है कि मूल्य मनुष्य को देवोमय बनाते हैं अर्थात् सोलहवें अध्याय में श्री कृष्ण ने सबसे पहले इन्हीं मूल्यों का जिक्र किया है।[10]

अर्थात् हें "भारतवंशी अर्जुन– देवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए व्यक्ति के लक्षण है– भय का अभाव, अन्तकरण की निर्मलता, ज्ञानयोग की स्थिति, दान, इन्द्रियों का नियन्त्रण, आस्था, सरलता, अंहिसा, सत्य, आक्रोश, त्याग, अभाव, कोमलता, स्वच्छता, विनम्रता आदि"।

जे. ई. सूर– शुभ एक ऐसा शरीर–विषयक पूर्ण है जिसके सभी अंग स्वलक्ष्य मूल्य होते हैं [11]

महाभारत में भी जीवन के चार पुरूषार्थों को माना है। जिससे अन्यत्र कुछ नहीं।[12] भारतीय दार्शनिक चिंतको ने जीवन के चार उद्देश्य मूल्य को माना है धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चारों अलग–अलग पुरूषार्थों के द्वारा माने गये हैं मोक्ष जीवन का परम मूल्य है (लक्ष्य) अर्थ एवं काम उस लक्ष्य तक पहुँचाने के साधन तथा इन साधनों को प्रयोग में लाने के नियम ही धर्म है।[13]

प्रथा की परिभाषाएँ

प्रथाएँ समाज द्वारा स्वीकृत कार्य करने की विधियों को कहा जाता है। इनका सही–सही अर्थ जानने के लिए प्रथाओं की परिभाषाओं का अध्ययन आवश्यक है। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने प्रथाओं को निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया है।

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "सामाजिक रूप से स्वीकृत कार्य करने की विधि समाज की प्रथाएँ हैं।"

लुण्डबर्ग के अनुसार, "जनरीतियाँ, जो कई पीढ़ियों तक चलती रहती हैं वे औपचारिक मान्यता की एक मात्रा प्राप्त कर लेती हैं, प्रथाएँ कहलाती हैं।"

डोरौथी ली ने कहा है कि– "मानवीय मूल्यों से किसी एक मूल्य या मूल्यों की एक पद्धति से मेरा अभिप्राय है कि, वह आधार जिस पर व्यक्ति किसी एक मार्ग को किसी दूसरे मार्ग की अपेक्षा अच्छा या बुरा, उचित या अनुचित समझते हुए, ग्रहण करता है।"[14]

फेयरचाइल्ड के अनुसार, "एक सामाजिक रूप से प्राधिकृत व्यवहार की विधि जो परम्परा से चलती है एवं उसके तोड़ने की अस्वीकृति से प्रबाधित की जाती है। प्रथा के पीछे राज्य की शक्ति नहीं होती जिससे न कानूनी रूप बनता है, न ही रूढ़ियों की स्वीकृति होती है।" बोगार्डस के अनुसार, "प्रथाएँ और परम्पराएँ समूह द्वारा स्वीकृत नियन्त्रण की विधियाँ हैं। जो सुव्यवस्थित हो जाती हैं और जिन्हें बिना सोचे–समझे मान्यता प्रदान कर दी जाती है और जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित होती हैं।

समाज में मूल्य एवं प्रथा की भागीदारी

समाज में मूल्य की भागीदारी : समाज मूल्यों का विकास हैं। वह त्याग को भोग से और श्रेय को प्रेम से अधिक मूल्यवान मानता है। भले ही कोई मनुष्य अहिंसक, सत्यवादी या बह्मचारी न हो सके। तथापि समाज अहिंसा, सत्य और बहमचर्य को आदर्श मानता है और जो मनुष्य अपने जीवन में इन मूल्यों का थोडा भी पालन करते है, उनको वह सम्मान देता है।

जैसा कि हमें ज्ञात है कि– मूल्य समाज का दर्पण है। समाज द्वारा मूल्य एक प्रकार की मान्यता प्राप्त इच्छाएँ हैं जिनका अन्तरीकरण समाजीकरण

प्रक्रियाओं के माध्यम से होता है। मूल्यों के आधार पर ही व्यक्ति की जीवन शैली का निर्धारण होता है अन्तः मूल्य की क्रियाएँ सम्भव होती हैं। समाज में हम मानवीय मूल्यों के विषय में केवल व्यवहार द्वारा ही जान सकते हैं। मानव व्यवहार द्वारा समाज के निर्माण में मूल्य सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन्हीं मूल्यों द्वारा एक समूह, समुदाय और व्यक्ति अपने व्यवहार पर नियंत्रण रखता है।[15] बौद्धों का संघ व्यभिचार के कारण नष्ट हो गया। प्राचीन यूनान के सोडम और गोमश इन दो नगरों के समाज व्यभिचार के कारण नष्ट हो गए। इससे सिद्ध है कि वही समाज जीवित रहता है जिसमें बह्मचर्य,अहिंसा, सत्य, अस्तेय, त्याग आदि मूल्यों कि प्रतिष्ठा रहती हैं।

समाज में मूल्यों की भागीदारी

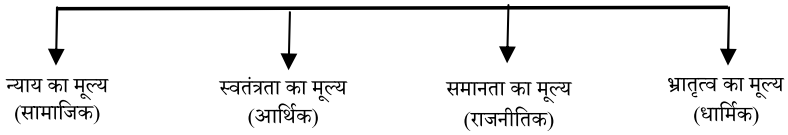

मनुष्य मूल्यान्वेषी है, उसके मूल्य–बोध का निर्माता समाज है, जिसका स्वरूप मूल्यात्मक है। मूल्यों के निकाय को धर्म कहा गया है और जो धर्म से रहित है उसे पशु कहा गया है। इस प्रकार जो धर्म मनुष्य का लक्षण है, वही समाज का स्वरूप है। समाज की सत्ता धर्म और मूल्यों के माध्यम से प्रत्येक मनुष्य को अनुभवगम्य है। चाणक्य का कहना है कि कुल के हित के लिए उस व्यक्ति का परित्याग कर देना चाहिए जो कुलनाशक हो।ग्राम के हित के लिए उसके विरोधी कुल का त्याग कर देना चाहिए। पुनः यदि कोई ग्रामसमाज के विरूद्ध हो तो उस ग्राम का भी परित्याग कर देना चाहिए। अंत में, आत्मकल्याण के लिए यदि समाज बाधक हो तो उस समाज का भी त्याग कर देना चाहिए। स्पष्ट है कि व्यक्ति, परिवार, ग्राम, समाज और आत्मा इनमें से उत्तरोत्तर पूर्व–पूर्व से अधिक मूल्यवान है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज से ही उसका अस्तित्व निर्माण होता है। समाज में रहने के कारण मनुष्य को सामाजिक नीति–नियमों का पालन करना आवश्यक होता है।सामाजिक प्रथाएँ अनेक सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन में मदद करती हैं। पिछली पीढ़ियों के सफल अनुभवों से समृद्ध प्रथा अनेक समस्याओं का एक बना–बनाया हल व्यक्ति के सामने प्रस्तुत करती हैं। इसलिए प्रथा की सहायता से व्यक्ति कठिन परिस्थिति में भी, अधिक सोच–विचार किए बिना ही, समस्या का समाधान कर लेता है। यह सच है कि सभी मानवीय समस्याओं का, विशेषकर आधुनिक जटिल सामाजिक समस्याओं का, समाधान

प्रथाओं के आधार पर नहीं किया जा सकता। उसके लिए नवीन विधियों को भी अपनाना पड़ता है। फिर भी नवीन विधियों को विकसित करने में प्रथाओं का विशेष हाथ हो सकता है, क्योंकि इनमें कई पीढ़ियों का सफल अनुभव सम्मिलित रहता है। नए तरीकों को विकसित करने में इन पुराने अनुभवों के महत्त्व से कोई इनकार नहीं कर सकता।

सामाजिक जीवन मूल्य में समाज ही केंद्र बिंदु है। इसमें समाज के नीति–नियम, रूढ़ि–परंपराआदि को प्रमुखता दी जाती है। साथ ही सामाजिक मूल्यों में बुजुर्ग व्यक्तियों का सम्मान, समाज सेवा, संस्कृति का संरक्षण आदि को भी सम्मिलित किया जाता हैं। यह वह मूल्य होते हैं जिनके द्वारा व्यक्ति, समाज के कल्याण की कल्पना करता है। सामाजिक मूल्यों से हम अपने व्यवहार को नाप सकते हैं। मूल्य नामक आधारशिला पर समाज की सभ्यता और संस्कृति वृक्ष प्रासाद निर्मित होता है। आधुनिक युग में नवीन मूल्यों का निर्माण हो रहा है। स्वातंर्त्योत्तर देश में मानवीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में तीव्र परिवर्तन हुआ। पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित होकर हमारा पारिवारिक और सामाजिक जीवन परिवर्तित होता जा रहा है। बढ़ते हुए पूँजीवाद, आर्थिक विषमता और दबाव के कारण भौतिक मूल्य ही मानव जीवन के चरम मूल्यों के रूप में उभरने लगे। मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में जन्म से मृत्यू तक सामाजिकता का स्थान होता है। मनुष्य का व्यवहार, जीवनमूल्यों का निर्धारण, आचार–विचार सब समाज द्वारा संभव होता है। समाज मूल्यों के निर्माण के साथ उनकी अभिव्यक्ति एवं प्रकाशन का माध्यम तथा उनकी पूर्ति के स्वरूप को भी निश्चित करता है। जैसे काम मनुष्य का जैविक अर्थात् नितान्त वैयक्तिक मूल्य है, किन्तु इसकी अभिव्यक्ति व पूर्ति के लिए व्यक्ति को सामाजिक संस्था "विवाह' पर निर्भर रहना पड़ता है, जो समाज का मूल्य है।

समाज में प्रथा की भागीदारी सामाजिक–आर्थिक प्रतिष्ठा के प्रदर्शन और रति–सुख की मानसिक प्रवृति के कारण, 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में बहुविवाह प्रथा, सती प्रथा,जाति प्रथा एवं रखैल रखने की प्रथा का भी प्रचलन रहा। मेवाड़ के राजघराने में महाराणा संग्राम सिंह द्वितीय से महाराणा स्वरुप सिंह के काल तक औसतन 8 पत्नियाँ और 9 उप–पत्नियाँ रहीं थी। मेवाड़ के सामंतों में भी बहु–पत्नियाँ रखने का प्रचलन था, किंतु सामंतों को प्रत्येक विवाह के लिये महाराणा से पूर्व स्वीकृति लेनी पड़ती थी। भील जाति में भी श्रमशक्ति की आवश्यकता के कारण एक से अधिक पत्नियाँ रखने का प्रचलन था तथा मुस्लिम वर्ग में भी चार पत्नियाँ तक रखने की धार्मिक स्वीकृति थी। समाज के अन्य वर्गों में भी रखैल रखने पर कोई प्रतिबंध नहीं था, लेकिन अधिकांशतः संपन्न लोग ही

रखते थे। बहुविवाह प्रथा, सती प्रथा,जाति प्रथा एवं रखैल रखने की प्रथा की भागीदारी समाज में प्राचीनकाल से चलती आ रही है। जो कि पुरुषों का स्त्रियों के प्रति दलित दृष्टिकोण स्पष्ट करता है।

प्रथाओं का वर्गीकरण

जीवन में जिन क्रियाओं से व्यक्ति की सामाजिक समस्याओं का समाधान होता है, मनुष्य उन्हीं क्रियाओं को ग्रहण करना शुरु कर देता है एवं व्यर्थ व हानिप्रद क्रियाओं का त्याग कर देता है। इस प्रकार चुनी गई सफल क्रियाएँ जब पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं तो वे 'प्रथा' बन जाती हैं। अर्थात् प्रथा में कई पीढ़ियों का सफल अनुभव तथा व्यवहार–विधि का समावेश रहता है, जिससे सीखने की प्रक्रिया सरल हो जाती है। इस प्रकार प्रथाएँ मनुष्य के मानसिक परिश्रम में कमी करती हैं, क्योंकि पूर्वजों ने अपने अनुभव के आधार पर जो कुछ सीखा है, मनुष्य को उन्हीं क्रियाओं को नए सिरे से सीखना नहीं पड़ता। दूसरे शब्दों में, नई पीढ़ियाँ प्रयत्न और भूल की महंगी विधि से किसी चीज को दोबारा सीखने के कष्ट से बच जाती हैं, जिसे पुरानी पीढ़ियाँ पहले ही सीख चुकी हैं। इसको दूसरे रूप में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि पुरानी पीढ़ी के व्यवहार की प्रथाओं के माध्यम से नई पीढ़ी के व्यवहार बन जाते हैं। पारिवेशिक परिवर्तन में जब परम्परागत मूल्य सारहीन प्रतीत होते है तब उसके स्थान पर युगानुकुल मूल्य की स्थापना होती है।[16]

जाति प्रथा

जाति प्रथा का उद्‌भव परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के कारण हुआ था। भारतीय जाति व्यवस्था के सभी धर्म पर आश्रित थे। धर्म के अधिष्ठाता ब्राह्मण थे। ब्राह्मणों ने अपनी प्रभुता बनाये रखने के लिए धर्म का सहारा लेकर अपने पेशे को उच्च सिद्ध किया प्राचीनकाल और परिस्थिति में जाति संस्था का औचित्य जो भी रहा हो किन्तु आज का समाज इसे सामाजिक विकास, अभिशाप और प्रगति में वाधक मानता है। इसकी उत्पत्ति का प्रश्न विवाद ग्रस्त है।[17] अस्तु जाति प्रथा की उत्पत्ति के बारे में अनेक सिद्धांत निम्न हैं–

1. परम्परागत सिद्धांत
2. धर्मशास्त्र का सिद्धांत
3. स्मृति का सिद्धांत
4. धार्मिक सिद्धांत
5. प्रजातीय सिद्धांत।

''एक बात मैं आप लोगों को बताना चाहता हूँ कि मनु ने जाति के विधन का निर्माण नहीं किया और न वह ऐसा कर सकता था। जाति प्रथा मनु से पूर्व विद्यमान थी।''[18]

''कदाचित् मनु जाति के निर्माण के लिए उत्तरदायी न हो परन्तु मनु ने वर्ण की पवित्रता का उपदेश किया है। वर्ण जाति की जननी है और इस अर्थ में, मनु जाति–व्यवस्था का लेखक न भी हो, परन्तु उसका पूर्वज होने का उस पर निश्चित ही आरोप लगाया जा सकता है।''[19]

पर्दा प्रथा

भारत में स्त्रियाँ अनगिनत सदियों से पुरुषों की अधीन और सामाजिक उत्पीड़न का शिकार रही हैं । भारत में प्रचलित विभिन्नं धर्मों व उन पर आधारित गृहस्थ– नियमों ने स्त्रियों को पुरुषों से हीन स्थान दिया। इस संबंध में उच्च वर्गों की स्त्रियों की स्थिति किसान औरतों से भी बदतर थी। चूँकि किसान स्त्रियाँ अपने पुरुषों के साथ खेतों में काम करती थीं, इसलिए उन्हें बाहर आने–जाने की कुछ अधिक स्वतंत्रता प्राप्त थीं, और परिवार में उनकी स्थिति उच्च वर्गों की स्त्रियों से कुछ मामलों में बेहतर थी। उदाहरण के लिए,वे शायद ही कभी पर्दे में रहती हों और उनमें से अनेकों को पुनर्विवाह के अधिकार प्राप्त थे।[20]

मैत्री करार

ये प्रथा गुजरात की है इसे स्थानीय स्तर पर कानूनी मान्यता भी मिली हुई है क्योंकि इस 'लिखित करार' का अनुमोदन मजिस्ट्रेट ही करता है।इसमें पुरुष हमेशा शादीशुदा ही होता है। यही कारण है कि ये आज भी जारी है।मैत्री करार यानी दो वयस्कों के बीच एक तरह का समझौता जिसे मजिस्ट्रेट की मौजूदगी में लिखित तौर पर तय किया जाता है।ये मर्द और औरत के बीच एक तरह का 'लिव–इन रिलेशनशिप' है। इसीलिए इसे 'मैत्री करार' कहा जाता है। गुजरात में सभी जानते हैं कि कई नामी–गिरामी लोग इस तरह के रिश्ते में रह रहे हैं।ये प्रथा मूलतः विवाहित पुरुष और पत्नी के अलावा किसी दूसरी महिला मित्र के साथ रहने को सामजिक मान्यता देने के लिए एक ढाल का काम करती रही है।

प्रस्तावित शोध विषय की उपादेयता – इस प्रस्तावित शोध विषय का मुख्य उद्देश्य है, भारतीय संस्कृति में स्थापित मूल्य एवं प्रथाओं की मूल अवधारणाओं सम्बन्धी समझ व उसकी आधुनिकोन्मुखता को स्पष्ट करना क्योंकि संस्कृति के ज्ञान से व्यक्तित्व का विकास होता है, व्यक्ति के दृष्टिकोण को उदार और व्यापक बनाया जा सकता है, प्रस्तावित शोध में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया जाएगा कि भारतीय संस्कृति व्यक्ति को अपने लिए ही नहीं वरन् दूसरों के लिए सोचना सिखाती है और व्यक्ति को इस बात का प्रषिक्षण देती है कि वह स्वयं को एक विशाल मानव समूह का अंग समझे तथा वह केवल रूढी–मूलक मान लेना एक दिग्भ्रांति है, शोध का एक उद्देष्य और उपादेयता इस भ्रांति को खंडित करना भी है, क्योंकि शोध में सामाजिक मूल्यों के अवमूल्यन पर अध्ययन कर यह प्रयास किया जाऐगा कि क्या उनका पुनःस्थापन किया जा सकता है।

वर्तमान में समाज की उपयोगिता व निष्कर्ष

भारतीय समाज मूल्यप्रधान समाज है। भारतीय संस्कृति में मूल्यों को मनुष्य के सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक जीवन में विशेष स्थान दिया गया है क्योंकि मूल्यों के वास्तवीकरण का नाम ही संस्कृति है। वर्तमान समय में विज्ञान ने जहाँ मनुष्य को भौतिक सुविधाएँ उपलब्ध कराने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में अविष्कारों के ढेर लगा दिए हैं ,वहाँ उसके जीवन में एक खोखलापन भी उत्पन्न कर दिया है। ऐसे में समाज, देश और अपने स्वयं के जीवन में उसने मानव मूल्यों को तिलांजली दे दी है। मानव जीवन की सार्थकता तभी है जब वह श्रेष्ठ भावनाएँ रखे। हम एक लोकतान्त्रिक समाज का हिस्सा हैं जहाँ पर हम आपसी भाई–चारे, न्याय, समान अधिकार और स्वतन्त्रता का हिमायती बनने का नाटक करते हैं। संविधान में दिए गये मूल्यों की प्राप्ति से पहले हमें व्यक्ति के जीवन और समाज का भी मुआयना करना होगा तभी हम श्रेष्ठ मूल्यों को समाज में स्थापित कर सकते हैं। मूल्य, व्यक्ति की सामाजिक विरासत का एक अंग होता है इसलिए मूल्यों की व्यवस्था मानव आस्तित्व के विभिन्न स्तरों या आयामों में व्यक्ति के अनुकूलन की प्रक्रिया का मार्गदर्शन करती है। नैतिक मूल्य व्यक्ति के जीवन के साथ साथ समाज को भी उत्कृष्टता की तरफ अग्रसर करते हैं। इस शोध–पत्र का मुख्य उद्देश्य नैतिक मूल्यों के व्यक्ति के जीवन और वर्तमान भारतीय समाज में उपयोगिता का अध्ययन करना है।

सन् 1947 में भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई और सन् 1950 में स्वतंत्र भारत का नवीन संविधान रचित हुआ,जिसकी प्रस्तावना में ही लिखा है, "हम भारत के लोग भारत को सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए उन सब में व्यक्ति गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करानेवाली बंधुता बढ़ाने के लिए इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्जित करते हैं।" उपरोक्त प्रसंग में न्याय, (सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक) स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्त्व को लोकतांत्रिक धर्म निरपेक्ष समाजवादी गणराज्य व्यवस्था के आधार पर मूल्यों की श्रेणी में माना गया है, जिनकी विवेचना निम्न प्रकार से की जाती है।

निष्कर्ष : इन क्षेत्रों तथा हमारे जीवन के अन्य मूल्य संबंधी क्षेत्रों में व्याप्त एक सामान्य क्षेत्र है। यह माना जाता है कि इन विभिन्न मूल्य संबंधी क्षेत्रों को समझने में यह सामान्य क्षेत्र चाबी का काम करेगी। इसे मूल्य मीमांसा या एक्सियॉलॉजी का नाम दिया गया। एक्सियॉ का अर्थ है –'समान मूल्य का'। मूल्य के अनेक सिद्धांत हैं और मूल्य के अनेक प्रकार भी है। दार्शनिकों ने अब

तक जिन मूल्यों की ओर प्रत्यक्षतः अधिक ध्यान दिया है, वे हैं– नैतिक, सौंदर्यपरक, धार्मिक और सामाजिक मूल्य। कुछ अन्य मूल्य हैं– आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक, उपयोगिता संबंधी, मनोरंजनात्मक और स्वास्थ्य संबंधी मूल्य। भारतीय विश्व–समाज को भारत की इच्छा और अपेक्षा मनुष्य की रचनात्मक अभिवृत्ति एवं शांत–सहयोगात्मक प्रवृत्ति एवं दृष्टिकोण का विकास करना है। 'मूल्य' की संकल्पना समाज एवं मनुष्य के बीच सामंजस्य एवं समरसता की भावना का विकास करती है। अतः, इसकी अनिवार्यता एवं महत्ता व्यापक है।समाज में रहने के कारण मनुष्यों को भिन्न प्रकार की प्रथाओं के नियमों का पालन वर्तमान समय में भी करना पड़ता है। नियमों के पालन में मूल्य ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते है। मनुष्य जैसे जैसे आगे बढ़ता जा रहा है वैसे–वैसे नयी–नयी प्रथाएँ भी समाज में विकसित होती जा रही है।प्रथाओं का सामाजिक नियंत्रण में अत्यधिक महत्व है। प्रथाएँ व्यक्ति के व्यवहारों को काफी सीमा तक नियन्त्रित करती आयी हैं। यद्यपि इनके पीछे ऐसी कोई कानूनी शक्ति नहीं होती जिसके द्वारा व्यक्तियों पर उनके मनवाने के लिए दबाव डाला जा सके, फिर भी मनुष्य सामाजिक निन्दा के भय से प्रथाओं का उल्लंघन नहीं कर पाया है। प्रथाएँ चूँकि पिछली पीढ़ियों का सफल अनुभव होती हैं, अतः व्यक्ति इन्हें जल्दी ही मान लेता है क्योंकि नए व्यवहारों को करने में उसे हिचकिचाहट तथा भय की अनुभूति भी होती है। प्रथाओं का प्रभाव आदिम और सरल समाजों में तो कानूनों से भी अधिक होता है। अध्ययनों से पता चलता है कि किस तरह विभिन्न समाजों में परिवार के विभिन्न स्वरूप पाए जाते हैं। आवास के नियम के अनुसार कुछ समाज अपने विवाह और पारिवारिक प्रथाओं में मातृस्थानिक हैं और कुछ पितृस्थानिक। मातृस्थानिक परिवार में नव–दंपति पत्नी के अभिभावकों के साथ रहते हैं जबकि दूसरी स्थिति में नव–दंपति पति के अभिभावकों के साथ रहते हैं।

पितृतंत्रात्मक परिवार संरचनाओं में अधिकार और प्रभाव पुरुषों के पास होते हैं जबकि मातृतंत्रात्मक परिवारों में निर्णय लेने में महिलाओं की प्रमुख भूमिका होती है। मातृवंशीय समाज मौजूद हैं पर मातृतंत्रीय समाजों के बारे में यह दावा नहीं किया जा सकता।प्रथाएँ पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरितं होती हैं। ये मानव–जीवन के व्यवहार के आवश्यक अंग बन जाती हैं। समाज से मान्यता प्राप्त प्रविधियाँ सीखने की प्रक्रिया को सरल और तीव्र कर देती हैं। प्रथाओं के माध्यम से मूल्यों के अनुपालन की कला सीखकर व्यक्ति समाज में योग देकर सामाजिक नियन्त्रण का कारण बन जाता है। अनुभवों से प्राप्त पूर्वजों का यह ज्ञान सीखने की प्रक्रिया को सरल कर देती है। इस प्रकार प्रथाएँ सीखने की प्रक्रिया द्वारा सामाजिक नियन्त्रण में अपना योगदान देती हैं।

संदर्भ

1. साठोत्तर हिन्दी कहानी, मूल्यों की तलाश– डॉ वासुदेव शर्मा– पृ 17
2. साहित्य का समाजशास्त्र, डॉ नरेन्द्र– पृ 157
3. पाठक, रमेश प्रसाद, शिक्षा के दार्शनिक और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण। अटलांटिक पब्लिशर्स एंड डिस्ट, 2007।
4. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, उदयांचल प्रकाशन पटना, 1962 पृ संख्या 372
5. बिल्टन, टोनी, परिचयात्मक समाजशास्त्र। मैकमिलन इंटरनेशनल हायर एजुकेशन, 1996।
6. मैनी.सपा.डॉ. धर्मपाल नव मूल्य परक शब्दावली का विश्वकोश प्र.स. 2015 पृ. 1422
7. आक्सफोर्ड अंग्रेजी हिन्दी शब्दकोश पृ० 1115
8. शुक्रनीति– 2 पृष्ठ संख्या 48–49
9. गीता अध्याय 16 ।।
10. गीता अध्याय 16 ।।
11. Principia Ethica- G-E moral Dover publications inc mineda] new York pg no 56
12. महाभारत पृ संख्या 56
13. आधुनिक काल में नवीन जीवन मूल्य डॉ० हुकुमचंद राजपाल पृ० (27)
14. Clawson, C. Joseph, and Donald E- Vinson- "Human values: a historical and interdisciplinary analysis-"ACR North American Advances (1978)
15. Banks] Sarah- Ethics and values in social work- Bloomsbury Publishing, 2020
16. स्वाधीनता कालीन हिन्दी साहित्य के जीवन मूल्य, डॉ रामगोपाल शर्मा पृ. 54
17. Blunt] Edward. The caste system of northern India- Gyan Publishing House, 2010.
18. भा॰ जा॰ प्र॰ प्र॰ 29
19. हि॰ द॰ पं॰ 42
20. Pandey, Saumyata- "TRADITIONAL VALUES AND LIFE STYLE CHANGES AMONG WOMEN IN AN URBAN SLUM OF LUCKNOW." Man In India 94.4: 691–702.

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

बौद्ध चिंतन के दौर में राहुल सांकृत्यायन के आत्मा और ईश्वर सम्बन्धी विचार

ललित कुमार *

इस शोध–पत्र/आलेख में मैं मुख्यतः राहुल सांकृत्यायन के बौद्ध दर्शन पुस्तक के आधार पर उनके विचार–यात्रा के प्रमुख आधार स्तंभ बौद्ध धर्म के प्रति झुकाव की स्थिति में उनके ईश्वर और आत्मा सम्बंधी विचारों की चर्चा करूँगा। लेकिन, उससे पहले पृष्ठभूमि के तौर पर उनकी आत्मकथा मेरी जीवन यात्रा के आधार पर उनके विचारों के आर्य समाज से बौद्ध धर्म की ओर संक्रमण की संक्षिप्त चर्चा करूँगा।

राहुल सांकृत्यायन के विचार यात्रा के विभिन्न स्थितियों में अलग–अलग विचार रहा परंतु बौद्ध चिंतन के दौर में क्रांतिकारी परिवर्तन देखने को मिलता है। इस दौर में उनके विचार बुद्ध की तरह अनात्मवाद, अनीश्वरवादी रहा। 1915 ई० में लखनऊ में बौद्ध साहित्य की जानकारी मिली, फिर इनमें बौद्ध संस्कृति की ओर झुकाव आने लगा। 1926 ई० में सर्वप्रथम मेरठ के प्रवास के दौरान हरनामदास (बाद में भदंत आनंद कौसल्यायन) से पहली बार भेंट हुई। डॉ० प्रभु नारायण विद्यार्थी के अनुसार आर्य समाज का 1927 ई० तक इन पर व्यापक प्रभाव रहा, लेकिन जब वे श्रीलंका गए तो बौद्ध धर्म के प्रति आकृष्ट हुए और गंभीर अध्ययन के कारण ईश्वर से मुक्ति मिल गयी। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "गौतम बुद्ध और ईश्वर एक साथ नहीं रह सकते, ईश्वर सिर्फ काल्पनिक वस्तु जबकि बुद्ध यथार्थ उपदेशक।" इस समय समय आर्य समाज का निराकार ईश्वर इनके मानस से सर्वदा के लिए हट गया और ईश्वर को मनुष्य का मानस पुत्र कहा।[1] 1929–30 ई० के दूसरे श्रीलंका प्रवास में बौद्ध भिक्षु बनकर राहुल सांकृत्यायन कहलाएँ।

** शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना*

राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में 'जब मैंने 'मज्झिम–निकाय में पढ़ा–बेड़े की भाँति मैंने (बुद्ध) तुम्हें धर्म का का उपदेश किया है, वह पार उतरने के लिए है, सिर पर ढ़ोये–ढ़ोये फिरने के लिए नहीं; तो मालूम हुआ, जिस चीज को मैं इतने दिनों से ढूढ़ता फिर रहा था वह मिल गई।'[2]

राहुल सांकृत्यायन कहते हैं कि 'एक तरफ आरंभिक दिनों में मेरे मन की यह दशा थी, दूसरी तरफ पढ़ाते 'वक्त ईश्वर शब्द का अर्थ विद्यार्थियों को समझाने में बहुत कठिनाई अनुभव करने लगा। अब मेरे आर्य सामाजिक और जन्मजात सारे विचार छूट रहे थे। मैंने पहिले–पहिल कोशिश की, ईश्वर और बुद्ध दोनों को साथ ले चलने की; किन्तु उस पर पग–पग पर आपत्तियाँ पड़ने लगी। दो–तीन महीने के भीतर ही मुझे यह प्रयत्न बेकार मालूम होने लगा। ईश्वर और बुद्ध साथ नहीं रह सकते, यह साफ हो गया, और यह भी स्पष्ट मालूम होने लगा, कि ईश्वर सिर्फ काल्पनिक चीज है। बुद्ध यथार्थवक्ता है।'[3] राहुल सांकृत्यायन को 3 सितंबर 1928 को त्रिपिटकाचार्य की उपाधि भी दी गयी।

राहुल सांकृत्यायन के अनुसार 'वे बौद्धधर्म के पक्षपाती थे। साथ ही दूसरे धर्मों का धर्म के ख्याल से विरोधी नहीं थे। उनके अनुसार मैं यह जरूर समझता था कि ईश्वरवादी धर्म जन–हित और विश्वप्रगति के विरोधी हैं। अभी यह समझने में देर थी कि साधारण बौद्धधर्म भी धर्म के तौर पर प्रगति विरोधी है।'[4]

ईश्वर को न मानना राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में ईश्वरवादी कहते हैं–"चूँकि हर एक कार्य का कारण होता है; इसलिए संसार का भी कोई कारण होना चाहिए, और यह कारण ईश्वर है–लेकिन प्रश्न किया जा सकता है–ईश्वर किस प्रकार का है? क्या उपादान कारण ? यदि ईश्वर जगत का उपादान–कारण है, तो जगत् ईश्वर का रूपान्तर है। फिर संसार में जो बुराई–भलाई, सुख–दुःख, दया–क्रूरता देखी जाती है, वह सभी ईश्वर से और ईश्वर में है। फिर तो ईश्वर सुखमय की अपेक्षा दुःखमय अधिक है, क्योंकि दुनिया में दुःख का पलड़ा भारी है। ईश्वर दयालु की अपेक्षा क्रूर अधिक है, क्योंकि दुनिया में चारों तरफ क्रूरता का राज्य है। मनुष्य एवं अन्य सभी जीव–जन्तु एक–दूसरे के जीवन के ग्राहक हैं। ध्यान से देखने पर दृश्य–अदृश्य सारा ही जगत एक रोमांचकारी युद्धक्षेत्र है जिसमें निर्बल सबलों के ग्रास बन रहे हैं।[5] इस प्रकार हम देखते हैं कि राहुल सांकृत्यायन अपने तार्किक दृष्टि से ईश्वर की सत्ता को नकारते हैं।

राहुल सांकृत्यायन के अनुसार अच्छे–बुरे कर्मों की जवाबदेही जानकार को ही हो सकती है। इससे इंकार किसको हो सकता है कि मनुष्य के अतिरिक्त दूसरे प्राणी जो अपने अच्छे–बुरे कर्मों के जानने की समझ नहीं रखते और जिनका

जीवन दूसरों की हत्या पर ही निर्भर है–अपने कर्मों के जिम्मेवार नहीं हो सकते? इस प्रकार उपादान कारण है, तो निर्विकार कैसे हो सकता है?[6]

यदि ईश्वर को निमित्त कारण माना जाए, तो प्रश्न होगा, क्या वह बिना किसी उपादान–कारण के जगत् को बनाता है या उपादान कारण से? यदि बिना उपादान–कारण के, तो अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी होगी और कार्य–कारण का सिद्धांत ही गिर जायेगा, तब फिर जगत को देखकर उसके कारण ईश्वर को मानने की जरूरत क्या? राहुल सांकृत्यायन के अनुसार यदि इन्द्रजाल की तरह ईश्वर ने जगत् को बिना कारण मायामय उत्पन्न किया है, तो प्रत्यक्ष के मायामय होने पर ईश्वर के होने का अनुमान ही किस सामग्री के बल पर होगा? यदि उपादान कारण से बनाता है, तो कुम्हार की भांति अलग रहकर बनाता है या उसमें व्याप्त होकर? अलग रहने पर वह सर्वव्यापक नहीं रहेगा और सृष्टि करने के लिए उसे दूसरे सहायकों और साधनों पर निर्भर होना पड़ेगा। यदि उसे उपादान–कारण में सर्वव्यापक मान लिया जाय, तो भी उपादान कारण के बिना उत्पादन करने में अक्षम होने पर सर्वशक्तिमान नहीं। ऐसी अवस्था में अपवित्रता, क्रूरता आदि बुराइयों का स्त्रोत होने का भी वह दोषी होगा।[7]

इस प्रकार ईश्वर न उपादान–कारण हो सकता है न निमित्त कारण। जगत् का आदि कारण होना ही चाहिए, यह कोई जरूरी नहीं। राहुल सांकृत्यायन आगे कहते हैं कि कर्त्ता–धर्ता ईश्वर होने पर, मनुष्य उसके हाथ की कठपुतली है, फिर वह किसी अच्छे–बुरे काम के लिए जवाबदेह नहीं हो सकता है। फिर दुनिया में उसका सताया जाना क्या ईश्वर की दयालुता का द्योतक है?[8]

ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है, यह मानना भी ठीक नहीं। यदि सृष्टि अनादि है, तो उसको किसी कर्त्ता की जरूरत नहीं, क्योंकि कर्त्ता होने के लिए उसे कार्य से पहले उपस्थित रहना चाहिए। यदि सृष्टि आदि है, तो करोड़ दो करोड़, अरब दो अरब वर्ष नहीं, अचिन्त्य अनन्त वर्षों से लेकर सृष्टि उत्पन्न होने के समय तक उस क्रियारहित ईश्वर के होने का प्रमाण क्या? क्रिया ही तो उसके अस्तित्व में प्रमाण हो सकती है?[9]

आत्मा को नित्य न मानना : राहुल सांकृत्यायन आत्मा की अवधारणा को समझाने के लिए सबसे पहले यह कहते हैं कि 'हमें पहले यह समझ लेना है कि बौद्ध अनात्मा को कैसे मानते हैं। बुद्ध के समय ब्राह्मण, परिव्राजक तथा दूसरे मतों के आचार्य मानते थे कि शरीर के भीतर और शरीर से भिन्न एक नित्य चेतन शक्ति है जिसके आने से शरीर में उष्णता और ज्ञानपूर्वक चेष्टा देखने में आती है। जब वह शरीर छोड़कर कर्मानुसार शरीरान्तर में चली जाती है तो शरीर शीतल,

चेष्टारहित हो जाता है। इसी नित्य चेतन शक्ति को वे आत्मा कहते थे। बुद्ध ने एक ओर आत्मा का नित्य कूटस्थ माना, दूसरी ओर शरीर के साथ ही आत्मा का विनाश हो जाना–इन दोनों चरम बातों को छोड़ मध्य का रास्ता लिया। उन्होंने कहा–आत्मा कोई नित्य कूटस्थ वस्तु नहीं है, बल्कि खास कारणों से स्कन्धों (भूत, मन) के ही योग से उत्पन्न एक शक्ति है, जो अन्य बाह्य भूतों की भांति क्षण–क्षण उत्पन्न और विलीन हो रही है। चित्त का क्षण–क्षण उत्पन्न होने और विलीन होने पर भी चित्त का प्रवाह जब तक इस शरीर में जारी रहता है, तब तक शरीर सजीव कहा जाता है। हमारे अध्यात्म– परिवर्तन और शरीर के परिवर्तन में बहुत समानता है।'[10]

राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में आप कह सकते हैं–मन बदलता है, आत्मा थोड़े ही बदलता है। हमारा कहना है, मन से परे आत्मा कोई चीज नही। आँखें इमली देखती हैं और जिव्हा से पानी टपकने लगता है। नाक दुर्गन्ध सूँघती है और हाथ नाक पर पहुँच जाता है। आप देखते हैं, आँख और नाक एक नहीं है, न वे एक–दूसरे से मिली हुई हैं। इसलिए इन दोनों को मिलाने के लिए एक तीसरी इन्द्रिय चाहिए, और वह मन है।[11]

राहुल सांकृत्यायन आगे कहते हैं कि यदि कहें–कोई नित्य आत्मा नहीं है, तो मन के क्षणिक होने से, शरीर के नष्ट हो जाने पर अच्छे–बुरे कर्मों का विपाक कैसे होगा? हमारे अच्छे या बुरे कर्म हमारे मन के द्वारा संचालित होता है। अतः द्वेषयुक्त काम करने के लिए मन को द्वेषयुक्त एवं रागयुक्त काम के लिए रागयुक्त बनना पड़ता है। आदमी एक दिन में क्रूर नहीं बन जाता।[12]

जीव को नित्य मानने में बहुत से दोष होते हैं। नित्य मानने से जीव को सिर्फ अमर ही, अजन्मा भी मानना होगा। फिर सभी धर्मों में भी तो, जहाँ पुर्नजन्म नहीं मानते, यह मानना होगा कि जीवन अनादि काल से आज तक चुपचाप निश्चेष्ट पड़ा रहा। जो लोग पुनर्जन्म भी मानते हैं और आत्मा को नित्य भी, उनकी दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं।[13]

प्रश्न हो सकता है कि यदि मन तथा आत्मा एक हैं और वह क्षणिक हैं, तो अनेकता में–'मैं पहले था, मैं अब हूँ'–ऐसी एकता का भान क्यों होता है? इसका उत्तर है कि समुदाय में एकत्व की बुद्धि दुनिया का सार्वभौमिक नियम है हम संसार की जिस किसी चीज को ले लें, सभी हजारों अणुओं से बनी हैं जिनके बीच काफी अन्तर है? फिर भी उस पदार्थ में एकता का व्यवहार दिखाई देती है? अनगिनत टुकड़ों के बने हुए शरीर को हम एक शरीर कहते हैं। अनेक वृक्षों के बने हुए जंगल को एक जंगल कहते हैं।[14]

इस प्रकार मन के क्षणिक होने पर, चूँकि चित्त–सन्तति क्षणिक नहीं हैं, इसलिए उसकी पूर्णता और परिशुद्धि करनी पड़ती है। वस्तुतः यदि आत्मा को नित्य कूटस्थ आत्मा न मान, उसके स्थान पर क्षण–क्षण उत्पन्न होने वाले चित्तों की सन्तति को माना जाय, तो जो शब्द पर हमारा कोई आग्रह नहीं है। चूँकि 'आत्म' शब्द नित्य चेतन के लिए व्यवहृत होता था, इसलिए बुद्ध ने 'अन–आत्म' शब्द का प्रयोग किया।[15]

निष्कर्ष : राहुल सांकृत्यायन का 'केदारनाथ पाण्डेय' से रामोदार स्वामी और रामोदार स्वामी से राहुल सांकृत्यायन बनने तक का सफर अत्यंत रोमांचकारी रहा। राहुल की जीवन–यात्रा में हमें विचारों की क्रांति हमें देखने को मिलती है। परंतु बौद्ध धर्म के दौर में उनका विचार उनके जीवन का केन्द्रीय विचार रहा। राहुल सांकृत्यायन ऐसे धर्म के तलाश में थे, जो मनुष्यता के लिए बेहतर हो। बौद्ध धर्म में उन्हें अहिंसा, प्रेम, करूणा के तत्त्वों और तार्किक एवं वैज्ञानिक विचारों ने इन्हें आर्य समाजी से बौद्ध बनाया।

संदर्भ

1. डॉ० प्रभुनारायण विद्यार्थी, राहुल सांकृत्यायन अनछुए प्रसंग (पटनाः बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, जनवरी–2000), पृष्ठ–16
2. राहुल सांकृत्यायन, मेरी जीवन–यात्रा, जिल्द–2 (दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, छठा संस्करण, 2022), पृष्ठ–19
3. वहीं
4. वहीं, पृष्ठ–104
5. राहुल सांकृत्यायन, बौद्ध दर्शन (इलाहाबाद : किताब महल, पुर्नमुद्रण, 2019), पृष्ठ–1–2
6. वहीं, पृष्ठ–2
7. वहीं, पृष्ठ–2–3
8. वहीं, पृष्ठ–3
9. वहीं
10. वहीं, पृष्ठ–4
11. वहीं, पृष्ठ–5–6
12. वहीं, पृष्ठ–7
13. वहीं, पृष्ठ–8–9
14. वहीं, पृष्ठ–9
15. वहीं, पृष्ठ–11

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

ईश्वर का स्वरूप : पातंजल योग–दर्शन के सन्दर्भ में

डॉ. शशिभूषण प्रजापति *

पातंजल योग दर्शन में संख्या के पच्चीस तत्वों के अतिरिक्त एक स्वतंत्र नित्य तत्त्व के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है। इसी लिए योग दर्शन को ''सेश्वर–सांख्य' भी कहा जाता है, पतंजलि ने अपने योग सूत्र में ईश्वर के संबंध में बताया है कि जो क्लेश, कर्म, आशक्ति और वासना इन चारों से असम्बन्धित हो वहीं ईश्वर है। योग के अनुसार ईश्वर एक नित्य, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिशाली, पूर्ण, अनन्त तथा त्रिगुणातीत सत्ता है, वह ऐश्वर्य ज्ञान की पराकाष्ठा है वह वेदशास्त्रों का प्रथम उपदेशक है।[1]

जो योगी ईश्वर का ध्यान एवं चिंतन करता है उसे असम्प्रज्ञात– समाधि का लाभ जल्दी ही प्राप्त होता है, क्योंकि भक्तिभाव से प्रसन्न हुआ ईश्वर, योगी को वस्तुतः अपने संकल्पमात्र से ही अनुगृहीत कर देता है जिसके कारण योगी को असम्प्रज्ञात–समाधि का लाभ तथा उसके फल मोक्ष की प्राप्ति अतिशीघ्र प्राप्त हो जाती है।[2]

ईश्वर क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश), कर्म (धर्म तथा अधर्म), विपाक और आशय इन चार प्रकार के स्पर्श से पूर्णतया रहित होता है, ईश्वर धार्मिक कार्यो को नहीं करता है और न ही अधार्मिक कार्यों को करता है, जो कर्म किया जाता है तथा जो फल की प्राप्ति होती है, वह विपाक कहलाता है, ईश्वर जो भी कर्म करता है उसे उस कार्य का फल नहीं मिलता है, क्योंकि ईश्वर सभी प्रकार के कर्मफलों से ऊपर है, ''विपाक'' से बनने वाले संस्कार ही ''वासना'' कहे जाते हैं, और इसको आशय भी कहा जाता है। ये चारों बुद्धि में उपस्थित होते हैं, लेकिन इनको पुरूष में ही उपस्थित माना जाता है, इसी के आधार पर पुरूष को सुख व दुःख को भोक्ता माना जाता है। जिस प्रकार से जय

** पूर्व शोध छात्र, दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)*

या पराजय राजा के सैनिकों की होती है लेकिन राजा सैनिकों का स्वामी होता है अतः जय व पराजय राजा का माना जाता है। ठीक उसी प्रकार से पुरूष–विशेष भागों के सर्वथा सम्पर्क रहित होते हुए भी ''भोक्ता'' मान लिया जाता है। वह कोई और नहीं अपितु ''ईश्वर'' ही है। योगी द्वारा प्रतिपादित तीनों प्रकार के बन्धनों का विच्छेदन करके, मोक्ष को प्राप्त करने वाले मोक्षार्थीयों की संख्या एक से अधिक हो सकती है, लेकिन योग द्वारा माने गये ईश्वर का बन्धनो से दूर–दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर तो हमेशा ही बन्धनों से मुक्त, निगुण व स्थिर रहता है। ईश्वर तो हमेशा ही ऐश्वर्य सम्पन्न है, जिसका कोई दूसरा बराबरी नहीं कर सकता है, यहाँ तक कि ईश्वर तो ऐश्वर्य की पराकाष्ठा होती है, इसीलिए तो वह ईश्वर है। जिस प्रकार से नवीनता तथा पुरातनता दोनों परस्पर विपरीत होने पर एक ही समय में एक साथ नहीं रह सकते है। इसलिए जिसका ऐश्वर्य बराबरी एवं अतिशयता से सर्वथा रहित है। बस वहीं ईश्वर है, जो एक प्रकार का विशेष पुरूष है।[3]

सर्वज्ञता का वह बीज जो भूत, भविष्य, वर्तमान में से किसी एक का या सभी का अतीन्द्रिय ज्ञान होता है, यदि वह बढ़ते हुए पराकाष्ठा को प्राप्त कर ले, तो ही वह सर्वज्ञ हो जायेगा। ज्ञान की सीमा अधिक होने पर तोल या संख्या के समान जिसमें ज्ञान की सीमा न हो, वहीं सर्वज्ञ है और वह सर्वज्ञ पुरूष–विशेष ईश्वर है। उसी प्रकार से धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, यश, श्री आदि की पराकाष्ठा का आधार भी ईश्वर है। ज्ञान की पराकाष्ठा ईश्वर में है तथा पराकाष्ठा का आधार धर्म वैराग्य, ऐश्वर्य आदि है। कैवल्य प्राप्त पुरूष, ईश्वर से सर्वथा अलग होता है, ईश्वर का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता है, वे तो प्राणियों पर कृपापूर्वक ही अनुग्रह करते है। ब्राह्मण ग्रंथों में इस प्रकार से लिखा है कि 'ज्ञान और धर्म के उपदेश से नित्य प्रलय एवं महाप्रलय में भी सभी जीवों का मैं उद्धार करूँगा।'

कपिलमुनि ने योग बल से बनाये हुए चित्त को आश्रयण करे बिना अपने किसी स्वार्थ के केवल संसार के अनुग्रह के लिए उनके कल्याणार्थ करूणा करके जिज्ञासु आसुरी ब्राह्मणों को समाधि द्वारा अनुभव कराके पच्चीस तत्वों वाले तत्व–समास रूपी सांख्य–दर्शन का उपदेश दिया।

पूर्व काल में उत्पन्न हुए गुरू, अग्नि, ऋषि, मुनि, कपिल आदि तथा अवतार पुरूष ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी लोग काल की सीमाओं से बँधे हुए थे, लेकिन योगशास्त्र का वह ''ईश्वर'' वस्तुतः काल की सीमा से रहित होता है, इसीलिए ईश्वर सभी गुरूओं का गुरू है, जो भी पदार्थ काल की सीमा में बँधा हुआ है, उसका नष्ट होना निश्चित होता है, लेकिन ईश्वर काल से बँधा हुआ नहीं होता है। जिस प्रकार ईश्वर इस संसार के पहले उत्कृष्ट ऐश्वर्य के साथ उपस्थित था, वैसे ही सभी सृष्टियों के पहले भी उपस्थित समझा जाना चाहिए।

ईश्वर का वाचक ''ऊँकार'' के साथ हमेशा से सम्बन्ध है, संकेत तो ईश्वर के निश्चित किए हुए अर्थ को ही प्रकाशित करता है, जैसे–पिता और पुत्र का सम्बन्ध पहले से ही स्थित रहता है, और संकेत के द्वारा ही प्रकाशित होता है कि ''यह इसका पिता है'', ''यह इसका पुत्र है'', इसी तरह दूसरे संसारों में भी वाच्य–वाचक शब्द शक्ति के माध्यम से ही उस प्रकार का संकेत किया जाता है, ऊँकार की महिमा का वर्णन वेदों, उपनिषदों आदि ग्रन्थों में है, ईश्वर वाचक है तथा ऊँकार वाच्य है, ऊँकार का जाप करने से सब प्रकार का मंगलमय होता है, ऊँकार की ध्वनि से चमत्कारपूर्ण प्रभाव उत्पन्न होता है तथा इसके ध्यान, मनन तथा जप करने से विस्मयकारी फल की प्राप्ति होती है। 'ऊँ' ब्रह्म है तथा यह ब्रह्म की अनुभूति करने का सबसे उत्तम साधन है। जिस योगी को यह वाच्य–वाचक सम्बन्ध विदित होता है, उसे ऊँ शब्द के माध्यम से ही ईश्वर का जाप तथा ध्यान करना चाहिए, ईश्वर का ध्यान करने से उसके मार्ग की सारी रूकावटें दूर हो जाती है।[4]

साधक को चाहिए कि वह ईश्वर के ऊँकार स्वरूप का जप तथा उसके वाच्यार्थ ''ईश्वर'' की भावना एवं चिन्तन करे, इस प्रकार से योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है, यह कहा भी गया है कि योगी को योग साधना के पहले ऊँकार का जप कर लेना चाहिए और योग का साधना कर लेने के बाद ईश्वर के नाम का जप भी करना चाहिए। इस प्रकार से किए गये जप तथा योग की सिद्धि से योगी को परमात्मा के दर्शन होते हैं।

ईश्वर प्राणिधान से प्रत्येक जीवात्मा का अधिगम भी होता है और विघ्न–बाधाएं हट जाती हैं, ईश्वर के स्मरण और चिन्तन–मनन से प्रत्येक चेतना का ज्ञान हो जाता है, और योग साधना में आने वाले विघ्न–बाधाएँ दूर हो जाती है, चित्त के एकाग्र हो जाने पर रज तथा तम का आवरण हट जाता है तथा चित्त निर्मल हो जाता है, ईश्वर का जप व ध्यान करने मात्र से योगी को आत्मस्वरूप की उपलब्धि तथा ईश्वर की कृपा बन जाती है, साधक को आत्म साक्षात्कार हो जाता है, ईश्वर की कृपा हो जाने पर योग मार्ग में आने वाले विघ्न–बाधाओं का अभाव हो जाता है।[5]

संदर्भ

1. क्लेशकर्मविपाकशयैरपरामृष्टः पुरूषविशेष ईश्वर। योगसूत्र, समाधिपाद,14
2. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। योगसूत्र, साधनपाद, 45
3. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी– 221001, पृ. 305–306
4. पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ. 240–241
5. वही, पृ. 244

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

भारतीय दर्शन का उद्‌भव एवं विकास : एक अध्ययन

डॉ. रूपेश कुमार सिंह *

भारतीय संस्कृति का स्वरूप और विकास – भारत अति प्राचीन काल से ही विश्व का एक महान देश रहा है और प्राचीन सभ्यताओं का एक प्रधान केन्द्र भी। जहां विश्व के अन्य सभी प्राचीन काल से ही भारत का विश्व के विभिन्न देशों के साथ घनिष्ट संबंध था। धर्म, विचार और साहित्य के क्षेत्र में विश्व भारत का ऋणी है। युग–युगांतर से भारतीय सभ्यता स्वतंत्र रूप से विकसित होती आ रही है। भारतीय एकता का सबसे बड़ा आधार सांस्कृतिक है। पाणिनी पश्चिमोत्तर भारत के निवासी थे। वाल्मीकि, व्यास, चाणक्य, मनु, याज्ञवल्क्य आदि उत्तरी भारत के निवासी थे। बौधायन और शंकराचार्य दक्षिणी भारत के निवासी थे। परन्तु उनकी कृतियां और व्यक्तित्व संपूर्ण भारत की अमूल्य देन है उन सबने सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए यम–नियम और आदर्श प्रस्तुत किए। ब्राह्मण–धर्म, जैन–धर्म, बौद्ध–धर्म, अद्वैतवाद आदि सम्पूर्ण भारत में प्रसारित हुए। स्तुपों, विहारों, गुफाओं और मन्दिर संपूर्ण राष्ट्र की साझा सम्पत्ति है।

भाषा और लिपि ने भी भारतीय एकता को सुदृढ़ किया। भारत की अधिकांश धार्मिक और साहित्यिक निधि संस्कृत में है। उत्तर के कालिदास और दक्षिण के दण्डी की कृतियां क्षेत्रीय न होकर राष्ट्रीय है। संस्कृत का सम्पूर्ण वाङ्‌मय सारे भारत और ब्राही लिपि में है। अशोक की पालि भी सारे देश में समझी जाती थी। इस प्रकार धर्म की भांति भाषा ने भी भारतीय एकता स्थापित की। देश में विभिन्नता के भीतर एकता रही है।

भारत की मौलिक एकता यहाँ की विभिन्नताओं में निहित है। विभिन्न जातियों द्वारा विकसित एवं प्रतिपादित सभ्यता पर आधारित भारत की यह

** शोध अध्येता, दर्शनशास्त्र विभाग, बी. आर. ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर*

मौलिक एकता संसार में अद्वितीय है। प्रेम और शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व पर यहाँ की एकता बनी है। प्राचीन काल में संस्कृत को भारतीय एकता का प्रतीक माना जाता था। भौगोलिक विभिन्नताओ के बावजूद भारत वश एक देश है। प्रकृति ने इसकी भौगोलिक इकाई को इस दृढ़ता से बनाया है कि यह देश के आंतरिक विभाजनों को अच्छी तरह ढ़क देती है। भारत की मौलिक एकता इसके सांस्कृतिक जीवन से व्यक्त होती है। भारतीय संस्कृत की कहानी एकता, समाधानों के समन्वय एवं प्राचीन परम्पराओं के पूर्ण संयोग की उन्नति की कहानी है। भारत और भारतीय संस्कृति में वही संबंध है, जो शरीर का आत्मा में। भारतीय संस्कृति की आत्मा इस वाक्य मे झलक उठती है–''जननी जन्मभूमि स्वर्गदपि गरीयसी।'' कन्याकुमारी में रहनेवाले भारतीय हिमाचल को उतना ही पवित्र मानते है, जितना उत्तर का रहने वाला कन्याकुमारी को। विभिन्न संस्कृतियों से बनी भारतीय संस्कृति की एकता प्राचीन काल से आज तक अक्षुण्ण है। प्राकृतिक और भौगोलिक बनावट के चलते ही विभिन्न प्रदेशों की अपनी विशेषता है। मौलिक एकता एवं राजनीतिक एकता पर आधारित थी। इसकी एकता भारतीय संस्ति के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त है। इसकी विविधता के पीछे पारस्परिक सहनशीलता और उदारता है।[1]

भारतीय संस्कृति संसार मे प्राचीनतम जीवित संस्कृति है। इतिहाकारों के अनुसार यह ईसा के जन्म के कोई 2000 वर्ष पूर्व आरंभ हुआ। एक आर्य जाति थी जो कही मध्य एशिया मे रहती थी। इसने जीवन के लिए अधिक उपयुक्त परिस्थितियों की खोज में इधर–उधर जाना आरंभ किया। इस जाति का एक भाग प्राचीन भारत के उस स्थान पर पहुँचा जो आजकल अफगानिस्तान तथा पश्चिमी पाकिस्तान कहलाता है। आर्य लोग वहां पर बस गए और उन्होंने अपने को संगठित करना आरंभ किया। संगठन के इस कार्य में उनको इस देश के मूल निवासियों से लड़ना पड़ा। अन्त में आर्य विजयी हुए और उन्होंने इन लोगों को अपनी सामाजिक व्यवस्था का अंग बना लिया। किंतु कुछ भारतीय विद्वानों का मत है कि आर्य लोग बाहर से नही आए थे। वे मुलतः भारत के निवासी थे। किन्तु हमारे पास कोई ऐसी पुख्ता प्रमाण या ऐतिहासिक सामग्री नहीं है जिसके आधार पर इस बात का अन्तिम रूप से निर्णय किया जा सके कि आर्य बाहर से आए थे या वे मूलरूप से भारत के ही निवासी थे।[2]

आर्य प्रतिभाशाली लोग थे, उनका सामाजिक ढ़ांचा सुव्यवस्थित था और वे कार्य–विभाजन के सिद्धांत में विश्वास करते थे। इन्ही लोगों को समाज की नैतिक धार्मिक तथा बौद्धिक प्रगति का श्रेय जाता है। कुछ आर्य द्रष्टा या ऋषि

कहलाते थे। वे साधनामय जीवन व्यतीत करते थे और उनका मुख्य कार्य लोगों को शिक्षित करना था। वे कई कलाओ तथा दस्तकारियों में निपुण थे। कुछ दूसरे आर्य जिनका काम समाज की सुरक्षा तथा भौतिक प्रगति करना था। इस श्रेणी के लोग आत्म–रक्षा में तथा नयी जीतों के लिए लड़ते थे। ये योद्धा कहलाते थे। आर्य जाति का एक तीसरा समुह था जो व्यापार, वाणिज्य तथा उद्योग के लिए जिम्मेदार था तथा चौथे भाग में वे लोग थे जो पुरे समाज की सुविधा के लिए काम करते थे। ये चारों अंग मिलकर एक संगठित संघ बनाते थे। समाज की एकता का मुख्य कारण एक पुरोहित का शक्तिशाली मार्ग दिखाना था। ये पुरोहित पहली श्रेणी के थे। यह व्यवहार के कुछ नियम बनाते तथा समाज के प्रत्येक व्यक्ति उस नियम का पालन अनिवार्य रूप से करते थे। पुरोहितों या ऋषियों की इसी श्रेणी के लोगों ने उस दर्शन का निर्माण किया जो आजकल वैदिक दर्शन कहलाता है।[3]

संस्कृत में 'वेद' शब्द का अर्थ ज्ञान है, क्योंकि यह ज्ञानार्थक विद् धातु से बना है। विद् धातु के चार अर्थ हैं– ज्ञान, सत्ता, लाभ और विचारण। अतः जिसके द्वारा सभी मनुष्य सभी विधाओं को जानते है, प्राप्त करते हैं, विचार करते हैं और ज्ञान प्राप्त करते है, वह वेद है। सभी भौतिक तथा आध्यात्मिक विषय ज्ञान के विषय हैं, अर्थात् ज्ञेय हैं तथा समस्त ज्ञेय का आधार ही वेद है। इसी कारण प्रायः सभी विषयों का वर्णन वेद में उपलब्ध होता है। मनुष्य जाति के प्राचीनतम इतिहास, सामाजिक नियम, सदाचार, दर्शन, कला, धर्म आदि ज्ञान का आधार वेद ही है। कुछ विद्वानों के अनुसार वेद शब्द अलौकिक ज्ञान का वाचक है। यह अलौकिक ज्ञान इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट का परिहार है। इस अलौकिक रहस्य का ज्ञान का ज्ञान अन्य काव्य आदि शास्त्रों से संभव नहीं तथा प्रत्यक्ष अनुमान आदि किसी भी साधन से संभव नही। इस अलौकिक ज्ञान का एकमात्र साधन वेद ही है। अतः वेद शब्द अलौकिक ज्ञान का वाचक (द्योतक) है। कुछ विद्वानों के अनुसार वेद शब्द धर्म का वाचक है। धर्म का ज्ञान जिससे प्राप्त हो वही वेद है। तात्पर्य यह है कि धर्म का ज्ञान हमे वेद के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से नही हो सकता, अतः वेद शब्द धर्म का वाचक हैं। इस प्रकार वेद शब्द के अनेक अर्थ किए गए हैं परंतु वेद शब्द के अनेक अर्थ हैं। परंतु वेद शब्द का सर्वमान्य अर्थ 'ज्ञान' है। इसे सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। इस प्रकार वेद शब्द ज्ञान या विद्या का द्योतक है।[4]

भारतीय दर्शन में वेदों को अनादि और अपौरूषेय माना गया हैं इन्हें अनादि कहने का तात्पर्य यह है कि वेदों का निर्माता या लेखक कोई मनुष्य नहीं। वेदों

की उत्पति की कोई तिथि नहीं है। वैदिक साहित्य में स्वीकार किया गया है कि वैदिक मंत्र सृष्टि के पूर्व भी विद्यमान थे। इनका विनाश कभी नहीं हो सकता। इनका रचयिता कोई लौकिक पुरूष नहीं। ऋषियों को वैदिक मंत्रों का द्रष्टा कहा गया है, इसकी रचना करने वाला (स्रष्टा) नहीं। प्रत्येक युग में ईश्वर की प्रेरणा से ध्यानस्थ ऋषियों को वैदिक मंत्रों की प्रेरणा मिलती हैं। ये मंत्र अपने आप में नित्य है। ये मंत्र ईश्वर के स्वरूप माने गए हैं। ईश्वर जन्म और मरण के परे नित्य है, अतः उनका स्वरूप वेद भी नित्य है। वैदिक मंत्रों की उद्‌भूति ऋषियों के माध्यम से होती हैं; परंतु ऋषि इसके रचयिता नहीं। ये ईश्वर के समान अनादि और अनंत हैं। वेदों को स्वतः प्रमाण माना जाता है, क्योकि वेद स्वयं अपना प्रमाण है। वेदों की प्रामाणिकता अन्यत्र नहीं। जिस प्रकार परमात्मा स्वयंभूत, स्वयंप्रकाश और स्वर्य प्रमाण हैं। स्मृति परतः प्रमाण है। परंतु वेद स्वतः प्रमाण हैं। जिस प्रकार दीपक स्वयं को आलोकित कर दूसरे को भी आलोकित करता है, अतः दीपक स्वयं का प्रकाश है। इसी तरह वेद भी स्वयं प्रमाण है। ईश्वर की वाणी होने के कारण इन्हे स्वयं प्रमाण माना जाता है। वेद के स्वतः प्रमाण होने से वेद का सर्वोपरि महत्व सिद्ध होता है। वेद के विरूद्ध स्मृति वाक्य यदि मिलते हैं तो प्रमाणिक नही माने जाते है। इसी कारण स्मृति आदि को श्रुति का अनुगामी माना गया है। स्मृति परतः प्रमाण है अर्थात् स्मृति आदि की प्रामाणिकता श्रुति पर है, श्रुति स्वतः प्रमाण है। मीमांसक लोगों का कहना है कि श्रुति से विरोध होने पर स्मृति अप्रमाणिक होगी, यदि विरोध न होगा तो अनुमान के द्वारा श्रुति का मूल मान लिया जाएगा। इसी कारण अनेक स्थलों पर श्रुति को प्रत्यक्ष और स्मृति को अनुमान भी कहा गया है।[5] प्रत्यक्ष अनुमान आदि सभी प्रमाणों का आधार है, अतः श्रुति स्मृति आदि का मूल है। महर्षि मनु के अनुसार वैदिक तत्त्व को जानने वाला व्यक्ति किसी भी आश्रम में रहते हुए तथा स्वकर्म का पालन करते हुए इस संसार में रहकर ब्रह्म का दर्शन कर लेता है।[6]

भारतीय दर्शन का मूल आधार ही वेद है। भारतीय दर्शन को आस्तिक और नास्तिक दो भागों में विभाजित किया जाता है। यहाँ आस्तिक और नास्तिक का मतलब ईश्वर नही, बल्कि वेद हैं। तात्पर्य यह है कि ईश्वर को न मानने वाला नास्तिक नहीं, अपितु वेद को नहीं मानने वाला ही नास्तिक है। मीमांसा दर्शन ईश्वर में विश्वास नही करता है लेकिन वेद में विश्वास करने के कारण आस्तिक दर्शन कहलाता है। भारतीय दर्शन में ईश्वर का विरोध किसी न किसी रूप में स्वीकार किया जा सकता है, परंतु वेद का विरोध किसी रूप मे नहीं। जैन, बौद्ध और चार्वाक दर्शन को वेद में विश्वास नही करने के कारण नास्तिक दर्शन की

संज्ञा दी गयी है। इनमें भी चार्वाक दर्शन तो नास्तिक–शिरोमणि कहलाता है, क्योंकि वह वेद का पूर्ण विरोधी दर्शन हैं। भारतीय दर्शन के छः आस्तिक विभाग है– सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व तथा उत्तर मीमांसा (वेदान्त) वेद पर आधारित दर्शन है। शंकर का अद्वैतवाद, रामानुज का विशिष्टा द्वैतवाद, मध्व का द्वैतवाद, निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद और वल्लभ का शुद्धाद्वैतवाद सभी वेदे मूलक हैं। वेद को लेकर ही सामान्यतः भारतीय संस्कृति दो भागों में विभाजित हैं–ब्राह्मण और श्रमण। इन दोनों शब्दों की व्याख्या में बड़ा विवाद है, परंतु इतना अवश्य स्वीकार किया जाता है कि वैदिक ब्रह्मतत्व (आत्मतत्त्व) को परम तत्त्व मानने वाला ही ब्राह्मण है। इसके विपरीत, वैदिक ब्रह्म या ईश्वर को न मानने वाला श्रमण हैं। इन दोनों संस्कृतियों में अनेकानेक भेद हैं। परंतु उन भेदों के आधार पर आर्य तथा अनार्य संस्कृति का विभाजन हुआ है। वेद आर्यो के परम पुनीत ग्रन्थ है। इनके अनुसार आचरण न करने वाला ही अनार्य है। अतः सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति का आधार ही वेद तथा वेद में विश्वास है।[7]

दर्शन के समान धर्म का मूल भी वेद ही माना जाता है। हमारे देश में विदेशों के समान धर्म और दर्शन में, आस्था और बुद्धि में भेद नही किया जाता। भारतीय परंपरा में धर्म जीवन–यापन की एक प्रणाली है, धर्म शुद्ध बौद्धिक नहीं। यह धार्मिक प्रणाली पूर्णतः वैदिक है। हमारे धार्मिक देवता, उपासना संस्कार, वर्ण–व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था आदि सभी विषयों के मूल वेद में ही है। प्राचीन भारतीय समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र नामक चार वर्णों में बंटा था। इन चार वर्णों की व्यवस्था का आधार वेद ही है। इसी तरह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास नामक चार आश्रमों का आधार वेद है। पाश्चात्य विद्वान भाषा विज्ञान और निरूक्त विद्या की दृष्टि से वेदों को महत्त्वपूर्ण मानते है। संस्कृत भाषा वैदिक भाषा पर आधारित है। वेद को छन्दस् भी कहते है और छन्दस् को संस्कृत भाषा की जननी मानते हैं। महर्षि यास्क ने निरूक्त की रचना की है। इस ग्रन्थ में वैदिक मंत्रो में प्रयुक्त शब्दों का विश्लेषण है। महर्षि यास्क का समय पाणिनी से निश्चित पूर्व है। पाणिनी ने भी अपने अष्टाध्यायी में कुछ वैदिक व्याकरण पर विचार किया है। इस प्रकार भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी वेद बड़े महत्त्वपूर्ण माने जाते है। किसी भी शब्द का अमुक अर्थ क्यों है ? भाषा विज्ञान की दृष्टि से यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। संभवतः भाषा विज्ञान का इतना सुन्दर विवेचन वैदिक और संस्कृत भाषा के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता है। यह हमारी सभ्यता की प्राचीनता तथा गौरव का द्योतक है। इसलिए विदेशी विद्वान प्राचीनता तथा गौरव का द्योतक है। इसलिए विदेशी विद्वान प्राचीनता और भाषा विज्ञान की दृष्टि से वेदों

का बहुत अधिक महत्त्व मानते है। विश्व सभ्यता के इतिहास में ऋग्वेद से प्राचीन कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है।

अतः इतिहासकारों के अनुसार ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है। इसलिए विश्व के प्राचीनतम मानव जाति का इतिहास, भूगोल, आचार–विचार, सभ्यता और संस्कृति के ज्ञान के लिए वेदों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। हिन्दू जाति का सर्वोपरी तो वेद है ही। इसी कारण हिन्दू जाति का इतिहास पुराण, शौर्य–वीर्य, देशभक्ति, त्याग–तप, कला–विज्ञान, समाज व्यवस्था, राजनीति आदि को जानने के लिए एकमात्र वेद हैं।[8] वेदों में प्रत्येक के विषय में शुद्ध दार्शनिक ग्रंथ लिखे गए है, जिनमें विचारों तथा इनसे संबंधित अन्य विषयों पर स्वतंत्र रूप से चिन्तन किया गया है।

ये कृतियां उपनिषदों के नाम से जानी जाती है। उनमें वैदिक शिक्षाओं का निचोड़ है। इसलिए उनको 'वेदान्त' या वेदों का अन्त कहा जाता है। उपनिषदों के महत्त्व का अनुमान केवल इसी बात से लगाया जा सकता है कि वेदों पर आधारित भारतीय दर्शन का प्रत्येक अंग विचारो तथा सिद्धांतों का संबंध इनसे जोड़ने का प्रयत्न करता है। एक पाश्चात्य विद्वान, प्रो. ब्लूमफील्ड, तो यहां तक कहते हैं कि ''नास्तिक बौद्ध दर्शन समेत भारतीय विचार धारा का कोई महत्त्वपूर्ण रूप ऐसा नहीं जो उपनिषदो पर आधारित न हो।'' बुद्ध ने भी अपनी दाशर्निक विचारधारा बनाते समय उपनिषदों के कुछ विचारों को माना है।

संदर्भ

1. चौधरी, राधाकृष्ण, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, भारती भवन, 2003, पृ.–04
2. पाण्डेय, डॉ. रामचन्द्र, भारतीय दर्शन की भूमिका, मोतीलाल बनारसीदास, 1969, पृ.–01
3. वही पृ.–02
4. सिंह, बद्रीनाथ, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, आशा प्रकाशन, 2003, पृ.–15
5. ठाकुर, पंडित आद्यादत्त, वेदो में भारतीय संस्कृति, पृ.–03
6. सिंह, डॉ. बद्रीनाथ, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ.–19
7. वही पृ.–19
8. त्रिवेदी, राम गोविन्द, वैदिक साहित्य पृ.–40

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

मोक्षस्य सहकारिसाधनम्

आलोक कुमार पाण्डेय *

भारतीय दर्शन अपनी विशेषता की अनुरूप मोक्ष को अंतिम लक्ष्य के रूप में स्वीकार करता है मोक्ष तक पहुँचने के लिए साधन रूप में ज्ञान मार्ग को अद्वैत वेदांत दर्शन में स्वीकार किया गया है। अतएव ज्ञान के अभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है (ज्ञानादेव मुक्तिः)। अद्वैत वेदांत के अनुसार अज्ञान, जीव के बंधन का कारण है। अतः मोक्ष को प्राप्त करने हेतु अज्ञान का निवारण अत्यंत ही आवश्यक है। आचार्य शंकर ज्ञान मार्ग द्वारा अज्ञान का निवारण करते हैं यहाँ आचार्य का ज्ञान मार्ग सांख्य, न्याय–वैशेषिक, उपनिषद्, जैन, बौद्ध आदि दर्शन के ज्ञान मार्ग से भिन्न है। विवेकज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती और इसके लिए कुछ साधन की आवश्यकता होती है बिना ब्रह्म जिज्ञासा के ब्रह्म ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः उसी के क्रम में साधन–चतुष्टय का उल्लेख यहाँ किया गया है। साधन से युक्त व्यक्ति के हृदय में ही मोक्ष की आवश्यकता होगी और उसके उत्पन्न होने पर ब्रह्म जिज्ञासा का होना अनिवार्य है इसलिए साधन चतुष्टय से युक्त ब्रह्म जिज्ञासु ही वेदांत विद्या का अधिकारी है।

अद्वैततत्त्व ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए जो भी साक्षात् साधन हैं वे सहकारी साधन कहलाते हैं। सहकारी साधन साधनचतुष्टय हैं। साधनचतुष्टय नाम से प्रथित चार साधन विवेक, वैराग्य, शमादिष्टक और मुमुक्षुत्व हैं। इन साधनों से युक्त साधक ही वेदांत वाक्यों का श्रवण, मननादि करके उस आनन्द रूप फल को प्राप्त करता है।

अद्वैत वेदांत विद्या का अधिकारी कौन है? सर्वप्रथम आचार्य बताते हैं कि वेदांत विद्या का अधिकारी वही हो सकता है जो –

(क) इस जन्म में या पूर्व के जन्मों में सभी वेद–वेदाङ्गों का व्यवस्थित ढंग से अध्ययन किया हो क्योंकि इनके अध्ययनोपरांत उसे सम्पूर्ण वेदों के अर्थ का सम्यक् रुपेण ज्ञान हो पायेगा।

** शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार*

(ख) जिसका अंतःकरण काम्य और निषिद्ध कर्मों के परित्यागपूर्वक नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित और उपासना कर्मों के करने से बिल्कुल निष्पाप एवं शुद्ध हो गया हो।

(ग) जो नित्यानित्यवस्तुविवेक इत्यादि साधन–चतुष्टय से युक्त हो।

नित्यानित्यवस्तुविवेकादिवक्ष्यमाणसाधनचतुष्टयसम्पन्नश्च स्यात्।

इस तरह हम स्पष्टतः कह सकते हैं कि अद्वैत दर्शन के अनुसार सभी व्यक्ति ज्ञानमार्ग के अधिकारी नहीं हैं ज्ञानमार्ग या मोक्ष मार्ग केवल उसी के लिए है जो साधन–चतुष्टय से युक्त हो। शंका और समाधान से युक्त साधन–चतुष्टय इस प्रकार बताये गए हैं–

नित्यानित्यवस्तुविवेकः – शाश्वत और अनित्य वस्तु का विवेक ज्ञान।

इहामुत्रार्थभोगविरागः – लौकिक और पारलौकिक फल भोगने से विराग।

शमदमादिसाधनसम्पत – शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा जैसी प्रवृत्ति का पालन।

मुमुक्षुत्व – मोक्षार्थ हेतु दृढ़संकल्प या मोक्ष की इच्छा।

साधन चतुष्टयं किम् ?

नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्रार्थभोगविरागः।
शमादि–षट्क–सम्पत्तिः मुमुक्षुत्वं चेति।।[1]

ज्ञान के चार साधन (साधन–चतुष्टय) क्या हैं? नित्य और अनित्य वस्तु का पृथक–पृथक निश्चय हो जाना, इस लोक (संसार) और परलोक (स्वर्ग) के भोग की इच्छा न होना शम–दम आदि छः सम्पत्तियों और मुमुक्षुत्व साधन–चतुष्टय बतलाये गये हैं।

साधक को 'नित्यानित्य वस्तु विवेक' होना चाहिए। जब प्रथम साधन सम्यकतः पूर्ण हो जाये तो द्वितीय की तरफ बढ़ना चाहिए इस तरह क्रमशः उत्तरोत्तर आगे बढ़ते जाना चाहिए। विवेक क्या है? इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप आचार्य बताते हैं कि इस सम्पूर्ण चराचर जड़–चेतन सृष्टि का मूलतत्त्व एक ही है, जिससे इस जगत् का विस्तार हुआ है। 'ब्रह्म' ही एकमात्र नित्य है और उस ब्रह्म से इतर अन्य सभी वस्तुयें अनित्य हैं, ऐसा समझना ही नित्यानित्य वस्तु विवेक है। ब्रह्म की नित्यतार्थ हेतु वेदों एवं उपनिषदों में कुछ श्रुतियाँ बतलायी गयी हैं जिसे आचार्य शंकर ब्रह्म की नित्यतार्थ हेतु उद्धृत करते हैं–

'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्।'[2]
'अजो नित्यः शाश्वतः।'[3]
'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'[4]

ब्रह्म केवल मात्र सत्य है ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नित्य नहीं है अर्थात् ब्रह्म से इतर दृश्य जगत् की सभी चीजें अनित्य हैं अतः अनित्यार्थ हेतु भी आचार्य कुछ श्रुतियाँ उद्धृत करते हैं–

'यो वै भूमा तदमृतम्, यदद्भ्यं तन्मर्त्यम्।'[5]
'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत किंचन मिषत्।'[6]
'नेह नानास्ति किञ्चन।'[7]

अतः ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुयें, जो इस दृश्य जगत् में दिखलाई पड़ती है वे सब के सब अनित्य एवं विनाशी हैं। अनित्य से अभिप्राय यह है कि वे उत्पन्न एवं विध्वंस होती हैं।

विराग क्या है? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं 'इह स्वर्गभोगेषु इच्छाराहित्यम्' यहाँ इह शब्द का अर्थ है संसार के पदार्थों की इच्छा अथवा इस काया के लिए प्रत्येक वस्तुओं की इच्छा और स्वर्ग के भोगों के लिए अभिलाषारहित होना अर्थात् दोनों लोकों के विषय भोगों की इच्छाओं का त्याग ही विराग है अर्थात् इस लोक और परलोक में भोगों की इच्छा का न होना विराग है।[8]

इस लोक की भोग विलास–सम्बन्धी सभी सामग्री कर्मजन्य तथा अनित्य है आज जो वस्तु दिखती है वह सम्भवतः कल नष्ट हो सकती है। इस तरह सभी प्रकार के भोगों के प्रति मन में किसी भी प्रकार की इच्छा का जागरण न होना मोक्षार्थी हेतु अनिवार्य है अतः मोक्ष के प्राप्तव्य होना इह लोक और पारलौकिक दोनों प्रकार की वस्तुयें मोक्ष मार्ग में बाधा हैं।

पूर्वपक्ष के द्वारा पुनः प्रश्न आता है कि इस लोक के भोगों से तो वैराग्य उचित लगता है परन्तु पारलौकिक जगत् से क्यों परहेज करें? श्रुतियाँ यह कहती हैं कि परलोक में न तो भूख लगती है न ही प्यास, न ही व्यक्ति वृद्धावस्था को प्राप्त होता है[9] इसके उत्तरार्थ आचार्य शंकर छांदोग्य उपनिषद् को उद्धृत करते हैं कि स्वर्गलोक के सुख भी अन्ततः अनित्य ही होते हैं जैसे यहाँ कर्मों से उपार्जित अन्न आदि भोग्य पदार्थ क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही परलोक में पुण्य कर्मों से सम्पादित स्वर्ग आदि भोग्य पदार्थ क्षीण हो जाते हैं।[10]

षट्–सम्पत्ति क्या है? मोक्ष साधना के इच्छुक व्यक्ति को छः सम्पत्तियों की साधना आवश्यक बतलाई गयी है। ये षट् सम्पतियाँ हैं – शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान।

शम, दम, तितिक्षा को मध्व वेदांत दर्शन में गुण के अंतर्गत समाहित किया गया है। इन षट् सम्पत्तियों पर प्रश्न रुप में एक–एक कर विचार किया गया है–

शमः कः? मन को एक विशेष प्रकार की अन्तःकरण वृत्ति रोकती है यही रोकने वाली वृत्ति को शम कहते हैं। दूसरे शब्दों में मन का निग्रह करना (मन को वश में रखना) ही शम है। मन के संयमित रहने से ही व्यक्ति सन्मार्ग पर गमित होता है अतएव मन पर नियंत्रण मानव के मानव बने रहने की प्रथम सीढ़ी है यदि, मनुष्य को मोक्ष की इच्छा हो तब तो मानसिक नियंत्रण अत्यन्त ही आवश्यक हो जाता है। शम के द्वारा व्यक्ति व्यर्थ में ही बाह्य जगत् के भागदौड़ से बचकर ध्येय

विषय ब्रह्म पर केंद्रित हो सकता है जो कि मोक्षार्थी हेतु अत्यंत ही आवश्यक व लक्ष्य भी है। मनोनिग्रह को शम कहते हैं। वासनाएँ जो मन में आती हैं उन्हें देखें, परन्तु भोगे नहीं, फिर आपका मन एकाग्र हो जायेगा। श्रीमद्भगवद्गीता में इसे ही स्थितप्रज्ञ[11] कहा गया है। (दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।)

दमः कः? इसके उत्तर में आचार्य शंकर कहते हैं– 'चक्षुरादिबाह्येन्द्रिय निग्रहः'। अर्थात् चक्षु, रसना आदि बाह्य इन्द्रियों को वश में करना ही दम है। इस हेतु मन का संयमित होना अत्यन्त ही आवश्यक है। ब्रह्म साक्षात्कार के साधनभूत जो भी श्रवण–मनन–निदिध्यासन हैं उनके अतिरिक्त विषयों से अपनी ज्ञानेद्रियों को हटा लेना दम कहलाता है।

उपरति– आचार्य के अनुसार उपरति 'स्वधर्मानुष्ठानमेव' अर्थात् अपने धर्म का पालन करना ही उपरति है। स्व अर्थात् इस देह में निवास करते हुए अपने को पहचानना ही इस शास्त्र में स्वधर्म बताया है। विषय वासना से दूर हटना उपरति है। धर्म के अंतर्गत नियम, संयम, कर्तव्यादि आचरण बताये गये हैं, मोक्षार्थी को निष्ठापूर्वक इनका पालन करना चाहिए इनके पालन से इंद्रियाँ वश में रहती है। विक्षेपाभाव को उपरति कहते हैं।

तितिक्षा– तितिक्षा को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं–'शीतोष्णसुख दुःखादिसहिष्णुत्वम्' अर्थात् सर्दी–गर्मी, मान–अपमान, सुख–दुःख आदि के सहन करने की शक्ति। यह समझ लेना कि आत्मा को सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख कुछ भी नहीं होता है इस प्रकार ज्ञान के द्वारा सब कुछ सहन करना ही तितिक्षा है। अतः मोक्षकामी को निश्चय ही समभाव होते हुए सहन करना चाहिए। शीतोष्णादि द्वन्दों को सहन करने की योग्यता को तितिक्षा कहते हैं।

श्रद्धा– गुरु एवं वेदांत शास्त्रों के वाक्यों में विश्वास रखना ही श्रद्धा है। आचार्य शंकर के शब्दों में–'शास्त्रस्य गुरूवाक्यस्य सत्यबुद्धयवधारणम्'[12] इस प्रकार श्रद्धा का अर्थ है स्वाभाविक विश्वास अर्थात् शास्त्र और गुरुवाक्यों में सत्यबुद्धि धारण श्रद्धा है। सावधान होकर निरन्तर एकान्त में निवास कर गुरु के वेदांत वाक्यों को ध्यान से सुनकर चित्त की वृत्तियों का दमन कर साक्षात् "अहं ब्रह्म" ऐसा निश्चय करना ही समाधान कहलाता है। इस प्रकार से तीसरे साधन की चतुर्थ सीढ़ी पार करने के बाद पंचम साधन में प्रवेश करना चाहिए। अन्य शास्त्र जैसे– श्रीमद्भगवद्गीता भी इसको अपना समर्थन प्रदान करते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं– श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्।

समाधान– वश में किए हुए मन को श्रवण–मनन इत्यादि में लगाने तथा उनके अनुकूल अभिमान आदि से रहित होकर निरन्तर चिंतन एवं गुरुशुश्रूषादि करने को समाधान कहते हैं। स्वयं आचार्य शंकर कहते हैं– 'चित्तैकाग्रता' अर्थात्

चित्त की एकाग्रता ही समाधान है। अंतःकरण में किसी भी प्रकार की शंका का न होना समाधान है। यहाँ मन के वश में करने का आशय है कि मन को ब्रह्म में एकाग्र करना। ब्रह्म के अनुपस्थिति में मोक्ष अर्थात् परम तत्त्व की प्राप्ति असम्भव है। चित्त की एकाग्रता को समाधान कहते हैं।

इन पथों का अनुसरण कर मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को नित्य एवं अनित्य का भेद, लौकिक और पारलौकिक भोग की कामना से निवृत्त व शम, दम, उपरति तितिक्षा, श्रद्धा एवं समाधान से युक्त होना चाहिए। तत्पश्चात मनुष्य अंतिम साधन मुमुक्षुत्व की ओर अग्रसर होता है।

मुमुक्षुत्व– हे भगवान, मैं बार–बार जीवन और मरण के इस चक्र से कब और कैसे मुक्त होऊंगा?' मुक्ति या मुक्ति की ऐसी उत्कट इच्छा को मुमुक्षुत्व कहा जाता है। 'मोक्षो मे भूयादितीच्छा' अर्थात् मेरा मोक्ष हो यह इच्छा मुमुक्षुत्व है। सम्पूर्ण मायाश्रित दुःखों से निवृत्ति होकर, निरन्तर आत्मानन्द की प्राप्ति होकर, जन्म–मरणादि रूप संसार से मेरी मुक्ति हो जाए ऐसी इच्छा का नाम मुमुक्षुत्व है। यह धारणा तभी होनी चाहिए जब उपरोक्त तीनों साधनों का कार्य सम्पन्न हो चुका हो। बिना दृढ़ इच्छा के मोक्ष सम्भव नहीं है। जगत् की नश्वरता और दुःख से युक्त वस्तुओं से मन को हटाकर दृढ़संकल्प होकर मोक्ष के लिए सदैव प्रयत्नशील होना आवश्यक है। अज्ञान को ज्ञान के द्वारा नष्ट करके ब्रह्मस्वरूप में स्थित होने की दशा को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष की ऐसी भावना से युक्त होना मुमुक्षुत्व कहा गया है। मोक्ष अविद्या की निवृत्ति है। यही आत्म स्वरूप की अवस्थिति भी है।

इस तरह, जिस जीव को लौकिक–वैदिक व्यवहारों में किसी भी प्रकार का भ्रम नहीं होता है वही आत्मज्ञान का अधिकारी है। अतः जिसका चित्त बिल्कुल शांत हो, जितेंद्रिय हो गया हो, अंतःकरण पवित्र हो गया हो, विवेक, वैराग्य आदि गुणों से युक्त हो साथ ही गुरु के द्वारा बताये पथ का अनुगमन करने वाला हो एवं गुरु वाक्य में श्रद्धा रखने वाला हो ऐसे व्यक्ति को ही आत्मज्ञान अर्थात् ज्ञान के द्वारा मुक्ति मिलती है। आचार्य के अनुसार केवल और केवल ज्ञान के द्वारा ही अविद्या का नाश व मुक्ति सम्भव है ज्ञान के बिना मोक्ष सम्भव नहीं है (ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः)।

निष्कर्ष– भारतीय चिंतन के मंथन के परिणामस्वरूप अद्वैतवादी चिंतन का जो निर्मल नवनीत तैरकर सामने प्रस्फुटित हुआ ऐसे अनुपम ज्ञान को सभी के द्वारा सराहा जाता रहा। भारतीय मेधा सदैव ही आचार्य शंकर के अद्वैत चिंतन के प्रति सदैव नत मस्तक रही है। आचार्य शंकर के भाष्य के अनुसार चारों मार्गों से युक्त साधक ही ज्ञानमार्ग का अधिकारी होता है। चारों साधनों को यत्न–पूर्वक सिद्ध करने के बाद ही ज्ञानी पुरुष मुमुक्षुत्व को प्राप्त होता है। हमारे संस्कृति में तीन चीजें दुर्लभ मानी गयी हैं जिसमें 'मानव रुप में जन्म लेना, मोक्ष के प्राप्ति की इच्छा अर्थात् अध्यात्म की ओर प्रवृत्ति व सज्जनों का साथ।' भगवत्पाद

शङ्कराचार्य ने विवेकचूडामणि नामक ग्रंथ में तीन चीजों को अत्यन्त दुर्लभ कहा है। अतः मोक्ष के लिए इन साधनों की सहायता से सदैव तत्पर रहना चाहिए। हमें संयम से युक्त जीवन जीने की शिक्षा वेदांत दर्शन के 'साधन–चतुष्टय' का आदर्श है। साधक को आरम्भ से ही समस्त वस्तुओं का मिथ्या रूप में ज्ञान होता है। केवल मात्र ब्रह्म ही सत्य है। 'साधन–चतुष्टय' से युक्त व्यक्ति ही इन्द्रिय पर नियंत्रण करके एवं विषय की आसक्तियों से दूर रहकर आनन्दयुक्त जीवन व्यतीत करता है। नित्य और अनित्य वस्तु का ज्ञान होने पर अज्ञान शत्रु सादृश्य प्रतीत होता है। इसीलिए कहा भी गया कि 'ज्ञानादेव मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है। समर्थन स्वरूप में श्रीमद्भगवद्गीता 'न हि ज्ञानं सदृशं पवित्रम् एव विद्यते' की शिक्षा देती है। इस दृष्टि से विचार करने पर अद्वैत वेदांत के शम, दम, श्रद्धा, समाधान आदि की शिक्षा मानव हेतु मोक्ष प्राप्तव्य का साधन व सामाजिक उत्थान हेतु आज भी प्रासंगिक व हितकारी बनी हुई है।

संदर्भ

1. श्री धर्मराजाध्वरीन्द्र प्रणीता वेदान्तपरिभाषा
2. शंकराचार्य, तत्वबोधः, 3
3. मुण्डक उप. 1/1/6
4. कठ उप. 2/17
5. ऋक्. 1/164/49
6. छा. उप. 7/24/1
7. ऐ. उप. 1/1/11
8. Edit: तत्त्वबोध : with baijantharmaviracita Ambuda Access on 10/05/2023
9. कठोपनिषद् 1/12
10. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य 1/1/1
11. दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते श्रीमद्भगवद्गीता 2/56
12. Edit: तत्त्वबोध : with baijantharmaviracita Ambuda Access on 10/05/2023
13. Ibid page no. - 5
14. Ibid page no. - 6
15. विवेकचूड़ामणि – 26
16. दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम्। मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ।।3।।
17. श्रीमद्भगवद्गीता 4.38

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

वैशेषिक दर्शन में परमाणुवाद ''पदार्थधर्मसङ्ग्रहः'' के विशेष सन्दर्भ में

मनीष कुमार चौधरी *

अध्यात्म [1]—प्राण, चिन्तन – प्रधान भारतवर्ष की वैचारिक क्रान्ति के प्रबल प्रवाह में कभी—कभी ऐसा भी समय आया है, जब वैचारिक परिवर्तन की प्रक्रिया कुछ और तीव्र, कुछ और प्रत्यक्ष हो उठी है। किन्तु परिवर्तन का यह सूक्ष्म रूपांतर प्रायः सर्वत्र निस्पन्द ही प्रतीत हुआ है। वस्तुतः किसी भी देश के मनीषियों की यह वैचारिक चिन्तनधारा जब अपनी ऊर्जा और प्रभविष्णुता खोकर शिथिल गति से अगति की स्तिथि में आ जाती है, तब ऊर्जा या ओज स्वतः क्षरित होकर छीजने लगती है और आगे बढ़ने की क्षमता ही खो देती है। फलतः देश अपने सत्यान्वेषक—चिन्तन की दार्शनिक दिशा भूल कर सत्याभास के मिथ्या भ्रमजाल में भटकने लगता है। परिणाम यह होता है कि उनकी सर्जनात्मक प्रवृत्तियां और चिन्तनात्मक अभिनव दृष्टि क्रमशः ह्रासोन्मुख होने लगती है।

इस सत्यान्वेषण की दो दिशायें हैं, एक विचार की और दूसरी दर्शन की। इनके अतिरिक्त इसके लिए कोई तीसरा विकल्प है ही नहीं। इनमें विचार के मार्ग अतिचक्रिय हैं। इसमें गति तो बहुत होती है, पर 'गंतव्य' कभी आता ही नहीं है। यह दिशा भ्रामक और मिथ्या है। जो व्यक्ति विचार की दिशा पकड़ते हैं, वे मत – मतान्तर में उलझकर रह जाते हैं। अतः मत और सत्य दोनों दो भिन्न—भिन्न तथ्य हैं। मत तो मात्र एक बौद्धिक धारणा है, जबकि सत्य समग्र प्राणों की सजीव अनुभूतियां हैं। तार्किक हवाओं के रुख पर उनकी स्थिति निर्भर करती है। सत्य परिवर्तन—निरपेक्ष होता है, जबकि विचार परिवर्तन—सापेक्ष होता है। सत्य की उपलब्धि शाश्वत और सनातन में प्रतिष्ठा प्रदान करती है। ठीक इसके विपरीत विचार का मार्ग प्रत्यारोपित होता है। इसमें दूसरे के विचारों या मतों को ही निज

* *जूनियर रिसर्च फेलो (JRF), भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा (सम विश्वविद्यालय, संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार)*

की सम्पत्ति मानकर चलना होता है। विचार–शृंखलाओं में दूसरों के ही ऊहापोह और नये–नये संयोगों को मिलाकर ही मौलिकता की आत्म वञ्चना उत्पन्न की जाती है, जबकि विचार कभी मौलिक हो ही नहीं सकते। मौलिकता तो दर्शन में होती है, क्योंकि दर्शन का जन्म ही स्वयं की अन्तर्दृष्टि से होता है। अतः विचार यदि व्यक्ति का चिन्तन है तो दर्शन उसकी चिकित्सा है।

पद एवम् पदार्थों[2] का सम्यक् ज्ञान शास्त्रों से ज्ञान अर्जित करने हेतु आवश्यक है। इनमें पद ज्ञान के लिए जिस प्रकार व्याकरणशास्त्र का शरण लेना अनिवार्य है, ठीक उसी प्रकार पदार्थज्ञान के लिए महर्षि कणाद निर्मित वैशेषिक दर्शन की भी आवश्यकता है। वैशेषिक दर्शन की इस आवश्यकता को ''काणादं पाणिनीयञ्च सर्वशास्त्रोपकारकम्''[3] इत्यादि उक्तियां समर्थन करती हैं।

महर्षि कणाद के द्वारा रचित होने के कारण इसे 'कणाददर्शन' भी कहते हैं। महर्षि कणाद उलूक नाम के महर्षि के वंश में थे, अतः उनका 'औलूक्य' नाम भी था। अतः कणाद निर्मित दर्शन को औलूक्यदर्शन भी कहते हैं।

इनमें 'वैशेषिक'नाम के प्रसङ्ग में 6 छः प्रकार की उक्तियां प्रचलित हैं।

(क) 'अन्यत्र अन्त्येभ्यो विशेषेभ्यः'[4] इस सूत्र के अनुसार 'अन्त्य' विशेष पदार्थ के साथ संबद्ध जो 'दर्शन' वही 'वैशेषिकदर्शन' है। क्योंकि दूसरे किसी भी दर्शन में इस प्रकार का 'विशेष' पदार्थ स्वीकृत नहीं है।अतः विशेष रूप स्वतन्त्र पदार्थ के निरूपण के द्वारा यह अन्य दर्शनों से अलग समझा जा सकता है।

(ख) न्यायदर्शन में दुःखो की पूर्ण निवृति को 'मोक्ष' कहा गया है। इस दर्शन में आत्मा के सभी विशेष गुणों के पूर्ण विनाश को अपवर्ग मना गया है। अतः सभी दर्शनों के द्वारा समान प्रतिपाद्य मोक्ष के प्रसङ्ग में यह 'विशेषगुण' को अवलंबन कर उसके मूलतः उद्देश्य को मुक्ति माना है, अतः 'विशेष एव वैशेषिकः'[5] इस स्वार्थिक प्रत्यय के द्वारा निष्पन 'वैशेषिक' शब्द के द्वारा मोक्ष के प्रसङ्ग में इसका उक्त असाधारण ही प्रतिपादित होता है।अतः इसका नाम 'वैशेषिकदर्शन'[6] है। फलतः विशेष से अर्थात् 'विशेषगुण' से मोक्ष के प्रसंग में जो शास्त्र संबद्ध हो वही 'वैशेषिकदर्शन' है।

(ग) 'विगतः शेषो यस्य तत् विशेषम्'[7] इस व्युत्पत्ति के अनुसार निर्विशेष ही प्रकृत 'विशेष ' शब्द का अर्थ है। 'विशेष एव वैशेषिकम' इस प्रकार स्वार्थिक प्रत्यय करके यह 'वैशेषिक' शब्द निष्पन्न है। अर्थात् नैयायिकादि पदार्थों की षोडशादि संख्याओं को स्वीकार कर प्रमाणादि जिन पदार्थों को स्वीकार किया है, वे सभी वैशेषिकों से स्वीकृत सात पदार्थों में ही ''निरवशेष'' होकर अंतर्भूत हो जाते हैं। कोई भी अन्तर्भूत होने से अवशिष्ट नहीं रहते, अतः इस दर्शन का नाम 'वैशेषिकदर्शन' है।

(घ)'विशेषणं विशेषः'[8] इस व्युत्पत्ति के अनुसार लक्षणपरीक्षादि के क्रम से पदार्थों का प्रतिपादन ही प्रकृत में 'विशेष' शब्द का अभिप्रेत अर्थ है। उक्त प्रतिपादन रूप कार्य जिस शास्त्र के द्वारा हो वही 'वैशेषिकदर्शन' है। इस प्रकार से व्याख्या करनेवालों का अभिप्राय है कि सांख्य वेदान्तादि दर्शनों में मोक्ष के लिए साक्षात उपयोगी आत्म एवम् अन्तः करणादि पदार्थ और सृष्टितत्त्व प्रभृति ही विशेष रूप से विवेचित हुए हैं। इस से जगत् के और पदार्थों के तत्व यथावत् परिस्फुट नहीं होते। आत्म तत्त्व को समझने के लिए भी आत्मा के सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार के पदार्थों का ज्ञान आवयश्क है। अतः आत्मा और उनके सजातीय और विजातीय सभी पदार्थों की ओर 'विशेष' रूप से मुमुक्षुओं की दृष्टि आकृष्ट करने के कारण ही इस दर्शन का नाम 'वैशेषिकदर्शन' है।

(ङ) प्रकृति 'विशेष' शब्द के भेद और विशेषगुण दोनों ही अर्थ हैं। इन दोनों अर्थों के साथ संबद्ध जो दर्शन है, वही वैशेषिकदर्शन है।

(च) 'विशेष' शब्द का प्रयोग परमाणु अर्थ में भी होता है।[9] अतः परमाणु की सत्ता और तन्मूलक सृष्टि जिस दर्शन में स्वीकृत हो वही 'वैशेषिकदर्शन' है।[10]

वैशेषिकदर्शन का आरंभ धर्मव्याख्या की प्रतिज्ञा से हुआ है। यथा– अथातो धर्म व्याख्यास्यामः[11] अर्थात् अब धर्म की व्याख्या करते हैं। वैशेषिकदर्शन के दूसरे सूत्र के द्वारा अवसरप्राप्त धर्म का लक्षण कहा गया है। यथा–यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिस्स धर्मः[12] अर्थात् –जिससे यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो और मोक्ष की सिद्धि हो सके वही धर्म है एवम् तीसरे सूत्र के द्वारा धर्म के करणीभूत यागादि के प्रतिपादन वेदों में प्रमाण्य का प्रतिपादन हुआ है। यथा–तद्वाचनादामनायस्य प्रामाण्यम।[13] अर्थात्जिस वस्तु का जिसे यथार्थ ज्ञान है, वह उसका ज्ञाता कहा जाता है और जो, जिस विषय का ज्ञाता है, वह उस विषय की वास्तविकता का वर्णन करे, तो उसका वह वर्णन प्रमाण समझा जायेगा।

'धर्मविशेषप्रस्तात'[14] इत्यादि चौथे सूत्र के द्वारा यह उपपादन किया गया है कि द्रव्यादि छः पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य सहित तत्त्वज्ञान के द्वारा ही निःश्रेयस का लाभ होता है। उक्त तत्त्वज्ञान निवृत्तिलक्षण विशेष प्रकार के धर्म से उत्पन्न होता है। फलतः निःश्रेयस के लिए धर्म अत्यन्त आवश्यक है। अतः उसका निरूपण भी आवश्यक है, जिसके लिए इस शास्त्र का आरंभ उचित है।

ध्येय है कि वैशेषिकदर्शन का आरम्भ धर्म व्याख्या की प्रतिज्ञा से हुआ है। सभी प्रकार का ऐहिक और पारलौकिक इष्टों और मोक्ष के साधन को ही इस दर्शन में धर्म कहते हैं। यह धर्म (1) प्रवृत्तिलक्षण (2)निवृत्तिलक्षण के भेद से दो प्रकार का हैं।

प्रवृत्तिलक्षण धर्म से ऐहिक[15] तथा पारलौकिक[16] स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति होती है। एवं निवृत्तिलक्षण रूप विशेष धर्म के द्वारा (1) द्रव्य (2) गुण (3) कर्म (4)

सामान्य (5) विशेष (6) समवाय और (7) अभाव इन सात पदार्थों[17] का साधर्म्य और वैधर्म्य रूप से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। उसी से मुक्ति होती है। अर्थात् निवृत्तिलक्षण धर्म के द्वारा मुक्ति के सम्पादन में द्रव्यादि पदार्थों का और उसके परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य का ज्ञान मध्यवर्ती व्यापार है।[18] यद्यपि 'आत्म वारे श्रोतव्यः, तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति'[19] इत्यादि श्रुतियों के द्वारा आत्मतत्त्व ज्ञान को ही मोक्ष का कारण माना गया है, किन्तु आत्मा को अच्छी तरह समझने के लिए भी संसार के और सभी पदार्थों को समझना आवश्यक है। अपने सहधर्मियों से और विरुद्धधर्मियों से विविक्त होकर किसी व्यक्ति को समझे बिना उसका तत्त्व समझना सम्भव नहीं है। संसार की प्रत्येक वस्तु और सभी वस्तुओं के साथ किसी न किसी प्रकार सादृश्य अथवा वैसादृश्य से युक्त है, अतः परस्पर सम्बद्ध है। अतः एक वस्तु को समझने के लिए और और सभी वस्तुओं को भी समझना आवश्यक है। सुतराम् आत्मा को समझने के लिए भी संसार के और सभी वस्तुओं को समझना आवश्यक है। किन्तु संसार के असंख्य वस्तुओं को अलग–अलग प्रेत्यकशः समझना साधारणजनों के लिए संभव नहीं है। अतः महर्षि कणाद ने समझने की सुविधा के लिए जगत् को द्रव्यादि सात भागों विभक्त किया गया है। फलतः इनके मत से संसार के सभी वस्तुएं द्रव्यादि सात पदार्थों में से ही कोई हो सकती है।

द्रव्य जिसमें गुण अथवा क्रिया हो, द्रव्य[20] है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि सभी द्रव्यों में सभी अवस्थाओं में गुण या कर्म रहते ही हैं, क्योंकि उत्पत्ति के समय उत्पत्तिशील पृथीव्यादि द्रव्यों में भी गुण का कर्म नहीं रहते। गुण और कर्म का समवायिकारण आश्रयीभूत द्रव्य ही हैं जो अपनी उत्पत्ति से पूर्व नहीं रह सकता। अतः उत्पत्ति के समय द्रव्य बिना गुण या बिना कर्म के ही रहते हैं। उत्पत्ति के बाद बाद उनमें गुण या क्रिया की उत्पत्ति होती है। आकाशादि विभुद्रव्यों में तो क्रियायें कभी रहती ही नहीं। अतः गुण या क्रिया से युक्त जो पदार्थ है, वही द्रव्य है। द्रव्यं तु द्रव्यत्वसामान्ययोगि गुणवत् समवायिकारणं चेति।[21]

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक, आत्मा तथा मन ये नौ प्रकार के द्रव्य हैं। इन सभी द्रव्यों को नित्य और अनित्य भेद से दो भागों में बांटा जा सकता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार द्रव्यों के परमाणु और आकाश, काल, दिक, आत्मा और मन ये सभी द्रव्य नित्य हैं। एवम् कथित परमाणुओं से भिन्न पृथिव्यादि चारों द्रव्य के सभी प्रभेद उत्पत्तिशील होने के कारण अनित्य हैं। अनित्य द्रव्यों में से पृथिव्यादि तीन द्रव्यों को शरीर, इन्द्रिय और विषय इन तीन भागों में विभक्त किया गया है। किन्तु वायु का इन तीनों से भिन्न 'प्राण' नाम का

एक चौथा भेद भी है। शिवादित्य मिश्र ने द्रव्य का लक्षण करते हुए कहा है –पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।[22]

आत्मा[23] विभु है अतः सभी मूर्त्त द्रव्यों के साथ उसका संयोग है। किन्तु सुख और दुःख का अनुभव अर्थात् भोग वह शरीर में ही करता है। अतः शरीर के साथ उसका और मूर्त द्रव्य से विलक्षण प्रकार का अवच्छेदकत्व नाम का सम्बन्ध है।

उक्त सम्बन्ध के कारण शरीर को आत्मा के भोग का आयतन ही शरीर है। यही शरीर पार्थिव,जलीय, तैजस और वायवीय भेद से चार प्रकार के हैं।[24] इनमें मानव शरीर पार्थिव है, क्योंकि इस शरीर का उपादान पृथिवी रूप द्रव्य ही है। यद्यपि जलादि और द्रव्यों का भी सम्बन्ध इसमें प्रतीत होता है फिर भी वे इसके उपादान या समवायिकारण नहीं है, निमित्तकारण हैं। पृथिवी से लेकर आकाशपर्यन्त सभी भूतद्रव्य शरीर के बनने में हेतु हैं। अतः यह शरीर पञ्चभौतिक भी कहलाता है।

वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार शरीर का समवायिकारण पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चारों में से कोई एक ही है, शेष चार उसके निमित्तकारण हैं। अतः पृथिवी रूप उपादान से उत्पन्न हम लोगों का शरीर पार्थिव है।

पार्थिव शरीर के लिए दो भेद हैं–योनिज और अयोनिज।[25] योनीज शरीर के दो भेद हैं – जरायुज और अण्डज। जरायुज मनुष्य आदि के शरीर हैं और पशुपक्षी आदि के शरीर अण्डज हैं। स्वेदज और उद्भिज्जादि के शरीर अयोनिज है। स्वेदज हैं कृमि प्रभृति और उद्भिज्ज हैं वृक्षादि। नारकीय शरीर भी अयोनिज ही हैं। जल रूप समवायिकारण और शेष चार भूत द्रव्य रूप निमित्तकारणों से उत्पन्न शरीर 'जलीयशरीर' है, जो 'वरुणलोक' में प्रसिद्ध है। तेजरूप समवायिकारण और शेष चार भूतद्रव्य रूप निमित्तकारणों से उत्पन्न शरीर 'तैजसशरीर' कहलाता है, जो 'सूर्यलोक' में प्रसिद्ध है। वायु रूप समवायिकारण और शेष चारों भूतद्रव्य रूप निमित्तकारणों से जिस शरीर का निर्माण होता है,वह वायवीय शरीर कहलाता है। पिशाचादि का शरीर वायवीय शरीर है।

घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा, श्रोत्र और मन ये छः इन्द्रियां हैं। हाथ, पैर प्रभृति शरीर के अवयव मात्र हैं, इन्द्रिय नहीं। इनमें श्रोत्र आकाश रूप है, अतः नित्य है। और मन परमाणु रूप है, अतः नित्य है। चुक्षुरादि शेष चार इन्द्रियां क्रमशः पृथिवी, जल, तेज और वायु रूप द्रव्य से उत्पन्न होती हैं। इनमें घ्राण पार्थिव है,रसना जलीय है, चक्षु तैजस है और त्वचा वायवीय है। फलतः घ्राण पृथिवी है, रसना जल है, चक्षु तेज है और त्वचा वायु है। इस प्रकार घ्राण प्रभृति चार इन्द्रियां पृथिवी प्रभृति चार भूतों से उत्पन्न होने के कारण 'भौतिक' है। श्रवणेन्द्रिय आकाश रूप है आकाश से उत्पन्न नहीं, क्योंकि आकाश नित्य है। नित्यद्रव्य किसी द्रव्य

का समवायिकारण नहीं हो सकता अतः श्रवणेन्द्रिय स्वयं भूतद्रव्य होने के कारण ही भौतिक कहलाता है। मन भौतिक नहीं है।

मिट्टी प्रभृति 'विषय' रूप पृथिवी है, सरिता समुद्रादि 'विषय' रूप जल है। वन्हि एवं सुवर्णादि विषय रूप तेज है। जिससे आंधी प्रभृति होती हैं, वे सभी वायु विषय रूप हैं। शरीरादि तीनों प्रकारों से भिन्न वायु का 'प्राण' नाम का चौथा प्रकार भी है। शरीर के भीतर चलेनेवाली वायु को 'प्राण' कहते हैं। किन्तु कार्य भेद से और स्थान भेद से उसके प्राण,अपान, समान और व्यान ये चार नाम प्रसिद्ध हैं। शाखादि के कम्प से वायु का केवल अनुमान ही होता है, प्रत्यक्ष नहीं। क्योंकि रूपी द्रव्य का ही प्रत्यक्ष होता है। किसी का मत है कि वायु का भी रूपार्शनप्रत्यक्ष होता हैं। द्रव्य के चाक्षुषप्रत्यक्ष के लिए ही द्रव्य में रूप का रहना आवश्यक है।

वैशेषिकों का कहना है कि घटादि कार्यद्रव्यों का नाश प्रत्यक्षसिद्ध है। विनाश की परम्परा का विश्राम कहीं पर मानना आवश्यक है। ऐसा न मानने पर राई और पर्वत दोनों को एक परिमाण का मानना पड़ेगा। क्योंकि राई की विनाश भी अनन्त खण्डों में होगा और पहाड़ का भी विनाश अनन्त खण्डों में होगा। अतः दोनों अनंत खण्डों में निर्मित होने के कारण समान परिमाण के होंगे। किंतु यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है।अतः विनाश परम्परा का कहीं विश्राम मानना आवश्यक है। जहां पर उसका विश्राम होगा वह परमाणु[26] है।

इसे मान लेने पर राई और पर्वत के समान परिमाण का प्रसंग उपस्थित नहीं होता है। क्योंकि दोनों के परमाणुओं में संख्या का तारतम्य ही दोनों के परिमाण में भी न्यूनाधिक का ज्ञापक होगा। परमाणु को नित्य मानना भी आवश्यक है। क्योंकि परमाणुओं को अनित्य मानने पर ऐसे द्रव्य रूप कार्यों को भी मानना पड़ेगा जिनके अवयव नहीं हैं। किन्तु यह प्रत्यक्ष विरुद्ध होने के कारण उचित नहीं है। अतः उक्त प्रकार से दो प्रमाणुओं से द्वयणुक और तीन द्वयणुकों से त्र्यसरेणु या त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है। त्र्यसरेणु में महत्त्व आ जाता है। फिर आगे की सृष्टि होती है। वैशेषिकमत के अनुसार अवयवों से जिस अवयवी की उत्पत्ति होती है, वह अवयवों से सर्वथा भिन्न वस्तु है, और उत्पत्ति से पूर्व उसकी और किसी रूप में सत्ता नहीं रहती है। इसी को असतकार्यवाद या आरम्भवाद[27] कहते हैं।

सर्वापेक्षया सूक्ष्म, इन्द्रियातीत, निरवयव नित्य द्रव्य को 'परमाणु'[28] कहते हैं। ये परमाणु चार प्रकार के हैं – पार्थिव,जलीय, तैजस तथा वायवीय।

इन परमाणुओं में जगदुत्पत्ति के प्रकार का वर्णन प्रशस्तपाद ने अपने पदार्थ धर्म संग्रह भाष्य में बड़े ही व्यापक स्तर पर किया है। अणुपरिमाण–विशिष्ट परमाणुओं के संयोग से 'द्वयणुक' की उत्पत्ति होती है, जो अणुपरमाणु–विशिष्ट

होने से स्वयं अतिन्द्रिय होते हैं। ऐसे तीन द्वयणुको के संयोग से त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है। परमाणु नित्य है। दो परमाणुओं से द्वयणुक की उत्पत्ति होती है। द्वयणुक भी अनुपरिमाणवाला है, किन्तु कार्य होने से वह अनित्य है। तीन द्वयणुको से जिस त्रसरेणु की की उत्पत्ति होती है वह महत्वपरिमाणवाला होता है। अतः उसका चाक्षुस प्रत्यक्ष होता है। फलतः परमाणु और द्वयणुक अतिन्द्रिय है और त्रसरेणु से लेकर आगे के सभी कार्य द्रव्य इन्द्रिय–गोचर होते हैं। घर में छत के छेद से जब सूर्य की किरणे प्रवेश करती हैं, तब उनमें नाचते हुए जो छोटे–छोटे कण नेत्र गोचर होते हैं, वे ही त्रसरेणु हैं। इनका साठवाँ भाग परमाणु कहलाता है।

जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते।।[29]

त्र्यणुक का महत्त्व द्वयणुकों की संख्या के कारण उत्पन्न माना जाता है, न कि उनके अणु – परमाणु से। चार त्रसरेणुओं के योग से चतुरणुक की उत्पत्ति होती है और तदनन्तर जगत् की सृष्टि होती है। प्रत्येक द्रव्य की सृष्टि में इसी क्रम का अनुसरण माना जाता है।

वैशेषिक मत में परमाणु स्वभावतः शान्त अवस्था में निःस्पन्दरूप से निवास करते हैं, उनमें प्रथम परिस्पन्द का क्या कारण है? प्राचीन वैशेषिक दार्शनिक प्राणियों के धर्माधर्मरूप अदृष्ट[30] को इसका कारण बतलाते हैं। अदृष्ट की दार्शनिक कल्पना बड़ी विलक्षण है।[31] अयस्कांतमणि की ओर सूई की स्वभाविक गति[32], वृक्षों के भीतर रस का नीचे से ऊपर चढ़ना[33],अग्नि की लपटों का ऊपर उठना,वायु की तिरछी गति, मन तथा परमाणुओं की पहिली गति (स्पन्दनात्मक क्रिया) अदृष्ट के द्वारा जन्य बतलाई जाती है,पर पीछे के आचार्यों ने अदृष्ट की सहकारिता से ईश्वर की इच्छा से ही परमाणुओं में स्पन्दन तथा तज्जन्य सृष्टि क्रिया मानी जाती है।[34] अदृष्ट के स्थान पर महेश्वर की सत्ता कारण मानी गई है। महेश्वर को जगत के संहार करने की इच्छा उत्पन्न होने पर अदृष्टों का शक्ति–प्रतिबंध उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् अदृष्टों की शक्ति रूद्ध हो जाती है।

अतः उसका साध्यः फल प्रलय की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार जब प्राणियों के कार्य फलोन्नमुख होते हैं और अदृष्ट कार्य करता है, तब महेश्वर की सृष्टि करने की इच्छा से आत्मा तथा परमाणु का संयोग उत्पन्न होता है। उसके कारण परमाणुओं में कर्म की उत्पत्ति होती है और क्रमशः सृष्टि का आविर्भाव होता है।

प्रशस्तपाद वैशेषिक सूत्र के प्रथम भाष्यकार हैं। वस्तुतः इन्हें सही अर्थों में वैशेषिक सूत्र का भाष्यकार कहना उचित नहीं है, क्योंकि इन्होंने वैशेषिक सूत्रों का यथावत् भाष्य नहीं किया है। प्रशस्तपाद भाष्य बहुत कुछ स्वतन्त्र भाष्य है।

प्रशस्तपाद ने इसे 'पदार्थधर्मसंग्रह' का नाम दिया है। तदनुसार प्रशस्तपाद ने 'पदार्थधर्मसंग्रह' में इत्यादि छः पदार्थों के मत में अपना स्वतन्त्र मत प्रस्तुत किया है। उत्तरकालिक न्यायवैशेषिक के प्रमुख सिद्धान्तों, जैसे सृष्टिरचना तथा प्रलय का सिद्धान्त,अनेक परमाणुओं के अणुपारिमाण का विनिश्चय तथा पीपुलाक सिद्धान्त का प्रथम वार उल्लेख पदार्थधर्मसंग्रह के अन्तर्गत पाया जाता है।

ततः प्रविभक्ताः परमाणवोऽवतिष्ठन्ते धर्माधर्मसंस्कारनुविद्धाश्चात्मानस्तावन्तमेव कालम्।[35]

उक्त सन्दर्भ में पदार्थधर्मसंग्रह के अन्तर्गत यह वर्णन आता है कि सूर्य के उत्तरायण का समय देवों का दिन है, दक्षिणायन रात्रि तथा 360 दिन का देवों का एक वर्ष होता है। इस प्रकार के द्वादश सहस्त्र वर्षों का चतुर्युग होता है,तथा एकसहस्त्र चतुर्युग का ब्रह्मा का एक दिन होता है। इतने ही समय ब्रह्मा की रात्रि होती है। इस प्रकार ब्रह्मा के सौ वर्षों के अन्त में प्रलय होता है। प्रलय का अर्थ है – अदृष्ट के व्यापार का रुक जाना। अदृष्ट का व्यापार रुक जाने पर परमेश्वर की इच्छा से आत्मा और परमात्मा के संयोग से परमाणुओं में कर्म होता है। उस कार्य से विभाग होता है, एवं परमाणुओं के परस्पर संयोग का नाश हो जाता है। परमाणुओं के संयोग की निवृत्ति होने पर शरीर तथा इन्द्रियों का परमाणुपर्यन्त विभाग (विनाश) हो जाता है। विभक्त हुए परमाणु एवं अधर्म के संस्कार से युक्त आत्मा उतने ही समय तक स्थित रहते हैं,जितने समय तक सृष्टि रहे।[37]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि, परमाणुओं का संयोगनाश होने पर पृथ्वी आदि का नाश हो जाता है, किन्तु पूर्व – पूर्व तत्त्व के नाश के समय अग्रिम तत्त्व विद्यमान रहता है, जैसे पृथ्वी का नाश होने पर, जलादि तत्त्व शेष रहते हैं। अन्त में, अव्यक्त आकाश मात्र शेष रहता है। यही प्रलयावस्था है।

जहां तक, सृष्टि की प्रक्रिया की बात है, जीवों के कल्याणार्थ परमेश्वर में सृष्टि की उत्पत्ति की इच्छा उत्पन्न होती है, जिसके फलस्वरूप सत् आत्माओं में स्थित व्यापारयुक्त (वृत्तिलब्ध) धर्म, अधर्म (अदृष्ट) के निमित्त से होने वाले उन (तत्तद् आत्माओं) के संयोग से वायु के परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होने पर, उन परमाणुओं के परस्पर संयोग से द्वयणुकादि की सृष्टि होती है। इस प्रक्रिया के अनुरूप परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होने पर, उन परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक उत्पन्न होता है, तथा तीन द्वयणुकों से त्र्यणुक बनता है, जो महत् परिमाण वाला होता है। त्र्यणुकों से महान् परिमाण वाला वायु उत्पन्न होता है। वायु से कार्यरूप जल (समुद्र), जल से कार्यरूप पृथ्वी तथा तेज की सृष्टि होती है। महाभूतों के इस उत्पत्तिक्रम के सम्बन्ध में व्याख्याकारों में मतभेद दृष्टिगोचर होता है।

भूतसृष्टि का समवायिकारण परमाणु है, असमवायिकारण परमाणुसंयोग है, तथा निमित्तकारण महेश्वर की सिसृक्षा के पश्चात् आत्माओं में स्थित अदृष्टतत्त्वों का व्यापारयुक्त होकर आत्माओं तथा परमाणुओं का संयोग होता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि जीव अपने पूर्वजन्म के धर्मकर्मानुसार सांसारिक पदार्थों के भोग के लिये तत्तद् योनियों,कुलों एवं देश आदि में जन्म ग्रहण करते हैं। न्याय – वैशेषिक के अन्तर्गत सृष्टि की यही संक्षिप्त प्रक्रिया है। परमाणुवाद के सन्दर्भ में दर्शनशास्त्र में भिन्न भिन्न विचार मिलते हैं। सौत्रान्तिक बौद्धों ने परमाणुवाद के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया है। सौत्रान्तिक बौद्धों का विचार है, कि परमाणुओं में पारस्परिक स्पर्श का सर्वथा अभाव रहता है। परमाणु के निरवयव होने के कारण स्पर्श सम्पूर्ण वस्तु का ही सम्भव है। ऐसी स्थिति में परमाणुओं का तादात्म्य स्वीकार करना होगा। इस प्रकार परमाणुसंघात परमाणु से परिमाण में अधिक न होगा।

जैन दार्शनिक अणु तथा संघात को पुद्गल के दो रूप मानते हुए कहते हैं, कि पुद्गल के सूक्ष्मतम निरवयव अंत ही अणु हैं। इस प्रकार निरवयवत्व, बौद्ध एवं जैन दोनों को स्वीकृत है। दो या दो से अधिक अणुओं के एकत्र होने से संघात बनता है। इन अणुसंघातों से ही स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर की सृष्टि होती है।

सांख्य का मत है कि परमाणु कदाचित् भौतिक जगत् की सृष्टि करने में सक्षम हो जाते हैं, किन्तु मन–बुद्धि जैसे सूक्ष्म शरीर की सृष्टि परमाणु द्वारा कैसे सम्भव हो सकती है। इस प्रकार सांख्य, जगत् की सृष्टि प्रकृति से ही स्वीकार करता है।

मीमांसा परमाणु को प्रत्यक्ष ग्राह्य मानते हुए, न्याय–वैशेषिक के समान उसे अनुमेय एवं योगज प्रत्यक्ष का विषय नहीं स्वीकार करती। मीमांसक का कथन है, कि कर्मों के फल के प्रति उन्मुख होने पर व्यक्तियों की उत्पत्ति एवं कर्मफल का नाश होने पर विनाश होता है, किन्तु मीमांसा के अन्तर्गत जगत् की सृष्टि एवं विनाश की बात नहीं कही गई है। न्यायदर्शन के अन्तर्गत 'जालान्तर्गते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य षष्टितमो भागः परमाणुः स उच्यते।। कहकर परमाणु की जो परिभाषा की गई है, वह भी मीमांसक को स्वीकार नहीं है। मीमांसक अणु–परमाणुवाद होते हुए भी, न्याय–वैशेषिक के परमाणुवाद का विरोधी है। यह भी संकेत अपेक्षित है, कि कुमारिल परमाणुवाद की अस्वीकृति का निर्देश करते हैं– मीमांसकैश्व नावश्यमिष्यन्ते परमाणवः। यद् बलेनोपलब्धस्य मिथ्यात्वं कल्पयेद् भवान।। किन्तु कुमारिल के शिष्य परमाणुवाद का समर्थन करते हैं।[37]

जहाँ तक, वेदान्त का सम्बन्ध है, आचार्य शंकर एवं रामानुज दोनों ही परमाणुवाद के विरोधी हैं। दोनों ने ही अचेतन परमाणुओं से सृष्टि का निराकरण

किया है। अत एव वेदान्त में ईश्वर को निमित्तकारण एवं त्रिगुणात्मिका प्रकृति को उपादानकारण माना है। परमाणुवाद का खंडन करते हुए, वेदान्त के आचार्यों का तर्क है, कि यदि चेतन तत्त्व को जगत् का कर्त्ता न मानकर, सतत गतिशील परमाणुओं से ही सृष्टि की कल्पना संगत होगी, तो यह असमीचीन होगा, क्योंकि ऐसा मानने पर तो कभी प्रलय का अवसर ही नहीं आएगा, और जब प्रलय नहीं तो सृष्टि कैसी।

संहार की प्रक्रिया–वैशेषिक की संहार–प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रथम, कारण का विनाश होता है। तत्पश्चात् कार्य का। अतएव ये सृष्टि प्रक्रिया के समान संहारार्थ परमाणु में ही किया मानते हैं, किन्तु परमाणु तो नित्य है, इसलिए वैशेषिक में परमाणुओं के संयोग का नाश होता है। इसके पश्चात् द्वयणुक रूप कार्य का तथा फिर त्र्यणुक एवं चतुरणुक रूप कार्य एवं अन्य कार्यों का नाश होता है। न्यायमत इसके विरुद्ध है। इसके अनुसार कार्यरूप द्रव्य (घटादि) का नाश एक बार में ही आघात मात्र से हो जाता है। कार्यरूप द्रव्य के नष्ट होने पर उसके गुण नष्ट हो जाते हैं। आघात पहुँचने पर, घट के परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है, तत्पश्चात, जैसा कि ऊपर कहा गया है, परमाणुसंयोग आदि का नाश होता है।

बहुधा दार्शनिक परमाणुवाद को, व्युत्पन्न रूप से वैशेषिक परमाणुवाद को, 'अवैज्ञानिक' और 'कल्पनामूलक' कह दिया जाता है। वस्तुतः वर्तमान कालखण्ड में जब विज्ञान वस्तुओं की उत्पत्ति की व्याख्या के लिए, अथवा अन्य उद्देश्यों की सिद्धि के लिए भौतिक पदार्थ के मूलतत्त्व के रूप में अणुवाद अथवा परमाणुवाद के विवेचन में न मात्र संलग्न है वरन् अपने सिद्धान्तों को प्रयोगशाला में अनुभव सिद्ध करने में भी सक्षम है, तत्त्वमीमांसा और दार्शनिक सिद्धान्तों की महत्ता घटती प्रतीत होती हैं, तथापि दार्शनिक परमाणुवाद की महत्ता दो रूपों में सर्वथा सिद्ध है। प्रथमतः, जैसा कि हम परमाणुवादी मतों के विकास के क्रम में देख आये है, दार्शनिक परमाणुवाद वैज्ञानिक परमाणुवाद को आधारशिला प्रदान करता है। द्वितीयतः वैज्ञानिक परमाणुवाद आज भी अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सका है। आज भी वैज्ञानिक परमाणुवादी सिद्धान्तों में खण्डन – विखण्डन के दौर जारी हैं। उस स्थिति में वैज्ञानिक परमाणुवाद को अन्तिम और अशोध्य नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में वर्तमान परमाणुवादी मतों के संशोधन परिवर्द्धन में वैशेषिक परमाणुवादी मतों की उपादेयता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

अतः निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है, कि वैशेषिक दर्शन के अन्तर्गत पदार्थमीमांसा, गुण स्वरूप निरूपण, प्रमाण–प्रमेयविवेचन, परिमाण के भेद तथा उत्पत्तिनिरूपण, पाकजोत्पत्तिप्रतिपादन एवं पीलूपाकस्थापना, सृष्टि प्रलय के सिद्धान्त का विश्लेषण तथा धर्माधर्म एवं मोक्ष आदि सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत करते हुए, प्रधानरूप से भारतीय दर्शन के भौतिक एवं यथार्थवादी तथ्यों का

उद्घाटन किया गया है। निश्चय ही वैशेषिक के अन्तर्गत विवेचित परमाणु सम्बन्धी एवं पाकजोत्पत्ति–आदि–विषयक सिद्धान्त तत्कालीन भौतिकी के स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। सम्प्रति इस शास्त्र के पुनरनुसन्धान की परमापेक्षा है।

संदर्भ

1. व्याकरण की दृष्टि से देखें तो आत्मानि–इति विग्रह के द्वारा अव्ययीभाव समास करके 'अध्यात्म्' शब्द की निष्पत्ति होती है। जिसका अर्थ हुआ– आत्मा में स्थित। आत्मन् शब्द की सप्तमी विभक्ति के एक वचन में 'आत्मनि' बनता है और अव्यय का 'इति' शब्द– 'अधि' शब्द के रूप में सामासिक सूत्र में परिवर्तित होता है। इसका स्पष्ट अर्थ होता है– 'आत्मा में स्थित'। इस तरह 'अध्यात्म' शब्द के मूल में आत्मन् शब्द नित्य पुल्लिंग है, जिसका रूप है 'आत्मा'।
2. न्याय दर्शन में सुप् या तिङ् विभक्ति जिन वर्ण – समूह के अन्त में रहती है, वह वर्ण – समूह ''पद'' कहलाता है ''ते विभक्त्यन्ताः पदम्' (न्यायसूत्र2.2.58) और उसका अर्थ कहलाता है '' पदार्थ ''।
3. प्रशस्तपादभाष्य, पृ.3
4. वैशेषिक, (1– 2–6)
5. व्योमवती, पृ.20
6. Vais-Phil, p-5
7. ibid, p- 9
8. 'पदार्थधर्मसङ्ग्रह' पृ.–7
9. ''कणान् =परमाणू, अ्त्त = सिद्धान्तत्वेन आत्म–सात् करोतिइतिकणादः।''
10. टिप्पणीः– उक्त पांच व्युत्पत्तियां म०म० विद्वद्व श्रीयुत कालीपदत महोदय के द्वारा संपादित सूक्ति और उनकी टीका के साथ संस्कृतसाहित्यपरिषद से प्रकाशित प्रशस्तपादभास्य की भूमिका से ली गई है।
11. वै.सू.1
12. वै.सू.2
13. वै.सू.3
14. वै.सू. 4
15. ऐहिक 1 वि० ख्सं०, खवि० स्त्री० ऐहिकी , इस लोक से संबंध रखनेवाला। जो परलौकिक न हो । सांसरिक । स्थानीय ।
    ऐहिक 2 संज्ञा पुं० सांसारिक व्यापार या कर्म। को०।

16. जो लौकिकता से परे हो, परलोक सम्बन्धी।
17. धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्य–विशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यावैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। वै. शू 1.1.4
18. पदार्थत्वंद्रव्यादिसप्तोपाध्यन्यतमत्वम्
19. 'पदार्थधर्मसङ्ग्रह' पृ.10
20. क्रिया गुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम्
21. सप्तपदार्थी
22. तर्कसंग्रह
23. आचार्य शंकर आत्मा शब्द की व्याख्या करते हुए लिङ्ग पुराण से निम्नाकिंत श्लोक उदधृत करते हैं–यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चाति विषयानिह।यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।। अर्थात् जो व्याप्त करता है, ग्रहण करता है, सम्पूर्ण विषयों का भोग करता है और जिसकी सदैव सत्ता बनी रहती है, उसको आत्मा कहा जाता है।
24. संस्कृत वांग्मय बृहद इतिहास, पृ. 203
25. वही.
26. प्र.पा.भा, 118/132
27. संस्कृत वांग्मय बृहद इतिहास, पृ. 48
28. परमतत्त्व से युक्त अणु
29. प्रशस्तपाद कृत पदार्थधर्मसंग्रह भाष्य
30. वृझाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम्। वै.सू.5.2.8
31. देखें दार्शनिक संप्रत्यय–कोश, पृष्ठ.138
32. मणिगमन् सूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणम् – वै.सू. 4/1/15
33. वृझाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् – वै.सू. 5/217
34. प्र.पा.भा, पृ. 20य न्या. क०, पृ– 52–63.
35. प्र.भा.पृ. 45 (indo-vision, Gaziabad, 1984)
36. भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा, पृ.202
37. जालरन्ध्रविसरद्रवितेजो जालभासुरपदार्थविशेषान् अल्पकानिह पुनः परमाणून् कल्पयन्ति हि कुमारिलशिष्याः।।

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

भारतीय धर्मों की सौन्दर्यात्मक अवधारणा

जुली कुमारी *

धर्म मानव की आस्था का विषय है जहाँ तर्क महत्वहीन हो जाता है। धर्म की परिभाषा देना एक कठिन विषय है क्योंकि धर्म एक परिवर्तनशील अवधारणा है। धर्म का क्षेत्र इतना विशाल है कि इसे किसी एक लेख, एक किताब अथवा एक व्याख्यान में समाहित करना असंभव है। आमतौर पर धर्म के किसी एक पक्ष का विश्लेषण नही किया जा सकता है, अतः प्रस्तुत शोध लेख में धर्म के सौन्दर्यात्मक पक्ष को समझने का प्रयास किया गया है जिसका विषय है "भारतीय धर्मों की सौन्दर्यात्मक अवधारणा"।

सौन्दर्य मानव जीवन की परम आराधना है। इस संसार में शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति हो जो सौन्दर्य की ओर आकृष्ट न होता हो। मुस्कुराता हुआ गुलाब का फूल, चहचहाते हुए पक्षी, आकाश में जगमगाते सितारे किसका मन नहीं मोह लेते हैं। मानवीय कला, प्राकृतिक सौन्दर्य, भावनात्मक गुण–धर्म और मानुषिक मूल्यों का अध्ययन ही सौन्दर्यशास्त्र है। भारत दुनियाँ की सबसे बड़ी आबादी वाला देश है जिसमें अनेक जाति, धर्म, भाषा वर्ण, प्रजाति के लोग साथ निवास करते हैं। मुख्यतः चार महान धर्मों का जन्म हुआ है तथा सात धर्मों की कर्मस्थली है।

भारतीय परम्परा में विशेषकर हिन्दू धर्म परंपरा में चाहे वो वैदिक सौन्दर्य धारणा हो अथवा रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्य या सत्यम् शिवम् सुन्दम की अवधारणा। यहाँ के सारे धर्म सौन्दर्य से ओत–प्रोत हैं। वह न केवल हमें खुशी और आनंद देते हैं बल्कि मुक्ति की ओर भी ले जाते हैं। यहाँ के सभी धर्म स्वयं सौन्दर्य की भावना से आच्छादित एवं आह्लादित हैं।

हिन्दु धर्म में सौन्दर्य

भारत का सबसे बड़ा धर्म हिन्दू धर्म अब तक के ज्ञात सबसे प्राचीन धर्मों में से एक है तथापि सबसे विस्तृत, व्यापक और दार्शनिक है। हिन्दू धर्म में सौन्दर्य

** शोधार्थी, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग, तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर*

का गंभीर विमर्श पाया जाता है। यह परम्परा वैदिक काल से चली आ रही है। हालांकि वेदों में सौन्दर्य शब्द का प्रयोग नही मिलता बल्कि उसके स्थान पर आनंद, मोह आदि शब्द मिलते हैं। इस संदर्भ में डॉ. फतेह सिंह का कहना है कि "यद्यपि प्रारंभिक वैदिक, साहित्य में सुन्दर, सौन्दर्य आदि शब्दों का प्रयोग भी नहीं हुआ है परन्तु वहाँ आनंद, मोह, अमोद, प्रमोद, प्रिय आदि शब्द जिस अनुभूति की ओर संकेत करते हैं, वस्तुतः वही आनंदानुभूति है, जिसे हम सौन्दर्य अनुभूति मानते हैं"।

वेद कालीन मनुष्य विश्व जीवन में वनस्पति, पर्वत, सागर, वायु, सुर्य सभी में एक दिव्यता की झलक देखता था। उसके लिए सूर्य केवल एक आग का गोला नहीं था बल्कि समस्त संसार का मंगल करने वाला एक दिव्य शक्ति था। इस प्रकार मनुष्य समस्त वस्तु को दिव्य मान कर उसकी पूजा करता था तथा अपने को उस विराट विश्व को चलाने वाली दिव्य सत्ता के सामने समर्पित कर देता था और उसी से उसे आनंद की अनुभूति होती थी। यही अनुभूति सौन्दर्य का प्रकटीकरण था। अतः हम कह सकते हैं कि वेद कालीन सौन्दर्य अंतःकरण का सौन्दर्य था जिसमें आध्यात्मिकता निहित थी।

सौन्दर्य की परम्परा वैदिक काल से होते हुए रामायण युग तक आती है जहाँ मनुष्य का मन समाजिक, राजनीतिक, नैतिक समस्याओं से जूझता हुआ दिखई देता है। लोगों के सामने सत्य–असत्य, नैतिक–अनैतिक आदि कितनी ही समस्याएं उत्पन हो गई थीं। इन समस्याओं से टकराता हुआ मनुष्य हार रहा था। ऐसे में एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो इन समस्याओं का समाधान कर सकता था। राम का जीवन इन समस्याओं के समाधान के रूप में उभरा। अतः मानव को सारी की सारी सौन्दर्य की आशा राम में ही दिखी। तभी राम को अति मन मोहक, मन–भावन और सौन्दर्य स्वरूपी दिखाया गया है। यहाँ यह कहना गलत न होगा कि वेदकालीन अनुभूति दिव्य सौन्दर्य था तो रामायण काल की अनुभूति मानव सौन्दर्य थी।

हिन्दू धर्म में महाभारत काल और गीता का विशेष महत्व है। महाभारत का सौन्दर्य कर्म और संघर्ष का सौन्दर्य है, जिसमें शांति की अपूर्ण धारा प्रवाहित होती है। महाभारत काल में एक ओर भोग की अनंत लालसा, ऐश्वर्य का मद है तो दूसरी ओर नीति, धर्म और मर्यादा का बंधन है। कृष्ण ने गीता में 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषुकदाचन' कहा है। यहाँ बैरागी होने का मतलब संसार को छोड़कर पर्वत शिखर एवं वनों में रहना नहीं है, बल्कि संसारिक जीवन में रहकर संघर्ष करते हुए वैरागी होना और शांति का अनुभव करना है जिसमें से सौन्दर्य की एक अद्‌भुत आशा फूटती है।

हिन्दू धर्म में सत्यम्, शिवम और सुन्दरम से सभी परिचित होंगे परन्तु इसका अर्थ गूढ़ है। समान्यतः लोग सत्य का अर्थ ईश्वर से, शिवम् का अर्थ भगवान शंकर से तथा सुन्दरम् का अर्थ कला आदि सुन्दरता से लगाते है, परन्तु हिन्दु धर्म और दर्शन का इस बार में मत भिन्न है। हिन्दू धर्म मे ब्रह्म को सत्य माना गया है। यह ब्रह्म निराकार, निर्विकार और निर्गुण है। यहाँ पर यह बताना अनिवार्य है कि 'ब्रह्म' और 'ब्रह्मा' दोनों भिन्न है। वैदिक 'ब्रह्म' अलिंग संज्ञा है जिसका अर्थ है हमारे चारों ओर फैला असीम विराट। पुराणों का 'ब्रह्मा' शब्द पुरूषवाची है। जो भगवान के एक रूप को व्यक्त करता है। सत्य का आमतौर पर अर्थ माना जाता है :– झूठ नहीं बोलना परन्तु यह इसकी दार्शनिक व्याख्या नहीं है। 'सत्य' और 'तत्व' धातु से मिलकर बना है– सत्य, जिसका अर्थ होता है– 'यह और वह' अर्थात् यह भी और वह भी, क्योंकि सत्य पूर्ण रूप से एक तरफा नहीं होता।

शिवम् का संबंध भगवान शंकर से जोड़ा जाता है जबकि दर्शनशास्त्र में शंकर और शिव अलग है। शिव निराकार, निर्गुण ध्यानी होकर उस परम सत्य में लीन होने के कारण शिव स्वरूप ही है लेकिन शिव नहीं। शिव का अर्थ– शुभ है अर्थात् यदि सत्य होगा तो वह शुभ भी होगा अन्यथा सत्य हो ही नहीं सकता।

सुन्दरम् – यह सम्पूर्ण प्रकृति सुन्दरम कही गई है। इस दिखाई देने वाले जगत् को प्रकृति कहा गया है। प्रकृति हमारे स्वभाव और गुण को प्रकट करती है। तीन गुणों और पाँच कोष वाली यह प्रकृति आठ तत्वों में विभाजित है। सत्, रज और तम तीन गुण है। जड़, प्राण, मन, विज्ञान और आनंद पाँच कोष है। पृथ्वी, जल, वायू, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यह प्रकृति के आठ तत्व हैं। अतः हम एक सुन्दर प्रकृति और जगत के घेरे से घिरे हुए हैं। इस घेरे से अलग होकर जो व्यक्ति खुद को प्राप्त कर लेता है वही सत्य को प्राप्त कर लेता है। संसार में तीन ही तत्व है सत्य, शिव और सुन्दरम् अर्थात् ईश्वर, आत्मा और प्रकृति।

इस्लाम धर्म में सौन्दर्य

भारत में दूसरे सबसे बड़े धर्म इस्लाम में सौन्दर्य शब्द को कुरान में जमाल कहा जाता है जिसका संदर्भ प्रकृति की दैवीय रचना है। इस्लाम अक्सर सुन्दरता को सच्चाई और नैतिकता के एक अनिवार्य पहलू के रूप में देखता है। सूफीवाद का रहस्यमय क्षेत्र इसके रूप और अभ्यास इस्लामी सोन्दर्यशास्त्र के अध्ययन में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस्लामी सौन्दर्यशास्त्र की सबसे विशिष्ट कलात्मक शैली, सुलेख पर आधारित अरबी और ज्यामितीय रूपों में ईश्वरीय अस्तित्व के कलात्मक संदर्भ और अनुस्मारक शामिल है। अरबी में सदाचार और सुन्दरता को हुस्न कहा जाता है, सुन्दरता को अक्सर कुरान के पाठ से लेकर सुलेख और वास्तुकला में एक महत्वपूर्ण रूप को देखा जाता है। इस्लामी कला मे रमणीय

और कामुक तरीके से चित्रित किया गया है। जो उसकी चेतावनियों' के आधार पर है कि जो पापियों के भाग्य को चित्रित करते हैं और सभी का अपने कार्यों के लक्ष्यों पर विचार करने की अवसर देते हैं।

बौद्ध धर्म में सौन्दर्य

बौद्ध धर्म में सभी जीवों में निहित सुन्दरता से प्रसन्न होने का संदेश दिया गया है, साथ ही साथ यह भी बताया गया है कि उन्हें उस सुन्दरता के प्रति आशक्ति के बिना ऐसा करना चाहिए। हालॉकि बुद्ध अस्तित्व के एक भाग के रूप में सुन्दता को खारिज करते थे, परन्तु उसका त्याग नही करते बल्कि बुद्ध ने अक्सर सुन्दता की बात की है। बुद्ध ने प्रबुद्ध जीवन के लिए एक प्रोत्साहन के रूप में सुन्दरता की मान्यता का समर्थन किया। बौद्ध कला में बुद्ध को कभी भी मानवकार में नहीं दर्शाया गया क्योंकि उनकी आध्यात्मिकता इसके लिए अत्यंत निराकार समझी जाती थी। बौद्ध धर्म को मानने वाले मुक्ति पाने के लिए हीनयान मार्ग का अनुसरण करते थे। भारतीय कला में बुद्ध का अस्तित्व बोधि वृक्ष जिसके नीचे उन्हे मोक्ष प्राप्त हुआ, न्याय चक्र, उसके पद चिह्न, शाही छत्र, स्तूप तथा खाली सिंहासन इत्यादि प्रतीकों द्वारा दर्शाया जाता है। बौद्ध धर्म मानता है कि सभी प्राणी एक संपूर्ण का हिस्सा है और संपूर्ण सुन्दर है। सौन्दर्य बिना किसी विशिष्ट रूप के होता है और वास्तव में इसे निराकार कहा जाता है। सभी प्राणी अपने आप में जुड़े हुए हैं। सभी प्राणियो में आंतरिक सुन्दता होती है। जब बुद्ध को कला में चित्रित किया जाना शुरू हुआ तो उसमें रूप,आदर्श, भौतिक अनुपात और एक हल्की मुस्कान, शांत चेहरा, अनंत प्रकाश आदि निर्वाण तक पहुँच गये, एक महान सुन्दरता परिलक्षित हुई।

कमल का फूल बौद्ध धर्म में एक विशेष अर्थ रखता है। यह एक महान सुन्दरता रखता है कि कमल झील के तल पर कीचड से उगता है फिर भी वह बेदाग फूल के रूप में खिलता है, जो अपनी जगमगाती पंखुड़ियो को सुरज की ओर फैलाता है। इस प्रकार कमल मानव चेतन के आध्यात्मिक फूलने की संभावना का प्रतीक है जो अज्ञानता से निर्वाण की ओर बढ़ रहा है। वह अपनी मधुर सुगंध और सुन्दरता से हृदय को आनंदित करता है। सभी प्राणी आपस में जुड़े हुए हैं, सभी प्राणियों मे आंतरिक सुन्दरता होती है

ईसाई धर्म में सौन्दर्य

सौन्दर्यशास्त्र मानव अनुभव का आयाम है, जो प्रकृति से संबंधित है। सौन्दर्य अच्छाई का एक अनुभव है, जिसे ईश्वर, सृष्टि, विश्वास, सत्य, सद्भाव या अन्य धारणाओं से जोड़ा जा सकता है। ईसाई धर्म में सौन्दर्य के दो पहलु हैं, पहला तो सभी मनुष्य भगवान द्वारा और भगवान की छवि में बनाए जाने के कारण सुन्दर

है। दूसरा कि सुन्दरता अन्य मनुष्यों के साथ मानवीय संबंधों में व्यक्त की जाती है। मनुष्य को तब अच्छा माना जाता है, जब वह स्वार्थ से ऊपर उठकर दूसरे मनुष्यों के प्रति परोपकार का भाव रखता है। दान देना, नैतिकता, कमजोरो की मदद करना आदि। जो एक मनुष्य को सुंदर बनाता है।

जैन धर्म में सौन्दर्य

यह धर्म अपनी धार्मिक पंरपराओ और अदभूत वस्तुकला के लिए पूरे विश्व में विख्यात है। सभी के प्रति अहिंसा और प्रेम की भावना रखना इस धर्म के मुख्य उपदेशों में निहित है। इसी से आप कला की परिभाषा जो 'सत्यं शिवं सुन्दरं' से की जाती है अर्थात जो सत्य है, कल्याणकर है और सुन्दर है वही कला है, वह जैन कला में सुघटित है। क्योंकि जैन धर्म से चित्रकला, मुर्तिकला और स्थापत्यकला सुन्दर होने के साथ ही साथ कल्याणकर भी है और सत्य का दर्शन करती है। जैन धर्म के सभी मंदिरों में प्रसिद्ध वस्तुकला, चित्रकारी और मूर्तिकला की सुन्दर झलक स्पष्ट देखी जा सकती है। मंदिरो की दिवारों पर देवी–देवताओं की मूर्तियों की नक्काशी को देख कर मन में जो आनंद की अनुभूति होती है, जिसमें इस धर्म की मंत्रमुग्ध कर देने वाली वस्तुकला को साक्षात् देखा जा सकता है।

सभी धर्मों का उद्देश्य एक ही है, इसे ही सत्य, चित और आनंद कहते हैं अर्थात् सच्चिदानन्द। और यही भारतीय धर्म के दर्शन का सौंदर्य है। इसे प्राप्त कर मनुष्य उस आनन्द की अनुभूति को प्राप्त कर लेता है जो सभी भावनाओं से मुक्त है, सभी धर्मों में बाह्य सौन्दर्य और आत्मगत सौन्दर्य को श्रेष्ठ माना है। यह सौन्दर्य ही वह सत्य है जिसकी खोज प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक जड़ चेतना को है और यह सत्य ही सभी धर्मों का निचोड़ है।

संदर्भ

1. सौन्दर्यशास्त्र, डॉ० ममता चतुर्वेदी, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, पृ.–3
2. शिव के सात रहस्य, देवदत्त पट्टनायक, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, पृ०–21
3. सौंदर्य का स्वरूप : साहू, अमिय, भारतीय और पाश्चात्य मतों का अध्ययन, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एडवांस एजुकेशन रिसर्च
4. http://what-when-how.com
5. http://levergeedu.com
6. http://what-how.com
7. http://www.thehindu.com

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

सूफी दर्शन में स्त्री विमर्श

शहजादी खातून *

प्रकृति ने सृष्टि चक्र को चलाने के लिए नर और मादा की रचना की। मनुष्य जाति के लिए स्त्री और पुरुष को उत्पन्न किया और उन्हें कई विलक्षण मनो–दैहिक विशिष्टताएं प्रदान की। फिर मनुष्यों ने अपना समाज बनाया। समाज को चलाने के लिए विवाह जैसी संस्था विकसित की, श्रम विभाजन किया, नियम एवं मर्यादाए स्थापित की। नियम और मर्यादाओं के तोड़े जाने की स्थिति में दंड का प्रावधान किया। समाज को नई दिशा, विकास की नई गति प्रदान करने के लिए तप और चिंतन की सुदीर्घ परम्परा विकसित हुई जिसने मानव जाति और समाज की मौलिक अवधारणा में कई दूरगामी परिणाम उत्पन्न किए। हमारी समझ विकसित हुई, मानवीय संबंधों को नया आयाम मिला और मानवीय भाव–संवेदनाएँ प्रौढ़ता के साथ प्रगट होती रही। इस्लाम में यह मौन क्रान्ति सूफीवाद के रुप में प्रगट हुई। जिसने सांस्कृतिक पुर्नजागरण की पूर्वपीठिका तैयार की। मानवीय विकास और परिवर्तन की यह धारा रूप बदलकर अविच्छिन्न रूप से आज भी प्रवाहमान है। सभ्यता के विकास के साथ एक अजब सी प्रवृति प्रगट हुई। पुरुष शारीरिक सबलता और गर्भधारण आदि प्राकृतिक व्यवस्थाओं से मुक्त होने के कारण संसाधन और शक्ति का स्वामी बन गया, वह सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र बन गया और स्त्रियाँ उपेक्षित होते–होते परिधि पर आ गई। फिर इस विषम विकास की अंधी दौड़ शुरू हो गई। प्राकृतिक रुप से समान और स्वतंत्रता की अधिकारिणी स्त्री वंचिता और शोषिता बन गई और पुरूष उसका स्वामी–बन हुकूमत करने लगा। सांसारिक प्रेम से ईश्वरीय प्रेम की आध्यात्मिक अन्तर्यात्रा के क्रम में सूफी दर्शन ने इन सामाजिक विषमताओं, लिंगभेद की विसंगतियों को तोड़ने का कार्य किया। मानवीय संवेदनाओं को छुद्र स्वार्थ से

** शोध छात्रा, दर्शनशास्त्र विभाग, बी.आर.ए.बी.यू., मुजफ्फरपुर*

बाहर निकाल कर दिव्यता प्रदान की, और समतामूलक समाज की आधारशिला रखी। यह शोध–पत्र नारी मुक्ति और नारी की सामाजिक समानता में सूफी दर्शन की अवदान को रेखांकित करने का प्रयास है।

सूफी दर्शन में स्त्री को ईश्वर का प्रतिनिधित्व माना गया है। यही कारण है कि स्त्री को सूफी साहित्य में विशेष सम्मान दिया गया है। तात्विक अर्थ में स्त्री से प्रेम ईश्वर से प्रेम करना है। सूफी साहित्य में स्त्रियों के दो रूपों की चर्चा की गई है–पहला पत्नी का और दूसरा प्रेमिका का। सूफी साहित्य में पतिव्रता स्त्री की सराहना की गई है, किन्तु पुरुष के बहुविवाह पर वे चुप्पी साधे रहे। इसका कारण यह है कि कोई भी साहित्य या दर्शन देश–काल निरपेक्ष नहीं हो सकता। उनकी यह चुप्पी युग की विवशता या समय और परिस्थिति की मांग भी हो सकती हैं। किन्तु मध्यकालीन स्त्री की पीड़ा का दर्द उनके अन्दर कही–न–कहीं पनप रहा था।

भारतीय समाज में स्त्री के अनेक रूप मिलते है जैसे पत्नी, माँ, बहन, बेटी, प्रेमिका आदि। स्त्री के ये भिन्न रूप पितृसत्ता मूलक समाज की देन है। पितृसत्तात्मक समाज में नारी को इन बंधनों में जकड़ कर उसकी स्वाधीनताओं पर अवरोध करता है। उसे काल्पनिक पत्नी, माँ, बहन, बेटी बनने पर विवश किया जाता है। नारी को बाल्यवस्था से ही नारीत्वपूर्ण व्यवहार समझाए जाते है और उससे वैसा बर्ताव करने को मजबूर किया जाता है।

मलिक मुहम्मद जायसी कहते हैं–

''ए रानी! मनु देखु बिचारी।
एहि नैहर रहना दिन चारी''।[1]

हे रानी अपने मन में विचार करके देखो, यहाँ पिता के घर चार दिन ही रहना है।

यह सभी ढोंग नारी को अपने वश में रखने के लिए किया जाता है जबकि पुरुष को यह पता है कि स्वतंत्र नारी अपने अधिकार के लिए अनुरोध कर सकती है। मध्यकालीन स्त्री दास्तां में बेटी को पराया धन माना जाता है। भारतीय समाज में नारी को निरंतर कष्ट की अभिव्यक्ति खुसरो के इस पंक्ति द्वारा अनुभव किया जा सकता है।

''हम तो बाबुल तेरे खेतों कि चिड़ियां,
चुग्गा चुगत उडि जाऊं।।''[2]

भारतीय समाज में विवाह प्रबंध को बनाए रखने के लिए नारी अपना सब कुछ पीछे छोड़ देती है। अपने माता– पिता को छोड़ अनजान पुरुष के परिवार

के साथ नए सम्बंधों को स्वीकारना होता है। विवाह के बाद नारी की स्वाधीनता एक पल में छिन जाती है और वह बेटी से बहु के रूप में परिवार का स्वाभिमान बनाए रखने की विवशता में जीवन भर लगी रहती है। ससुराल में उसे संयम और प्रतिष्ठा के साथ रहने की आदेश दी जाती है। सूफी साहित्य में विवाह के विधि किए जाने वाले लोकव्यवहार का विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। विवाह प्रबंध के बाद नारी जीवन पूरी तरह से रूपान्तर हो जाता है।

भारतीय सूफी प्रेमाख्यान पद्धति में मुल्ला दाऊद, जायसी, मंझन, और कुतुबन आदि ने ईश्वर की परिकल्पना नारी रूप में की है। प्रेम का मूल स्रोत अलंकार रस है और उसकी इस नश्वर संसार, संसार की समृद्धि, सुख और सांसारिक संबंधों के प्रति पूर्ण उदासीनता का भाव सूफी संतों के जीवन में सहज परिलक्षित होते हैं। अपने प्रिय परमात्मा के संबंध के अतिरिक्त और कोई भी संबंध उन्हें स्वीकार नहीं है। भक्त कवि तुलसीदास का निम्न भाव सूफी संत के जीवन में प्रतिविम्बित होते हैं।

''नाते नेह राम के मनियत, सहज सुसेव्य जहाँ लो।
अंजन कहा आँख जो हि फूटे वहुतक कहीं कहाँ लौ।[3]

अभिव्यंजना के लिए नारी जैसा सशक्त कोई दूसरा नही हो सकता। आध्यात्मिकता के साथ नारियों के अनकही तथ्यों को शब्द देने की नेतृत्व सूफी कवियों ने की है। जो मध्यकालीन साहित्य का मूल स्वर हैं। प्रेम मे तन और मन को एकीकृत करने का सुन्दर रूपक सूफी कवि खुसरो का साहित्य इसका सशक्त उदाहरण है। सभी सूफी संतो ने नारी को यह प्रतिष्ठित स्थान दिया है कि प्रेम की पवित्रता और आलोकता ईश्वरीय प्रेम का रूप है। डॉ. राजकुमार वर्मा के अनुसारः–सूफी मत में ईश्वर की भावना नारी रूप में की गयी है। ईश्वर एक परमात्मा स्त्री के रूप में उसके सामने प्रत्यक्ष प्रकट होता है। इस तरह सूफीमत में ईश्वर स्त्री और भक्त पुरुष है। जायसी का मानना है कि लौकिक प्रेम के द्वारा लोकोत्तर प्रेम को पाया जा सकता है। प्रेमी के मन में प्रिय के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए स्वपन दर्शन, प्रतिरूप दर्शन, या सौंदर्य कीर्ति का आश्रय लिया जाता है। और प्रेमी प्रिय को पाने के लिए सर्वस्व त्यागकर अवरोध को पार करता हुआ आखिर में उसे पा लेता है। जायसी कहते हैं– प्रेम के इस गोरस सागर को जो प्राप्त कर लेता है, वह देह को त्यागकर शुद्ध आत्मा स्वरूप हो जाता है।

'सूफी' वह कहती है जो ऐसी नसीहत (उपदेश) दे जिसपर वह खुद अम्ल (आचरण) कर चुका हो, वह उपनिषदों के ऋषि की तरह अनुभूत ज्ञान का प्रचार करता है वह शख्स हर्गिज खुदा का दोस्त नही जो उसके दिए हुए दर्द से रंज माने।[4] सूफी तो प्रेम का समन्दर है। प्रेमी की एक ही इच्छा रहती है कि प्रेम मार्ग

पर अग्रसर होने के पश्चात उसकी अडिगता में न्यूनता न आ जाए। सूफीमत का मानना है कि जो इस पथ को पार कर लेता है उसके दोनो लोक संवर जाते हैं। इस पथ में पीड़ा तब तक है जब तक कि प्रियतम से मिलन न हो जाए। प्रियतम में ईश्वर का वास होने के कारण प्रियतम से प्रेम का अर्थ है ''ईश्वर के प्रति प्रेम। ईश्वर स्वंय प्रेम है। सृष्टि की रचना का कारण भी प्रेम ही है। प्रेम के महास्रोत में, जो पूर्ण सौन्दर्य और सर्वोत्तम भी है, प्रेम ही सूफियों का धर्म है।[5] सूफियों का परम लक्ष्य प्रिय मिलन है किन्तु वे 'विरह' को प्रिय मिलन का एक आवश्यक सोपान मानते हैं। विरह के कारण ही प्रेमी के हृदय में अपने प्रिय के प्रति सदैव उत्कण्ठा बनी रहती है। सूफियों भाषा में उसे 'शौक' कहा जाता है। विरह में प्रेमी सदैव प्रिय के लिए तड़पता रहता है। प्रिय के सिवा उसके विरह का कोई दूसरा इलाज नही होता। आध्यात्मिक वेदना के क्षणों में ''राबिया'' ने कहा है–''मेरे रोग का निराकरण तब होगा जब प्रिय से मिलन होगा।[6]

सूफी ही ऐसा धर्म है जहाँ महिला संतो ने भी पुरूषों के समान स्थान पाया है सूफी संत में भी ऐसी अनेकों संत है जो महिला सूफी संत है। जिनमें कुछ महिला सूफी संत को इस आलेख में व्याख्या की गई है, जिसमें इनका नाम है– राबिया–अल–बसरी, हजरत खदिजा–बिन्त–खुवयलद, हजरत आईशा–बिन्त–अबु बक्र रजी, हजरत फातिमा–बिन्त–रसूल, और हजरत मरियम है।

राबिया बसरी

राबिया अल–अदविया अल कैसिया एक सूफी संत हजरत बीवी राबिया बसरी के नाम से (714–718 ई.) प्रसिद्ध थी। इराक के बसरा में 718 ई. में इस्माइल की चौथी बेटी के रूप में राबिया का जन्म हुआ। गरीब परिवार में जन्मी राबिया को लपेटने के लिए माता–पिता के पास कपड़ा न था। माता–पिता के साथ बचपन से ही बस खुदा की इबादत में रहती पर 11 वर्ष की उम्र में ही माता–पिता का सहारा छिन गया। राबिया के बचपन के बारे में कोई खास जानकारी नहीं मिलती है। छोटी उम्र में ही माता–पिता का देहांत हो गया। फिर अकाल की चपेट में तीनो बहने जुदा हो गई। वह अकेली पड़ जाने के कारण कभी भूखी रहती, तो कभी रुखा–सूखा खाती किन्तु आन्तरिक साधना का अभ्यास शुरू से ही करती थी। यह भी ज्ञात नही कि हजरत हसन बसरी जैसे कामिल दरवेश के सम्पर्क में वह कब आई ? इस तरह के संकेत मिलता है कि हजरत ही रबिया के मुर्शीद थे।

उसका सांसारिक जीवन जख्मों से ग्रस्त था। गुलामी का व्यापार करने वाले एक क्रुर आदमी ने उसे पकड़ कर गुलाम की तरह बेच दिया उसका मालिक उससे बहुत ज्यादा काम कराता था फिर भी वह चुप रहती थी। दिन में वह रोजा

रखती थी और रात के समय में वह ''इबादत करती थी। एक बार उस आदमी की नींद टुटी तो उसने अंधेरे कमरे में प्रकाश देखा। प्रकाश में उसे ध्यान मग्न राबिया नजर आई। वह समझ गया की यह तो कोई संत स्त्री है। दूसरे दिन ही हाथ जोड़कर माफी मांगते हुए बोला कि अब तुम स्वतंत्र हो कहीं भी चली जाओ और चाहो तो यही ठहर कर अपनी सेवा का मौका दो। किन्तु वह चली गई।[7]

सूफी धारा में 'राबिया' को नारी सूफी संत का स्थान दिया गया है। वह कभी किसी से सहायता नही मांगी, कष्ट कैसा भी हो स्वयं ही सहन किया करती थी। अपने प्रिय प्रभु के प्रेम की एक निष्ठ प्यास लिए राबिया कहती है।

- मेरे सीने के अन्दर ऐसी बीमारी है जिसका इलाज कोई हकीम नही कर सकता। प्रभु मिलन ही उसकी एकमात्र औषधि हैं कयामत के दिन शायद मेरी दर्दमंदी पर रहम आए।[8] ''दोजख तू अपने दुश्मनों को दे, इबादत अपने दोस्तों को, मेरे लिए तो तू ही है बस''।[9]
- नेमते दुनियां (सांसारिक सुख) और प्रभु का गम दोनों का गुजर एक दिल में मुमकिन नहीं। भक्त कवि कबीर भी उसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि "जहाँ काम तहाँ नाम नहीं। जहाँ नाम नही वहाँ काम"।[10]

राबिया कहती है कि ईश्वरीय मुहब्बत अजल (अनादिकाल) से अबद (अनंत काल) तक गुजरी, पर कोई ऐसा न मिला जो उसका एक घूंट पीता। आखिर वासिले हक हुई और वहाँ से आवाज आई ''हम उनको दोस्त रखते है और वह हमको दोस्त रखते हैं।"[11] यहाँ भाव यह है कि जिनके दिल में सिर्फ ईश्वर की भक्ति होती है वह ईश्वर के मित्र होते हैं और ईश्वर उनके मित्र।''

उस काल के अन्य सूफी साधकों के समान रबिया ने भी फकीरी जीवन पर जोर दिया। गुनाहों के लिए पश्चाताप की भावना को परमात्मा की देन समझती थी। परमात्मा के प्रति उसका प्रेम परमात्मा को पाने के लिए ही था। उसी प्रकार एक बार किसी ने रबिया से पूछा की क्या वह परमात्मा से प्रेम करती है? उसने स्वीकार किया करती हूँ। लेकिन जब उससे पुछा गया की तब तुम शैतान से अवश्य घृणा करती होगी। उसने जवाब दिया कि परमात्मा के प्रेम ने उसके हृदय में शैतान से घृणा करने के लिए स्थान ही नहीं छोड़ा है।[12] अपने परम प्रिय परमात्मा के अलावे किसी भी अन्य सत्ता की अस्वीकृति प्रेम की एकनिष्ठता का परिचायक है, जिसके बिना खुदा की प्राप्ति नही हो सकती। यही भाव राबिया के कथन से स्पष्ट होता है। प्रेम एक अंतहीन यात्रा है। 'जू उल नून' ने किसी औरत से मुहब्बत की चर्चा करते हुए पूछा–''मुहब्बत की इन्तिहा (हद) क्या है?

वह बोली मुहब्बत की इन्तिहा नहीं, क्योंकि दोस्ती की कोई इन्तिहा नही। ईश्वर अनंत है इसलिए उसके प्रति प्रेम भी अनंत है।[13]

हजरत मरियम

हजरत मरियम–बिन्त–इमरान नबी इसराइल के एक शरीफ घराने में पैदा हुई।कुरान में बारह जगह उनका नाम आया है और उनके नाम से एक मुकम्मल सुरह अल्लाह ने नाजिल फरमाई है। उनके पिता हजरत इमरान बैतुलमुकद्दस के ईमाम (गुरू) थे। हजरत अलैहिस्सलाम बचपन ही से बड़ी नेक सिरत थी। अल्लाह ने उस वक्त तमाम औरतों पर उन्हे फजलियत अता फरमाई थी। जन्म के बाद उनकी माँ ने अपनी मन्नत के मुताबिक उनके खालु हजरत जकरिया सलल्लाहु अलैही वसल्लम की किफालत में बैतुलमुकद्दश की ईबादत के लिए वकफ कर दिया और ऊँची जगह पर एक कमरा उनकी ईबादत के लिए खास कर दिया। वह हर वक्त ईबादत और जिक्र इलाही में मसरूफ (मग्न) रहती। अल्लाह ने गैबी तौर पर बगैर मौसम के उमदह फलों के जरिये उनकी नश्व–ओ–नुमा और परवरिश फरमाई। जब हजरत मरियम अलैहिस्सलाम बड़ी हो गई तो अल्लाह ने फरिश्ते (दूतों) के जरिए बसारत दी कि तुम्हें एक बेटा अता (दिया) किया जाएगा, जिसका नाम ''ईशा'' होगा वह दुनिया व आखरत में बुलंद मरतबे वाला होगा और बचपन में ही लोगों से बात करके आप की पाक दामन की शहादत देगा।[14]

हजरत खदिजा अलैही वसल्लम–बिन्त–खुवैलद

हजरत खदिजा अलैही वसल्लम–बिन्त– खुवैलद बड़ी बाकमाल और नेक सिरत खातून थी। उनका ताल्लुक कुरैश के माजिज खानदान से था, वह खुद भी बाअसर और कामयाब तिजारत की मालिक थी। उनकी पहली शादी अबुहाला से हुई जिन से दो लड़के पैदा हुए, उनके इन्तकाल के बाद दुसरी शादी अतीक बिन आयद मखदुमी से हुई। उनसे एक लड़की पैदा हुई, कुछ दिनो के बाद अतीक की भी वफात (मौत) हो गई– हजरत खदिजा सलल्लाहु अलैही वसल्लम की शराफत (ईमानदारी) 'व मालदारी की वजह से बहुत से सरदारी कुरैश ने उनसे निकाह करने की ख्वाहिश (ईच्छा) का इजहार किया, मगर वह इन्कार करती रही जब उन्होंने हुजुर सलल्लाहु अलैही वसल्लम की अमानत व सच्चाई की शोहरत सुनी तो उनसे निकाह की रगबत (चाहत) पैदा हुई। जब आप सलल्लाहु अलैही वसल्लम सफर से वापस तशरिफ लाएं तो हजरत खदिजा सलल्लाहु अलैही वसल्लम ने तिजारत में बरकत और आप सलल्लाहु अलैही वसल्लम कि अमानत व एखलाक में मोतासिर होकर खुद निकाह (शादी) का पैगाम भेजा। हालांकि उससे पहले वह कुरैश के बडे–बड़े सरदारो के पैगाम को ठुकरा चुकी थीं। हुजुर

सलल्लाहु अलैही वसल्लम इस पैगाम का तजकिरह कर अपने चाचा अबूतालिब से किया, जिसको उन्होंने बखुश कबुल कर लिया और अबुतालिब बनी हाशीम और मुज्र के सरदार को लेकर हजरत सलल्लाहु अलैही वसल्लम के मकान पर गए। अबुतालिब ने विवाह का खुतवा पढा। इस वक्त हजरत खदिजा की उम्र चालीस साल और हजरत रसूल अल्लाह सलल्लाहु अलैही वसल्लम की उम्र सिर्फ पचीस साल थी। हजरत खदिजा सलल्लाहु अलैही वसल्लम आखरी वक्त तक हुजुर सलल्लाहु अलैही वसल्लम को जान निशार और गमखवार बीवी रही है।[15]

हजरत फातिमा सलल्लाहु अलैही वसल्लम

हजरत फातिमा सलल्लाहु अलैही वसल्लम रसूल अल्लाह सलल्लाहु अलैही वसल्लम की सबसे से छोटी साहबजादी और हजरत अली सलल्लाहु अलैही वसल्लम की पत्नि है। नबुअत से पाँच साल कब्ल बैतुल्लाह की तामिर के वक्त उनकी जन्म हुई। इस्लाम की खातिर मक्की दौर में तकलीफें बर्दास्त करती रही है, फिर हिजरत करके मदीना चली आई। सन् 2 हिजरी में हजरत अली सलल्लाहु अलैही वसल्लम से उनका निकाह हुआ। उनकी जिन्दगी औरतों के लिए एक नमूना है। हुजुर सलल्लाहु अलैही वसल्लम की चारों बेटियों में सबसे महबूब और चेहेति बेटी होने के बावजूद वह घर का सारा काम खुद अंजाम देती थी । चूंकि पसीने कि वजह से हाथ में छाले पड़ गये थे। घर मे कोई खादिमा नही थी। दुनियाँ की थोड़ी–सी चीज पर बखुश राजी रहतीं, और उस पर शबर करती थी। उसी वजह से हजुर सलल्लाहु अलैही वसल्लम ने औरतों से फरमाया तुम्हारे लिए दुनिया की तमाम औरतों में हजरत मरियम सलल्लाहु अलैही वसल्लम, खदिजा सलल्लाहु अलैही वसल्लम, फातिमा सलल्लाहु अलैही वसल्लम और आईशा की जिंदगीयां नमूनी उदाहरणों के लिए काफी है। सच्चाई और साफ गोई में हजरत फातिमा सलल्लाहु अलैही वसल्लम बेमिशाल थी। तीन रमजान सन् 11 हिजरी में हजुर सलल्लाहु अलैही वसल्लम की वफात के छः माह बाद मनव्वर में इनका इन्तकाल हुआ और जन्नत अलबकिअ में इनकी दफन हुई।[16]

हजरत आईशा–बिन्त–अबुबक्र सलल्लाहु अलैही वसल्लम

हजरत आईशा–बिन्त–अबुबक्र सिद्दीक सलल्लाहु अलैही वसल्लम इल्म व फजल, एखलाक व किरदार, जराअत व हिम्मत और होसला मन्दी में मिशाल थी। हक बात किसी कि परवाह के बगैर बेखौफ होकर कह दिया करती थी। उनकी जन्म नबुअत के चौथे साल मक्का मकरमा में हुई। बचपन से ही बेहद जहीन और अकलमन्द थी। तकसीम कर दिया। इसके साथ ही अल्लाह कि इबादत, हुजुर सलल्लाहु अलैही वसल्लम कि सुन्नत कि पैरवी और शरीअत के एक एक हुकूम पर बड़े एहतमाम से अमल किया करती थी। नमाज तहज्जुद व चाश्त की बहुत

पावंद थी और अकसर रोजे रखा करती थी। शरीअत के खिलाफ छोटी छोटी बातों से भी परहेज करती थी। हजरत आईशा सलल्लाहु अलैही वसल्लम का इल्मी मकाम व मरतबह बहुत बुलन्द था। चन्द शहाबा को छोड़कर तमाम मर्दों और औरतों पर उन्हें फौकियत हासिल थी। वह बेवक्त कुरान करीम की हाफिजे तफसीर व हदीस की माहिर व मुश्किल मसाईल को हल करने में बेमिशाल जेहानत कि मालिक थी। बड़े बड़े शहाबा उन से शरिअत के अहकाम व मसाइल मालुम करते थे। हजरत अबु मुसा असरी का बयान है कि जब भी हमलोगों के सामने कोई मुश्किल मश्ला पेश आता, तो इसका हल हजरत आईशा सलल्लाहु अलैही वसल्लम से मालुम करते, और फौरन उसका हल बता दिया करती थी। इमाम जहरी फरमाते है कि अगर तुम मर्दों और अमहात अलमोमिनिन का ईल्म जमा किया जाए तो हजरत आईशा सलल्लाहु अलैही वसल्लम का ईल्म उन सब से ज्यादा वसीअ होगा। कहा जाता है कि दिन का चौथाई हिस्सा उन्हीं से मुतालिक है। उन्होंने दीन इस्लाम और शरीअत के अहकाम को फैलाना और हुजुर सलल्लाहु अलैही वसल्लम की तालिमात को आम करना अपनी जिन्दगी का मकसद बना लिया था। सन् 58 हिजरी में मदीना में इन्तकाल फरमाया और रात के वक्त जन्नत अलबकिअ में दफन हुई।[17]

सूफी दर्शन के विकास में विभिन्न नारी संतों के अवदान की चर्चा करने के उपरान्त सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सूफी दर्शन वस्तुतः एक जीवन पद्धति है। सांसारिक व्यवस्था और दुनियावी सुखों से एकदम अलग ईश्वर को पाने की अतृप्त प्यास, ईश्वर के प्रति एकांतिक निष्ठा, ईश्वर के अतिरिक अन्य सभी संबंधों की अस्वीकृति और अंततः अपने प्यारे में लीन हो जाने में सूफी दर्शन चरमोत्कर्ष को प्राप्त होता है और इस रूप में स्त्री सूफी संतों का पुरुष संतों की भाँति समान योगदान रहा हैं। साथ ही समाज में उनकी स्वीकृति रूतबा और समादर में भी कोई कमी नहीं है।

जहाँ तक सामान्य स्त्री की समाज में दोयम दर्जे उनके शोषण और बराबरी के हक का सवाल है तो उस सन्दर्भ में सूफी दर्शन ने शोषण मूलक सामाजिक व्यवस्था पर कोई सीधा प्रहार नहीं किया है। जैसा कि कबीर, जैसे संत कवियों के चिंतन पद्धति में दिखाई पड़ता है। ईश्वरीय प्रेम में स्वयं को खाक कर देने एवं वासिले हक की प्राप्ति की एकमात्र तमन्ना रखने वाले सूफी संतों चाहे वे स्त्री संत हो या पुरुष सामाजिक व्यवस्था में सुधार का सीधा उद्देश्य कभी नहीं रहा। पर ईश्वरीय प्रेम में पगे व्यक्ति के जीवन में सभी प्रकार के भेदभाव और शोषण का अंत स्वतः हो जाता है और इस गहनतम की लक्ष्य की दृष्टि से अगर देखें तो सूफी दर्शन ने प्रत्यक्ष स्तर पर न सही पर परोक्ष रूप से नारी जाति को समस्त

शोषण और सामाजिक भेदभाव से मुक्त पाने की दिशा में एक आवश्यक दार्शनिक एवं आध्यात्मिक आधार अवस्था प्रदान किया।

मध्यकालीन इतिहास के गहराई में दबिश नारी सूफी संतो की खोज के साथ सूफी साहित्य में बिखरे तत्कालीन नारी जीवन के वास्तविक सच्चाई को गहराई से अध्ययन की आवश्यक है। उनकी रचनाओं में नारी तत्कालीन समाज मे स्त्री द्वेष की झलक देखी जा सकती है।

संदर्भ

1. मानसरोवर खण्ड, भाग 1
2. अमीर खुसरों की रचना, काहे को ब्याहे बिदेश
3. तुलसी दास कवितावली
4. जू–उल–नून मिस्त्री, पृ. – 99,
5. विभा ठाकुर, लेखिका कालिंदी कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) हिन्दी विभाग में सहायक प्रोफेसर, 14 मई 2021
6. मार्गरेट स्मिथ, राबिया दि मस्टिक, पृ. 120,
7. शिव शर्मा, सूफी संत और उनकी कथाएं, अतिन प्रकाशन, शास्त्री नगर, अजमेर 305001 (राज), संस्करण –2017 ISBN–81–89431–35–8, पृ. 148, 149
8. सूफी संत चरितः सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1996, पृ. 19–20
9. वही
10. कबीर वचनावली, पृ. 32
11. वहीं
12. डॉ. शमा खान, भारतीय संस्कृति में भक्ति काल और सूफी दर्शन प्रथम संस्करण–अक्टूबर 2000, पृ. 112,113
13. सूफी संत चरितः सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1996, पृ. 46
14. अहम चेरीटेबल ट्रस्ट–सिर्फ पांच मिनट का मदरसा (कुरान व हदीस की रोशनी में) सातवां संस्करण–सन् 1432 ई. के मुताबिक सितम्बर 2011, पृ. 129
15. वही, पृ. 559, 183
16. वही, पृ. 611
17. वही, पृ. 129

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

भारत का आदर्श : विवेकानंद की दृष्टि में

सौरभ कुमार चौहान *

रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है कि ''अभिनव भारत को जो कुछ कहना था वह विवेकानन्द के मुख से उद्‌गीर्ण हुआ। अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पष्ट संकेत विवेकानन्द ने दिया। विवेकानन्द वह सेतु हैं, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र हैं, जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अंतराष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान, सबके सब समाहित होते हैं। रवीन्द्रनाथ ने कहा है, 'यदि काई भारत को समझना चाहता है, तो उसे विवेकानन्द को पढ़ना चाहिए।'' महर्षि अरविंद का वचन है कि 'पश्चिमी जगत में विवेकानन्द को जो सफलता मिली, वही इस बात का प्रमाण है कि भारत केवल मृत्यु से बचने को नहीं जगा है, वरन वह विश्व विजय करके दम लेगा।''

भारत क्या है ? : 'भारत' एक संस्कृत शब्द है। या दो शब्दों के योग से बना है– 'भा' एवं 'रत' 'भा' का अर्थ है, प्रकाश और रत का अर्थ है, निरन्तर अर्थात् निरन्तर आलोक (प्रकाश) करने वाले का नाम ही भारत है। भारत का नाम भारत इसलिए पड़ा कि यहाँ की विलक्षण संस्कृति ने समग्र विश्व को निरन्तर आलोकित किया है। यह वही भारत है, जिसकी भूमि पर संसार के सर्वश्रेष्ठ ऋषियों की चरणरज पड़ चुकी है। यहीं सबसे पहले मनुष्य–प्रकृति तथा अन्तर्जगत् के रहस्योद्‌घाटन की जिज्ञासाओं के अंकुर उगे थे। आत्मा का अमरत्व अन्तर्यामी ईश्वर एवं जगतप्रपंच तथा मनुष्य के भीतर सर्वव्यापी परमात्मा–विषयक मतवादों का पहले पहल यहीं उद्‌भव हुआ था और यहीं धर्म और दर्शन के आदर्शों ने अपनी चरम उन्नति प्राप्त की थी।

** शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, बी. एन. मंडल विश्वविद्यालय, मधेपुरा (बिहार)*

भारत सिर्फ एक राष्ट्र या संस्कृति या एक विचार भर नहीं है, बल्कि यह एक भावना है, एक दृष्टि एवं एक अनुभूति है। भारत एक सनातन यात्रा है। स्वामी विवेकानंद ने अपने विचारों एवं कार्यों के जरिए इस यात्रा को आगे बढ़ाया है। उन्होंने धर्म एवं संस्कृति की दुहाई देकर भारतीयों में अपने स्वर्णिम अतीत के प्रति एक प्रेम जागृत कर दिया, उनमें स्वाभिमान की अग्नि प्रज्ज्वलित कर दी। विश्व के सम्मुख भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता की श्रेष्ठता और सर्वोपरिता की साहसी घोषणा करने से उन हिन्दुओं में नवीन प्रेरणा और शक्ति का संचार हुआ जो यूरोपीय संस्कृति एवं सभ्यता के सम्मुख अपने को हेय समझते थे। इससे भारतीयों के मन में आत्म– गौरव का एक सशक्त भाव उदित हुआ जिससे राष्ट्रीय पुनरूत्थान के मार्ग के प्रशस्त होने में निर्दिष्ट सहायता प्राप्त हुई।

विवेकानंद की दृष्टि में भारत एक राष्ट्र भारत एक सांस्कृतिक विरासत वाला पुराकालिक राष्ट्र है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। इसका आकलन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया गया है। इसे पुण्यभूमि, देवभूमि, स्वर्णभूमि, कर्मभूमि कहा गया है। 'भारत' महज एक भौगोलिक या राजनीतिक इकाई नहीं है, बल्कि यह एक वैचारिक एवं सांस्कृतिक इकाई है। यह हमारे समक्ष एक सभ्यता–संस्कृति एवं जीवन–दृष्टि संपन्न सामाजिक इकाई के रूप में उपस्थित होता है। भारतीय का अर्थ है – भारत से सम्बन्धित। भारतीयता से तात्पर्य उस विचार या भाव से है, जिसमें भारत से जुड़ने का बोध होता हो या भारतीय तत्वों की झलक हो या जो भारतीय संस्कृति से संबंधित हो। भारतीयता का प्रयोग राष्ट्रीयता को व्यक्त करने के लिए भी होता है। भारतीयता के अनिवार्य तत्व हैं – भारतीय भूमि, जन, संप्रभुता, भाषा एवं संस्कृति। इसके अतिरिक्त अंतःकरण की शुचिता (आन्तरिक व बाह्य शुचिता) तथा सतत सात्विकता पूर्ण आनन्दमयता भी भारतीयता के अनिवार्य तत्व हैं। भारतीय जीवन मूल्यों से निष्ठापूर्वक जीना तथा उनकी सतत रक्षा ही सच्ची भारतीयता की कसौटी है। संयम, अनाक्रमण, सहिष्णुता, त्याग, औदार्य (उदारता), रचनात्मकता, सह–अस्तित्व, बन्धुत्व आदि प्रमुख भारतीय जीवन मूल्य हैं। भारतीय संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि यहां अनेक जातियां, खान–पान, वेश–भूषा, भाषा, प्रांत होने के बावजूद भी राष्ट्र के नाम पर एकता है। हमारी राष्ट्रीयता में केवल राजनीतिक निष्ठा ही शामिल नहीं होती, बल्कि देश की विरासत और उसकी संस्कृति के प्रति अनुशक्ति की भावना, आत्मगर्व की अनुभूति आदि भी शामिल है। राष्ट्रध्वज, राष्ट्रगीत, राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय वीरों, महापुरूषों, राष्ट्रीय नैतिकता तथा मूल्यों के प्रति सम्मान

की भावना भी राष्ट्रीयता का एक अंग है। यह राष्ट्रीयता बोध आदि काल से लेकर आज तक कायम है।

आधुनिक भारत के निर्माण में यद्यपि अनेक महापुरुषों का अकल्पनीय योगदान है, किंतु विवेकानंद इस माला के सुमेरु हैं। यह स्तुतिवाचक कथन नहीं अक्षरशः सत्य है कि स्वामी विवेकानंद आधुनिक भारत के "राष्ट्रपुरुष" हैं। वे एक ऐसे क्रांतिकारी संन्यासी हैं जिन्होंने भक्ति में ज्ञान को, ज्ञान में कर्म को, कर्म में अध्यात्म को, अध्यात्म में आधुनिकता को, आधुनिकता में भारतीयता को गूँथ कर राष्ट्र के पुनर्निर्माण की आधारशिला रखी। औपनिवेशवादी व सामंती अत्याचार के विरूद्ध अपनी आवाज उठाने के साथ–साथ भारत का एक सम्पन्न, मजबूत व स्वाधीन राष्ट्र के रूप में निर्माण करने को अपने जीवन का पुरुषार्थ बनाया। यदि स्वामी विवेकानेद को भारतीय नवजागरण का अग्रदूत कहा जाय, तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। उन्होंने सदियों की गुलामी में जकड़े भारतवासी को मुक्ति का रास्ता सुझाया। जन–जन के मन में भारतीय होने के गर्व का बोध कराया। उन्होंने मानव समाज को अन्याय, शोषण और कुरीतियों के खिलाफ उठ खड़े होने का साहस प्रदान किया और पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध में दिशाभ्रमित भारतीय नौजवानों के मन–मस्तिष्क में स्वदेश–प्रेम एवं हिन्दुत्व–जीवन दर्शन के प्रति अगाध विश्वास पैदा किया। अपनी विद्वतापूर्ण एवं तर्क आधारित भाषण से दुनिया भर के बुध्दिजीवियों के बीच भारत के प्रति एक जिज्ञासा पैदा की। भारत की एक अनोखे ढंग से व्याख्या की। उन्होंने भारतीय बौद्धिक क्रांति का सूत्रपात किया। विवेकानंद ने उद्घोष किया कि समस्त संसार हमारी मातृभूमि का ऋणी है। विवेकानंद ने अध्यात्म को अंधविश्वास एवं कालबाह्य हो चुके कर्मकांड से मुक्त कराया एवं हिन्दुत्व की युगानुकूल व्याख्या की तथा अध्यात्म को मानव के सर्वांगीण विकास का केन्द्र–बिन्दु बताया। अपनी दार्शनिक दृष्टि की तत्वमीमांसीय प्रस्थापनाओं को स्वाधीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना एवं राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण का वैचारिक–अस्त्र बनाकर उन्हें मूर्तरूप देने का साचेतन प्रयास किया।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण : उनका मत था कि धर्म भारत का हृदय तथा आत्मा है और यदि हमने अपनी आध्यात्मिकता का परित्याग कर दिया तो हमारी जाति नष्ट हो जायेगी। उन्होंने देशवासियों को चेतावनी दी, "याद रखना, यदि तुमने अपनी आध्यात्मिकता का परित्याग करके पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता के पीछे दौड़ना आरम्भ किया तो तीन पीढ़ियों में ही तुम्हारी जाति नष्ट हो जायेगी क्योकि राष्ट्र की उस रीढ़ की हड्डी ही टूट जायेगी जिसके ऊपर राष्ट्रीय भवन का निर्माण किया गया है। वह हिल उठेगी और फल होगा सर्वनाश।"

परमसत् ब्रह्म है, जो स्वरूपतः विशुद्ध चैतन्य, सच्चिदानन्द, अतीन्द्रिय, निरपेक्ष, कुटस्थ व शाश्वत सत्ता है जिसे नेति–नेति से ही जाना जा सकता है। नित्य, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, शुद्ध, बुद्ध, परमब्रह्म निराकार व अखण्ड है। सोऽहम् सोऽहम (मैं वही हूँ)''[1] ''निरपेक्ष ब्रह्म अविभाज्य व अनौपाधिक है। वस्तुतः भिन्नता का आधार तो हमारी भाषायी अभिव्यक्ति के ढंग, विशेषतः आलंकारिक एवं उपमाजन्य प्रयोगों के ढंग हैं जिनसे इनकी भिन्नताओं (ईश्वर, आत्मा, जीव, सृष्टि इत्यादि) की भ्रांति उत्पन्न होती है।"[2] हम अपने चतुर्दिक जो कुछ देखते हैं, वस्तुतः समस्त विश्व उसी एक पूर्ण का विकास है (एकमेवा द्वितीयम् अर्थात् केवल वही है) [3] "उसी की शक्ति से आकाश में विस्तार होता है, उसी की शक्ति से वायु का श्वांस है उसी की शक्ति से सूर्य चमकता है तथा उसी की शक्ति से सभी जीवित हैं। वही जगत का सत् है वही आत्म की आत्मा है।"[4] "उच्चतम से लेकर निम्नतम और दुष्टतम मनुष्य तक में, महानतम व्यक्तियों से लेकर हमारे पैरों के नीचे रेंगने वाले कीड़े तक में शुद्ध और पूर्ण अनन्त सदा मंगलमय आत्मा विद्यमान है। कीड़े में आत्मा अपनी शक्ति और शुद्धता का एक अणुतुल्य शुद्ध अंश ही व्यक्त कर रही है और महानतम मनुष्य में उनका सर्वाधिक। उनमें अन्तर मूलतत्व में नहीं होकर अभिव्यक्ति के परिणाम का है। सभी आत्माओं में वही शुद्ध और पूर्ण विशुद्ध आत्मा (ब्रह्म) विद्यमान है।"[5] विवेकानन्द ने इसके अत्यधिक महत्वपूर्ण व प्रगतिशील तत्वों को अलग कर इसे नये समाज के निर्माण का दार्शनिक आधार बनाया। "जहाँ सभी व्यक्ति उनमें विद्यमान सत्, रज और तम गुणों की उपस्थिति के आधार पर विशुद्ध चैतन्य से विकसित जीवमात्रा हैं। उनके समतामूलक समाज के निर्माण की पक्षधरता का आधार इसी 'अखिल विभु' की परिकल्पना थी, "मैं वह हूँ और तु वह है।"[6]

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (रेत के कण से ब्रह्माण्डीय पिण्डों तक, अमीबा से मनुष्य तक) समान सार्वभौमिक नियमों (कर्म–नियम) की क्रिया के विषय हैं। इस बुनियादी दार्शनिक समझ के अनुसार सामाजिक विकास व सामाजिक रूपान्तरण संबंधी उनकी सोच चक्रीक–सिद्धांत की पोषक थी। उनका विश्वास था कि "समाज चक्रीक रूप में बदलता व विकास करता है। एक उत्थान के बाद पतन है, दूसरे उत्थान के बाद फिर दूसरा पतन आता है इत्यादि। साथ ही उन्होंने स्वीकार किया कि प्रत्येक चक्र के साथ समाज वह जैसे हैं, उससे ऊपर उठते जाते हैं और पूर्ण होते हैं। राष्ट्रों का इतिहास भी इस प्रकार है : उनका उत्थान होता है और उनका पतन होता है; उत्थान के पश्चात् पतन आता है, फिर पतन के बाद

अधिक शक्ति के साथ उत्थान होता है, प्रत्येक राष्ट्र के आध्यात्मिक जीवन में पतन के साथ–साथ उत्थान है।"[7]

इस परिपेक्ष्य में विवेकानन्द की सम्पूर्ण सांस्कृतिक–दार्शनिक क्रांतिकारिता अपने मूल सामाजिक चरित्रा में अनैतिहासिक, गैर–वैज्ञानिक, सत्ता–निरपेक्ष, व्यवस्थापरक द्वंद्वों से इतर आदर्शवादी थी जिसके वैचारिक भ्रुण स्वयं उस युग में थे जिसके विवेकानन्द सर्वश्रेष्ठ प्रवक्ता थे। मनुष्य के वैचारिक जीवन का इतिहास दिखाता है कि किसी भी विचारक के विचार चाहे कितने ही तटस्थ व व्यवस्था–निरपेक्ष लगे किन्तु अपने समय व समाज के द्वंद्वों से प्रभावित व नालबद्ध होते हैं। भारतीय नवजागरण सामंतवाद से पूँजीवादी व्यवस्था और औपनिवेशक भारत से स्वाधीन राष्ट्र के रूप में निर्माण के संक्रमणकालीन दौर का औरस–पुत्र था जिसके प्रतिनिधि विचारक विवेकानन्द थे। इस युग के वैचारिक लक्षणों को दर्शाते हुए मॉरिस कॉनफोर्ड कहते हैं, ''उभरते पूँजीवाद को जिस नए आर्थिक एवं सामाजिक तंत्र की दरकार थी उसमें 'विज्ञान दर्शन' ही सहायक हो सकता था। विज्ञान की पक्षधरता का नारा पूँजीवादी की ऐतिहासिक बाध्यता और वैचारिक आवश्यकता दोनों थी। किन्तु अपने वर्ग स्वार्थों के चलते पूँजीवाद की हमेशा यह कोशिश रहती है कि विज्ञान दर्शन पीड़ित, शोषित और दमित जन की बौद्धिक शक्ति न बन जाये। सामंती अवशेषों का स्थायित्व न केवल सस्ता श्रम और कच्चा माल सुलभ कराने की गारंटी देता है बल्कि गैरबराबरी और भेदभावपूर्ण सामाजिक स्थितियों को चिरस्थायी सिद्ध करने के लिए बर्बरता के मनोविज्ञान को ऊर्वरा भूमि भी प्रदान करता है। इसलिए धर्म और परलोकवाद से जुड़े आदर्शवाद का सहारा लिया।''[8]

विवेकानन्द का दर्शन प्रबोधन में हुए आर्थिक और सामाजिक बदलावों की सांस्कृतिक प्रतिध्वनि था जो पूँजीवाद के 'विज्ञान' में हित एवं सामंतवाद के 'धर्म' में हित दोनों को प्रतिबिम्बत कर रहा था। विज्ञान की शब्दावली में धर्म का पुनरूत्थान कर अपने मूल चरित्र में दोनों के हितों का पोषण कर रहा था। पश्चिम के भौतिकवाद और पूर्व के आध्यात्मवाद के बीच ऐक्य में ही मानव जाति का कल्याण देखने वाले विवेकानन्द उभरते भारतीय पूँजीवाद के बौद्धिक प्रवक्ता थे। उनका धर्म का विकसित होता रूप पूँजीवादी वर्ग की अभिलाषा की अनुरूप था। गर्व–गाली, प्रशंसा–तिरस्कार, धिक्कार–गौरव, इकरार–इंकार के द्वंद्व से ग्रस्त विवेकानन्द भारतीय आध्यात्मिक विरासत के आधार पर न केवल हिन्दू जाति की विश्वविजय का सपना रखते थे अपितु उससे ही अभिशप्तजन की मुक्ति का एकमात्र साधन मानते थे। "हमारी आध्यात्मिकता ही हमारा जीवन–रक्त है।

भारत में किसी प्रकार का सुधार या परिवर्तन की चेष्टा करने के पहले धर्म प्रचार आवश्यक है। भारत को समाजवादी अथवा राजनीतिक विचारों से प्लावित करने से पहले आवश्यक है कि उसमें आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ ला दी जाये। भारत में सभी सामाजिक परिवर्तनों को क्रियान्वित करने में धर्म को प्रधान व पथ–प्रदर्शक शक्ति बनना होगा। सिर्फ धर्म ही भारतीय जनता को उठाने में सक्षम है क्योंकि यह नहीं भूलना चाहिए कि हिन्दू धार्मिक रूप में पीता है, धार्मिक रूप में सोता है, धार्मिक रूप में चलता है, धार्मिक रूप में शादी करता है, धार्मिक रूप में कपड़े पहनता है। यदि तुम भारत में राजनीति की बात करना चाहते हो, तो तुम्हें धर्म की भाषा में बोलना चाहिए। धर्म के अलावा राष्ट्रीय चेतना को जगाने का कोई उचित माध्यम नहीं है।"

विवेकानंद ने तीन भविष्यवाणी की थीं। सर्वप्रथम 1890 के दशक में उन्होंने कहा था कि भारत अकल्पनीय परिस्थितियों के बीच अगले 50 वर्षों में ही स्वाधीन हो जाएगा। जब उन्होंने यह बात कही तब कुछ लोगों ने इस पर ध्यान नहीं दिया। उस समय ऐसा होने की कोई संभावना भी नहीं दिख रही थी। अधिकांश लोग अंग्रेजों द्वारा शिक्षित होकर संतुष्ट थे। उन दिनों लोगों में शायद ही कोई राजनीतिक चेतना दिखाई पड़ती थी। उन्हें राजनीतिक स्वाधीनता की कोई धारणा नहीं थी। ऐसी पृष्ठभूमि में भी स्वामी विवेकानंद भारत के अगले 50 वर्षों में स्वाधीन होने की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई।

विवेकानंद ने अपनी भविष्यदृष्टि से देख लिया था कि 'ऐसी दुर्घटना कभी हो नहीं सकती'। उन्होंने दृढ़ विश्वास प्रकट किया था कि 'भारत की उन्नति अवश्य होगी और साधारण तथा गरीब लोग सुखी होंगे। विवेकानंद ने ही एक और भविष्यवाणी की थी जिसका सत्य सिद्ध होना शेष है। उन्होंने कहा था भारत एक बार फिर समृद्धि तथा शक्ति की महान ऊँचाइयों पर उठेगा और अपने समस्त प्राचीन गौरव को पीछे छोड़ जाएगा। स्वामी विवेकानंद ने कहा था कि भारत का विश्वगुरु बनना केवल भारत ही नहीं, अपितु विश्व के हित में है। विवेकानंद ने कहा कि समाज का नेतृत्व चाहे विद्या बल से प्राप्त हुआ हो चाहे बाहुबल से, पर शक्ति का आधार जनता ही होती है। उनका मानना था कि प्रजा से शासक वर्ग जितना ही अलग रहेगा, वह उतना ही दुर्बल होगी। हमें नहीं भूलना चाहिए कि यथार्थ भारत झोपड़ी में बसता है, गांव में बसता है। इसलिए भारत की उन्नति भी झोपड़ी और गांव में रहने वाले आम जनता की प्रगति पर निर्भर है। हमारा पहला कर्तव्य दीनहीन, निर्धन, निरक्षर, किसानों तथा श्रमिकों के चिंतन का है। उनके लिए सब करने के उपरांत ही संबंधों की बारी आनी चाहिए।

विवेकानंद ने कहा है कि अतीत से ही भविष्य बनता है। उन्होंने भविष्यवाणी करते हुए कहा था,–

''भारत का पुनरुत्थान होगा, पर वह जड़ की शक्ति से नहीं, वरन् आत्मा की शक्ति के द्वारा। वह उत्थान विनाश की ध्वजा लेकर नहीं, वरन् शांति और प्रेम की ध्वजा से सन्यासियों के वेश से धन की शक्ति से नहीं, बल्कि भिक्षापात्र की शक्ति से सम्पादित होगा।''[9] ''सुदीर्घ रजनी अब समाप्त होती हुई जान पड़ती है। महानिद्रा मनिमग्न शव मानों जागृत हो रहा है... जड़ता धीरे–धीरे दूर हो रही है। अब कोई उसे रोक नहीं सकता। अब वह फिर सो भी नहीं सकती। कोई बाह्य शक्ति इस समय इसे दबा नहीं सकती क्योंकि यह असाधारण शक्ति का देश अब जागकर खड़ा हो रहा है।''[10]

विवेकानंद अपने व्याख्यानों एवं लेखों में भारत और पश्चिमी देशों के बारे में बातें करते समय बहुत ठीक जगह अंगुली रखते हैं। "हिन्दू और यूनानी" नामक लेख में वे लिखते हैंः–"यूनानी राजनीतिक स्वतंत्रता की खोज में था। हिन्दू ने सदैव आध्यात्मिक स्वतंत्रता की खोज की। दोनों ही एकपक्षीय हैं। भारतीय राष्ट्र की रक्षा या देशभक्ति की अधिक चिन्ता नहीं करता, वह केवल अपने धर्म की रक्षा करेगा, जबकि यूनानियों और यूरोप में भी (जहाँ यूनानी सभ्यता प्रचलित है) देश पहले आता है। केवल आध्यात्मिक स्वतंत्रता की चिन्ता करना और सामाजिक स्वतंत्रता की चिन्ता न करना एक दोष है, किन्तु इसका उलटा होना तो और भी बड़ा दोष है। आत्मा और शरीर दोनों की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए।[11]

भारत की दुर्दशा का एक बड़ा कारण वे उस मध्यकालीन दोष को मानते हैं जो सामाजिक बंधनों का कारण बना। अतः वे इस बात का उल्लेख करते हुए कई बार क्षुब्ध हो उठते हैं। अपने प्रिय शिष्य आलासिंगा पेरुमल को अमेरिका से 29 सितंबर 1894 को लिखे पत्र में कहते हैं, "विकास के लिए पहले स्वाधीनता चाहिए। तुम्हारे पूर्वजों ने पहले आत्मा को स्वाधीनता दी थी इसलिए धर्म की उत्तरोत्तर वृद्धि और विकास हुआ, पर देह को उन्होंने सैकड़ों बंधनों के फेर में डाल दिया, बस इसी से समाज का विकास रुक गया। पाश्चात्य देशों का हाल ठीक इसके विपरीत है। समाज में बहुत स्वाधीनता है, धर्म में कुछ नहीं। इसके फलस्वरूप वहाँ धर्म बड़ा ही अधूरा रह गया, पर समाज ने भारी उन्नति कर ली थी।"[12] इसी तरह अन्यत्र उन्होंने भारत में वेदांती आदर्शों के साथ इस्लामिक व्यावहारिकता समन्वय पर जोर दिया है। उन्होंने लिखा है, "मैंने देश के कोने कोने में प्रश्न किया कि सभ्यता की परिभाषा क्या है, और मैंने यह प्रश्न अनेक अन्य

देशों में भी पूछा है। कभी कभी उत्तर मिला जो कुछ हम हैं, यही सभ्यता है। कोई राष्ट्र हो सकता है समुद्र की लहरों को जीत ले, भौतिक तत्वों का नियंत्रण कर ले, जीवन की उपयोगितावादी सुविधाओं को पराकाष्ठा तक विकसित कर ले, किन्तु फिर भी सम्भव है वह कभी यह अनुभव नहीं कर पाये कि सर्वोच्च सभ्यता इसमें होती है, जो अपने स्वार्थ को जीतना सीख लेता है। पृथ्वी के किसी भी देश की अपेक्षा यह स्थिति भारत में अधिक उपलब्ध है, क्योंकि वहाँ शरीर सुख सम्बन्धी भौतिक स्थितियाँ अध्यात्म के अधीनस्थ मानी जाती हैं।''[13]

"प्राच्य और पाश्चात्य" विषयक लेख में वे लिखते हैं "यूरोपीय पण्डितों का यह कहना कि आर्य लोग कहीं से घूमते फिरते आकर भारत में जंगली जाति को मार काट कर और जमीन छीन कर स्वयं यहाँ बस गए, केवल अहमकों की बात है। आश्चर्य तो इस बात का है कि हमारे भारतीय विद्वान भी उन्हीं के स्वर में स्वर मिलते हैं और यही सब झूठी बातें हमारे बाल–बच्चों को पढ़ाई जाती है–यह घोर अन्याय है। यूरोपियनों का जिस देश में मौका मिलता है, वहाँ के आदिम निवासियों का नाश करके स्वयं मौज से रहने लगते हैं, इसलिए उनका कहना है कि आर्य लोगों ने भी वैसा ही किया है। यूरोप का उद्देश्य है–सबको नाश करके स्वयं अपने को बचाये रखना। आर्यों का उद्देश्य था–सबको अपने समान करना अथवा अपने से भी बड़ा बनाना।"[14]

अन्तरराष्ट्रीयवाद की आधारशिला : स्वामी विवेकानन्द अन्तर्राष्ट्रीयतावादी थे। वे विश्व भ्रातृत्व के पोषक थे। उनकी सार्वदेशिकता के प्रसंग में टीका करते हुए शिकागो धर्म संसद के समाप्त होने के बाद कहा गया, 'जहाँ अन्य सब प्रतिनिधि अपने–अपने धर्म के ईश्वर की चर्चा करते रहे, वहाँ केवल विवेकानन्द ने ही सब के ईश्वर की बात की। 42 विवेकानन्द को निःसन्देह भारत से असीम प्रेम था और वे हिन्दू धर्म तथा समाज के उत्थान के अभिलाषी थे, लेकिन संसार की अन्य किसी भी जाति से अथवा संसार के अन्य किसी भी राष्ट्र से उन्हें घृणा नहीं थी। उन्होंने एक बार कहा था 'निःसन्देह मुझे भारत से प्यार है, पर प्रत्येक दिन मेरी दृष्टि अधिक निर्मल होती जाती है। हमारे लिए भारत, अमेरिका, इंग्लैण्ड क्या है ? हम तो उस ईश्वर के सेवक हैं जिसे अज्ञानी मनुष्य कहते हैं। जड़ में पानी देने वाला क्या सारे वृक्ष को नहीं सींचता है?' विवेकानन्द मानव – मानव के भेद को अस्वीकार करते थे। इससे उन्हें बड़ी पीड़ा होती थी। उनका कहना था 'कोई मनुष्य कोई जाति दूसरों से घृणा करते हुए जी तक नहीं सकती। भारत के खोटे दिन उस वक्त शुरू हो गये जब हमने शब्द का अविष्कार किया, दूसरों से अपना नाता तोड़ दिया।' एक अन्य स्थल पर उन्होंने प्रश्न किया– 'क्या हमें

पश्चिम से कुछ भी नहीं सीखना है? और स्वयं ही उसका उत्तर भी दिया, ''हमें बहुत–सी बातें सीखनी हैं, हमें जीवन भर नई और ऊँची बातों के लिए संघर्ष करना है। जो व्यक्ति और समाज दूसरों से कुछ नहीं सीखता वह मौत की दाढ़ों में पहुँच जाता है।''

वस्तुतः विवेकानन्द का अन्तरराष्ट्रीयवाद संकीर्णताओं और क्षेत्रीयता की सीमाओं को त्याग कर विश्व बन्धुत्व का मार्ग प्रशस्त करता है। उनका मत था कि राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं के रूप जटिल होते जा रहे हैं। उनका राष्ट्रीय निदान क्षणिक होगा। अतएव उनका आकलन व्यापक अन्तरराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में करना होगा। जब तक समग्र विश्व सत्य एवं न्याय पर अवलम्बित न होगा, तब तक विश्व मंगल की कामना व्यर्थ होगी । कहना असंगत न होगा विवेकानन्द केवल भारत से ही अनन्य प्रेम नहीं करते, अपितु वे सार्वभौम मानवता के उपासक थे।

निष्कर्ष : विवेकानंद भारत एवं भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है कि ''अभिनव भारत को जो कुछ कहना था वह विवेकानन्द के मुख से उद्‌गीर्ण हुआ। अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पष्ट संकेत विवेकानन्द ने दिया। विवेकानन्द वह सेतु हैं, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र हैं, जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अंतराष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान, सबके सब समाहित होते हैं।'' टैगोर रवीन्द्रनाथ ने कहा है, 'यदि काई भारत को समझना चाहता है , तो उसे विवेकानन्द को पढ़ना चाहिए।'' अतः निःसंदेह विवेकानंद की दृष्टि में भारत की अवधारणा का सम्यक् मूल्याकंन अपेक्षित है।

विवेकानन्द जब भारतीयों को दुर्बल, कायर और आलसी देखते थे तो उनका खून खौल उठता था। उन्होंने कहा था, ''मैं कायरता को घृणा की दृष्टि से देखता हूँ। कायर तथा राजनीतिक मूर्खता के साथ मैं अपना सम्बन्ध नहीं रखना चाहता।'' विवेकानन्द ने शक्ति और निर्भयता का दर्शन वेदान्त की व्याख्याओं के अनुरूप प्रस्तुत किया और देश के युवाओं को विश्वास दिलाया कि कर्ममय और स्वार्थ रहित जीवन से ही व्यक्ति एवं राष्ट्र दोनों का विकास हो सकता है। उन्होंने 'आत्मा की सबलता' का पाठ देशवासियों को पढ़ाया तथा निर्भयतापूर्ण राष्ट्रीयता की ज्योति देश के कोने–कोने में प्रज्ज्वलित की। उन्होंने स्वदेशवासियों का आह्वान किया, ''उत्साह से हृदय भर लो और सब जगह फैल जाओ। काम करो, काम करो – पचास सदियाँ तुम्हारी ओर ताक रही हैं भारत का भविष्य तुम पर

निर्भर है। काम करते जाओ स्वामी विवेकानन्द अपने देशवासिया की जिस शक्ति को जागृत करना चाहते थे, वह केवल शारीरिक शक्ति नहीं थी, वरन् वह मूर्त चारित्रिक शक्ति थी जो पवित्रता, निर्भयता और त्याग की भावना से उत्पन्न होती है। उनकी आस्था थी कि एक राष्ट्र की भांति एक व्यक्ति की शक्ति भी मूलतः चरित्र और उदात्त आदर्शों का अनुसरण करने में निहित है, वाह्य चीजों पर अधिकार करने में नहीं। इसलिए राष्ट्रीय शक्ति के सृजन हेतु उन्होंने शिक्षा प्रसार पर विशेष बल दिया। उनकी मान्यता थी कि सच्ची शिक्षा द्वारा ही एक राष्ट्र अपनी वास्तविक शक्ति का उन्नयन कर सकता है। आत्मा की शक्ति ही वास्तविक शक्ति होती है। इसके लिए आध्यात्मिक अथवा नैतिक शिक्षा विलक्षण है। समुचित शिक्षा के द्वारा आत्मा में जब पर्याप्त आलोक उत्पन्न हो जाता है तो उसके समक्ष किसी प्रकार का अत्याचार, उत्पीड़न या दबाव नहीं टिक सकता।

समाजवाद का अवलम्ब : विवेकानन्द की आस्था समाजवाद 44 में थी। उनकी एक कृति प्रकाशित हुई थी जिसका शीर्षक था ''मैं एक समाजवादी हूँ।'' अतः यह अवलोकन करना संगत होगा कि विवेकानन्द किस रूप में और कहाँ तक समाजवादी थे। इस प्रसंग में दामोदरन ने लिखा है, ''यूरोप में विकसित हो रहे पूँजीवाद की दुष्प्रवृति से विवेकानन्द अत्यधिक निराश हुए। वे नये क्रान्तिकारी विचारों की ओर आकर्षित हुए, जो अभी निर्माणावस्था में थे। वे रूस के क्रान्तिकारी अराजकतावादी दार्शनिक प्रिन्स क्रोपोटिकिन से मिले 146 समाजवादी विचारों ने उनके मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डाला और उन्होंने स्वयं को एक समाजवादी कहना प्रारम्भ कर दिया।'' विवेकानन्द के हृदय में निर्धनों और पद – दलितों के प्रति असीम संवेदना थी। समाज में उनके लिए समुचित स्थान दिये जाने पर उन्होंने विशेष बल दिया और जन साधारण के उन्नयन को अपने कार्यक्रम का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग बनाया उन्होंने कहा कि राष्ट्र का गौरव महलों से सुरक्षित नहीं रह सकता? झोपड़ियों की दशा भी सुधारनी होगी, निर्धनों को उनके दीन–हीन स्तर से ऊँचा उठाना होगा। देशभक्त बनने की दिशा में सर्वप्रथम कदम यही है कि हम भूख और अभाव से पीड़ित करोड़ों व्यक्तियों के प्रति वास्तविक संवेदना का अनुभव करें और उनके उत्थान की दिशा में कुछ करके दिखायें। यदि निर्धनों और शुद्रों का दीन–हीन ही रखा गया तो देश और समाज का कोई कल्याण नहीं हो सकता। विवेकानन्द के समाजवादी हृदय ने इन शब्दों में चीत्कार किया, ''मैं उस ईश्वर या धर्म पर विश्वास नहीं करता जो न विधवाओं के आँसू पोछ सकता है और न अनाथों के मुँह में एक टुकड़ा रोटी ही पहुँचा सकता हैं।'' पूँजीवादी और शोषणवादी निष्ठुर अमीरों के प्रति उन्होंने

कहा वे लोग, जिन्होंने गरीबों को कुचल कर धन पैदा किया है और ठाट–बाट से अकड़कर चलते हैं, वे उन बीस करोड़ देशवासियों के लिए जो इस समय भूखे और असभ्य बने हुए हैं यदि कुछ न करें, तो वे लोग घृणा के पात्र हैं।''

संदर्भ

1. विवेकानंद, स्वामी; विवेकानंद साहित्य, खंड–9, अद्वैत आश्रम, कोलकाता (पश्चिम बंगाल), पृ. 95.
2. विवेकानंद, स्वामी; विवेकानंद साहित्य, खंड–3, अद्वैत आश्रम, कोलकाता (पश्चिम बंगाल), पृ. 421.
3. वही, पृ. 422.
4. विवेकानंद, स्वामी; विवेकानंद साहित्य, खंड–2, अद्वैत आश्रम, कोलकाता (पश्चिम बंगाल), पृ. 236.
5. विवेकानंद, स्वामी; विवेकानंद साहित्य, लेक्चर्स फ्रॉम कोलम्बो टू अल्मोड़ा, खंड–9, अद्वैत आश्रम, कोलकाता (पश्चिम बंगाल), पृ. 145.
6. विवेकानंद, स्वामी; विवेकानंद साहित्य, खंड–9, अद्वैत आश्रम, कोलकाता (पश्चिम बंगाल), पृ. 198.
7. विवेकानंद, स्वामी; विवेकानंद साहित्य, खंड–4, अद्वैत आश्रम, कोलकाता (पश्चिम बंगाल), पृ. 116.
8. कॉनफोर्थ, मारिस; भौतिकवादी ज्ञानमीमांसा, पृ. 208.
9. विवेकानंद, स्वामी; विवेकानंद साहित्य, खंड–9, अद्वैत आश्रम, कोलकाता (पश्चिम बंगाल), पृ. 380.
10. विवेकानंद, स्वामी; विवेकानंद साहित्य, खंड–10, अद्वैत आश्रम, कोलकाता (पश्चिम बंगाल), पृ. 42.
11. विवेकानंद, स्वामी; विवेकानंद साहित्य, खंड–1, अद्वैत आश्रम, कोलकाता (पश्चिम बंगाल), पृ. 286.
12. विवेकानंद, स्वामी; विवेकानंद साहित्य, खंड–8, अद्वैत आश्रम, कोलकाता (पश्चिम बंगाल), पृ. 36.
13. विवेकानंद, स्वामी; विवेकानंद साहित्य, खंड–6, अद्वैत आश्रम, कोलकाता (पश्चिम बंगाल), पृ. 405.
14. विवेकानंद, स्वामी; विवेकानंद साहित्य, खण्ड–10, अद्वैत आश्रम, कोलकाता (पश्चिम बंगाल)

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

चेतना का स्वरूप : भारतीय दर्शन के संदर्भ में

दीपा सिंह *

प्रस्तावना : चेतना दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। पदार्थों की चेतनता का कारण उसमें व्याप्त किन्तु इन्द्रियों से अगोचर व तत्व है जिसे जीव या आत्मा कहा गया है। भारतीय दर्शन के संदर्भ में यदि चेतना की बात करें तो यहाँ चेतना का अध्ययन किसी दार्शनिक निकाय के तत्वमीमांसा व ज्ञानमीमांसा को समझने की प्रागपेक्षा रखता है। वेद, उपनिषद् से लेकर भारतीय नास्तिक व आस्तिक सम्प्रदाय सभी चेतना के विभिन्न पक्षों की बात करते हैं परन्तु इसके बावजूद चेतना के स्वरूप को लेकर दार्शनिकों का आपस में मतभेद है। अस्तु इस शोध पत्र का उद्देश्य भारतीय दर्शन के नास्तिक व आस्तिक दोनों सम्प्रदायों में चेतना की व्याख्या विश्लेषण कर उसके स्वरूप का स्पष्टीकरण करना है।

भारतीय दर्शन में चेतना के स्वरूप की व्याख्या करने के क्रम में कुछ आधारभूत प्रश्न निम्न हैं–

1. चेतना द्रव्य है, गुण है या कर्म अथवा इन सबसे भिन्न?
2. चेतना आत्मा का आगंतुक लक्षण है या स्वरूप लक्षण?
3. चेतना स्वप्रकाशक है या अर्थप्रकाशक या दोनों?
4. चेतना विषयापेक्षी है या अविषयापेक्षी?
5. चेतना स्वतंत्र है या परतंत्र?

उल्लेखनीय है कि भारतीय परम्परा में आस्तिक और नास्तिक पदों को परिभाषित करने का आधार वेद प्रामाण्य की स्वीकृति एवं अस्वीकृति से है अर्थात् वेदों में आस्था रखने वाला आस्तिक एवं इसके विपरीत नास्तिक। नास्तिक विचारधारा को मानने वाले चार्वाक, बौद्ध एवं जैन तथा आस्तिक विचारधारा को मानने वाले षड्दर्शन (न्याय वैशेषिक, सांख्य–योग, मीमांसा तथा वेदान्त) है।

** शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, इविंग क्रिश्चियन कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज (उ.प्र.)*

नास्तिक दर्शन में चेतना का स्वरूप

''चार्वाक दर्शन में शरीर से भिन्न एक नित्य सत्ता के रूप में आत्मा के अस्तित्व का निषेद्य प्राप्त होता है। उल्लेखनीय है कि चार्वाक दर्शन आत्मा के अस्तित्व का निषद्ये नहीं करता है वह केवल आत्मा के पारमार्थिक एवं अभौतिक स्वरूप, उसकी अजरता, अमरता, कूटस्थनित्यता, ध्रुवता और अपरिवर्तनशीलता को अस्वीकार करता है।''[1] उसके अनुसार प्रत्यक्ष से आत्मा नामक किसी अभौतिक तत्व का ज्ञान नहीं होता है जिसका स्वरूप अथवा लक्षण चैतन्य हो। चार्वाक दर्शन के अनुसार शरीर से भिन्न किसी पृथक आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। शरीर का चेतना से युक्त होना ही आत्मतत्व कहलाने के लिये पर्याप्त है। चेतना चार जड़तत्वों–पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के आनुपातिक संयोग का परिणाम है। 'चार्वाक दर्शन मानता है कि जिस प्रकार पान, सुपाड़ी, कत्था और चूना को एक साथ चबाने से लाल रंग की उत्पत्ति होती है, यद्यपि इनमें किसी में भी लाल रंग नहीं है। उसी प्रकार चार भूतों के विशेष संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति होती है।''[2]

जड़भूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
ताम्बूलपूग चूर्णानां योगाद्राग इवोत्थितम्।।[3]

वस्तुतः चेतना को शरीर का गुण मानना नितान्त असंगत है, क्योंकि मूर्च्छा, कोमा, निद्रा आदि ऐसी अवस्थाएँ जहाँ जीवित शरीर में चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। यह सत्य है कि शरीर के द्वारा चेतना की अभिव्यक्ति होती है परन्तु शरीर चेतना का कारण नहीं हो सकता। अन्त में चंद्रधर शर्मा का यह कथन उद्धरण योग्य है कि ''हमारी आँखें प्रकाश के बिना नहीं देख पाती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकाश दृष्टि का कारण है।''[4]

बौद्ध दर्शन में चेतना कोई नित्य या शाश्वत सत्ता नहीं है और न ही आत्म का गुण या क्रिया है अपितु निरन्तर प्रवाह है। जब गौतम बुद्ध 'सर्व अनात्मकम्' कहते हैं तो इसका अर्थ है कि किसी नित्य चेतन या जड़ तत्व का अस्तित्व नहीं है। बौद्धों के अनुसार चेतना पंचस्कंधों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) का समूह मात्र है, परन्तु आत्मा इन स्कन्धों में से कोई एक नहीं है और न ही इससे परे है अपितु इन स्कंधों का पुंज मात्र है।

मिलिन्दपन्हो नामक बौद्ध दार्शनिक ग्रंथ में प्राप्त 'नागसेन–मिलिन्द संवाद से ज्ञात होता है कि आत्मा पंचस्कंधों का संघात है।'[5] जिस प्रकार चक्र, धुरी, नेमि, पताका, आदि के समूह के लिये रथ का प्रयोग होता है उसी प्रकार आत्मा पंचस्कंधों का संघात है।

जीव जैन दर्शन का आत्मतत्व है यह एक अभौतिक तत्व है यद्यपि जैन दर्शन भी नास्तिक सम्प्रदाय है इसके बावजूद इसकी आत्मा सम्बन्धी विचार चार्वाक और बौद्धों से भिन्न है। चार्वाक दर्शन में शरीर को ही आत्म कहा गया है और चेतना को उसका गुण। बौद्ध दर्शन में आत्मा क्षणिक विज्ञानों का प्रवाहमात्र है, पचं स्कंधों का समूह है। जैनों के अनुसार आत्मा, शरीर एवं इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न एक चेतन सत्ता है।[6] 'वह आत्मा को एक द्रव्य मानता है और चेतना को उसका स्वरूप या नित्य धर्म। चेतन के अभाव में जीव का अस्तित्व संभव नहीं है (चेतना लक्षणों जीवः)'[7] जैन दर्शन के अनुसार चेतना कभी नष्ट नहीं होती है, यद्यपि वह बाह्य कारणों से न्यूनाधिक रूप में धुँधली हो सकती है।

उमास्वामी के अनुसार, 'जीव का लक्षण' उपयोग है। जीव का चैतन्य रूप चेतना का परिणाम है चेतना के तीन प्रकार हैं–ज्ञान, भावना और कर्म। ये तीनों एक साथ मिलकर 'उपयोग की अवधारणा' सामने लाते हैं। इस प्रकार ज्ञानपूर्वक किसी कार्य को करना और उसका फल प्राप्त करना उपयोग है इससे सिद्ध होता है कि जीव ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है।[8] जीव स्वभावतः पूर्ण है उसमें अनन्त चतुष्टय अर्थात् चार प्रकार की पूर्णताएँ पायी जाती हैं ये हैं–अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य एवं अनन्त आनन्द।[9]

आस्तिक दर्शन में चेतना का स्वरूप :

न्याय दर्शन के अनुसार आत्म एक द्रव्य है जो शरीर, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि से भिन्न है। न्याय दर्शन चैतन्य या ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक गुण मानता है।[10] आत्मा में चैतन्य तभी आता है जब इसका मन के साथ, मन का इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का बाह्य वस्तुओं के साथ सम्पर्क होता है। आत्मा ज्ञान नहीं है बल्कि ज्ञाता है जो अहम्वित्ति का आश्रय तथा भोक्ता है। आत्मा ज्ञाता, कर्त्ता एवं भोक्ता है।[11] नैयायिको के अनुसार चेतना अर्थ प्रकाशक है। 'अर्थ प्रकाशों बुद्धिः'[12] इस प्रकार वे चेतना को ऐसी सत्ता मानते हैं जो विषयों को अभिव्यक्त करती है उसे ज्ञेय बनाती है।

मीमांसा दर्शन भी न्याय–वैशेषिक की तरह चेतना की यथार्थवादी व्याख्या करते हैं। प्रभाकर, न्याय के समान ही आत्मा को अचेतन द्रव्य मानते हुए चेतना को आत्मा का आगंतुक लक्षण मानते हैं जो अवस्था विशेष से उत्पन्न होता है। प्रभाकर चेतना को स्वप्रकाशक एवं अर्थप्रकाशक दोनों मानते हैं। स्वप्रकाश होने के कारण ज्ञान या चेतना विषय को प्रकाशित करता है स्वयं भी प्रकाशित होता है और साथ ही आत्मा को भी ज्ञाता के रूप में प्रकाशित करता है। इस प्रकार

प्रत्येक ज्ञान में ज्ञेय–ज्ञान–ज्ञाता की त्रिपुटी का प्रत्यक्ष होता है। विषय सम्पर्क से आत्मा में चेतना का उदय होता है इस प्रकार प्रभाकर चेतना को विषयापेक्षी मानते हैं।

कुमारिल आत्मा और चेतना में कर्त्ता और क्रिया का सम्बन्ध मानते हैं, चेतना आत्मा की क्रिया का परिणाम है परन्तु यह नित्य क्रिया नहीं है। इसीलिए मोक्षादि अवस्था में आत्मा, चेतना या ज्ञान से रहित हो जाता है। कुमारिल, न्याय की ही भाँति चेतना को स्वप्रकाश नहीं मानते अपितु अर्थप्रकाश कहते हैं ज्ञान न तो स्वप्रकाश है और न ज्ञाता को प्रकाशित करता है बल्कि मात्र विषय प्रकाशक है।

सांख्य चैतन्य को पुरुष या आत्मा का स्वरूप मानता है पुरुष कोई द्रव्य नहीं है जिसका लक्षण 'चेतना' है। यह चैतन्य स्वरूप है अर्थात् चेतना उसका स्वभाव है वह साक्षी है, निष्क्रिय या उदासीन है, कूटस्थ–नित्य एवं अपरिवर्तनशील है। वह कूटस्थ–नित्य होने के कारण 'कारण–कार्य' शृंखला से परे है। सांख्य चैतन्य को स्वप्रकाश मानता है, जिसके प्रकाश से ही जड़बुद्धि में ज्ञान का उदय होता है।

''शंकराचार्य तथा सांख्य–योग विचारक चेतना को स्वाधिकार से अस्तित्ववान एक नित्य प्रकाश मानते हैं यह नित्य प्रकाश–चेतना आत्मा के सत्य स्वरूप का संगठक है व न गुण है न किसी का कर्म है बल्कि स्वयं अपने में स्वतंत्र सत्ता है।''[13]

शांकर अद्वैत वेदान्त में चेतना को आत्मा का स्वरूप माना गया है अर्थात् चेतना ही आत्मा है आत्मा ही चेतना है, चेतना ही एकमात्र तत्व है वही ब्रह्म है। चेतना की चार अवस्थाएँ मानी गयी है–जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था। इनमें से प्रथम तीन व्यावहारिक हैं और चौथी पारमार्थिक अवस्था है। ''आत्मा की यथार्थ सत्ता को स्वीकार करना एक नित्य ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करना है, ब्रह्म की यथार्थता का प्रमाण यह है कि यह प्रत्येक की आत्मा की अनुभूति है।''[14]

आचार्य शंकर के दर्शन में विशुद्ध चेतना ही मात्र तत्व है वही आत्मा या ब्रह्म है। शंकराचार्य चेतना को द्रव्य, गुण, प्रवाह आदि नहीं मानते हैं उनके अनुसार चेतना यथार्थ एवं पूर्ण सत् है इसका निराकरण असंभव है क्योंकि आत्म चैतन्य ही निराकर्त्ता का स्वरूप है।

आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्।
य एव हि निराकर्त्ता तदैव तस्य स्वरूपम्।।[15]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन में चेतना तत्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय दोनों रूपों में प्रयुक्त हुई। भारतीय दर्शन में चेतना के स्वरूप की

व्याख्या करने के क्रम में जो महत्वपूर्ण बात स्पष्ट होती है वह यह है कि यहाँ चेतना को द्रव्य, गुण, कर्म में या इन सबसे भिन्न रूप में विवेचित करने का प्रयास किया गया है और यह कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में चेतना का विश्लेषण किसी एक आलेख में संभव नहीं है।

संदर्भ

1. पाठक, राममूर्ति (1991); भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, अभिमन्यु प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0–10
2. सर्वसिद्धान्तसंग्रह, 2/7
3. छान्दोग्य उपनिषद, 6/8/7
4. शर्मा, चदं्रधर (1995); भारतीय दर्शन : आलाचे ना और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ0–27
5. पाठक, राममूर्ति (1991); भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, अभिमन्यु प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0–37
6. तत्वार्थाधिगम सूत्र, 5/16
7. स्यादमंजरी, 29
8. षड़दर्शन समुच्चय, 48
9. षड़दर्शन समुच्चय, गुणरत्न की टीका
10. न्यायमंजरी, पृ0–432
11. न्यायकाव्य, 1/1/9
12. गौतम, न्यायसूत्र, 1/11/18
13. राधाकृष्णन (1996), भारतीय दर्शन, द्वितीय खण्ड, राजपाल एण्ड संस कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ.–411
14. सक्सेना, श्रीकृष्ण (1969), भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ. –54
15. शारीरिक भाष्य, 2/3/7

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

जैन दर्शन का पंच महाव्रत : एक नैतिक विवेचन (सहिष्णुता के आलोक में)

रेशमी कुमारी *

डॉ. नागेन्द्र मिश्र **

ब्रत हमारी परम्परा में तपर्स्यात्मक शक्ति का प्रतिक स्रोत माना जाता है। इससे आत्म बल परिवर्तित तथा विकसित होता है। सहिष्णुता के लिए आत्मबल यानी आत्मिक शक्ति का होना अनिवार्य है। जैन दर्शन इससे सम्बन्धित अपने दर्शन प्रतिष्ठापन्न में अति विशिष्ट तरीके से नैतिक रूप से पांच ब्रतों का अधिष्ठान करता है। यह जैन–दर्शन का पंच महाब्रत कहलाता है।

जैन दर्शन का अति विशिष्ट उपदेशन जो महावीर द्वारा भी उपदेशित है, का एक सामान्य व संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत कराने का प्रयास है। यह तीर्थंकर महावीर उपदेशित पंच शिक्षात्मक धर्म है जिसे पंच महाव्रत के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।[1] इन पंच महाव्रतों के नाम निम्न है। यद्यपि कि ये नैतिक तत्व में रखी जाने वाली बातें है और इस शोध प्रबन्ध में 'जैन दर्शन का नैतिक विवेचन' एक स्वतंत्र अध्याय के रूप में अलग से रखा गया है, तथापि इन पंचव्रतों को जैन शिक्षा के वैचारिक प्रतिनिधि के रूप में समझे जाने के कारण जैन दर्शन में इन विचारों को सामान्य जैन विचार मानकर रखने का प्रयास किया जा रहा है। इन पंच महाव्रतों–अहिंसा, अमृषा, अस्तेय, अमैथुन तथा अपरिग्रह की पृष्ठभूमि से उर्वरित मानवीय विचार की सर्वश्रेष्ठ मानसिक उपलब्धि सहिष्णुता को प्राप्त किया जा सकता है। इनका संक्षिप्त परिचय निम्न है :–

(1) अहिंसा–अहिंसा पंच महाव्रत का प्रथम जैनोपदेश है। यह एक जीवनस्पर्शी श्रमाचार है। गृहस्थों के लिए इसके आंशिक प्रयोग (अणुव्रत) का उपदेश है।

** शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना*

*** एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, आर.पी.एम कॉलेज, पटना सिटी (पी.पी.यू)*

अहिंसा से सहिष्णुता की पूर्ण सिद्धि होती है। जैन परम्परा में कहा गया है कि मन, वचन तथा काया से संसार के समस्त त्रस एवं स्थावर जीवों को किसी भी परिस्थिति में, किसी भी प्रकार से पीड़ित न करना ही अहिंसा है।[2] जैन दर्शन में किसी को मारने की बात तो दूर है, अति लघुकाय जीवों को भी कष्ट पहुँचाना पाप माना गया है। यहाँ अहिंसा परमो धर्मः को पूर्ण रूप से आधार बनाया गया है। सर्वतोभावेन अहिंसा यानी मानव के क्रोध, लोभ, मान, अहंकार (कषाय) और क्रिया प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न भाव रूप में भी दुख को हिंसा माना गया है। बिना यत्न के भी हुई हिंसा को अधर्म तथा पाप कहा गया है। इस प्रकार की हिंसा से असहिष्णुता उत्पन्न होती है। आचार और उपलब्धि के बीच असंतुलन से सहिष्णुता का क्षय होता है। आचार में हुई त्रुटि को तद्नुरूप नहीं होने देती है, फलतः असहिष्णुता का भाव आता है। आचार की पूर्ण शुद्धि से ही मानव पूर्ण चित सम्पन्न सत्ता बन सकता है, जहाँ असहिष्णुता की भावना का पूर्णतः क्षय होता है। सहनशीलता का अभाव हिंसा की प्रवृति की पृष्ठभूमि है तथा हिंसक आचार के बीच असहनशीलता का भावोदय होता है। यह हिंसा तीन प्रकार का होता है।

1. **कृत हिंसा** :—व्यक्ति हिंसा जनक व्यवहार करने से कृत हिंसा का कारण बनता है।
2. **कारित हिंसा** :—दूसरों को हिंसा करने के निमित्त प्रयास करना कारित हिंसा है।
3. **अनुमोदित हिंसा** :—अन्य को हिंसा करने के लिए प्रेरित करना या उसे स्वीकृति देना।

उक्त तीनों हिंसा के मूल में असहिष्णुता होती है तथा इनसे बचने यानी अहिंसा धर्म के पालन से सहिष्णुता की स्थिति आती है। सहिष्णुता में सभी जीवों का कल्याण एवं वैश्विक कल्याण भी भावना समाविष्ट होती है जो जैन धर्म अपने भिक्षुओं को शिक्षा देकर[3] पूरे जागतिक स्तर पर सुख—शान्ति व कल्याण का कामना करता है। जैन दर्शन में व्यावहारिक रूप से 108 प्रकार के हिंसा का भेद बताया गया है, जिसमें मुख्य रूप से इसके दो भेद—द्रव्य हिंसा व भाव हिंसा कहा गया है। अहिंसा व्रत के दोषों को जैन परम्परा में अतिचार कहा गया है। जैन उपदेशन में दया, दान, सेवा, अभय आदि को अहिंसा कहा गया है।[4] महावीर के अनुसार अहिंसा, संयम और तप ही धर्म का स्वरूप है। किसी जीव को किसी प्रकार का कष्ट देना पाप है।[5] इन धार्मिक गुणों से विचलन होने पर असहिष्णुता का विचलन होता है। आचार व विचार में एक समष्टिगत समता भाव से समग्र सहिष्णुता का अभ्युदय संभव है। सहिष्णुता से मानव सभ्य, सुशील तथा समाज हितैषी बनता है। उसकी सभी अनिष्टकारी प्रवृत्तियाँ दूर हो जाती है और वही एक संतुष्ट व संतुलित समाज का निर्माण कर सकता है।

(2) अमृषा–पंचमहाव्रत का अमृषा–व्रत आत्म परिणामों की शुद्धि तथा स्व एवं परपीड़ा तथा अहितकर हिंसा के निवारण के मूल भाव का बोधक है। मन, वचन तथा कर्म से सर्वथा मिथ्या आचरण का परित्याग कर यथादृष्टि, यथाश्रुत किसी वस्तु के स्वरूप का कथन ही अमृषा है। मिथ्या वचन का त्याग ही अमृषा है। भिक्षु को सदैव असत्य भाषण का परित्याग करना चाहिए। अमृषा भाव से निश्चयात्मक, हितकारी एवं सार्थक वचन बोलना चाहिए।[6] इस व्रत के पालन में गृहस्थों के अणुव्रत की सीमा यह है कि यदि स्नेह या मोहवश तथा स्व–पर–रक्षा निमित्त असत्य भाषण का अवसर आ जाये तो वह उससे विशेष पाप का भागी नहीं होता है, क्योंकि उसकी भावना मूलतः दूषित नहीं है, वह पाप–पुण्य विचार में द्रव्य क्रिया से भाव क्रिया का महत्त्व अधिक है।[7] महावीर ने सत्य को भगवान के रूप में माना है।[8] आचार एवं सहिष्णुता में कारण–कार्य का संबंध माना जा सकता है। जैन दर्शन आचार का दर्शन है। इसके तत्त्वोपदेशन का विषय है–जीव यानी आत्मा। आचार से आत्म साक्षात्कार होना जैन दर्शन की तात्विक विशेषता है। आत्म साक्षात्कार जैन दर्शन का अन्य दर्शनों के विवेचन जैसा नहीं है। यहाँ आत्म एकमात्र विशुद्ध चैतन्य सत्ता है। द्रव्यार्थिक पौद्गलिक परिणमन बस इसका स्वभाव परभाव रूप परिणमित हो जाता है। सत्यता से जीव का कोई परिणमन नहीं होता है। सत्य का यहाँ अर्थ आत्मबोध से लिया गया है। यह अपने–आप में स्वभावस्थ तथा चारित्रस्थ अवस्था है। जैन दर्शन में सत्य के लिए कोई स्वतंत्र स्थान नहीं है। जैनियों का सत्य तो केवल अहिंसा का रक्षक निर्दिष्ट है। जैन दर्शन में चार प्रकार के असत्य का निर्धारण हुआ है जो निम्न है :–

(i) किसी सद्वस्तु के स्वरूप, समय, स्थानादि के संदर्भ में मिथ्या कथन

(ii) किसी अद्वस्तु के संदर्भ में मिथ्या कथन

(iii) किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को छिपाकर उसे दूसरे रूप में प्रख्यापित करना

(iv) अहित, अमंग और अप्रिय बोलना।

उक्त चारों का अभाव ही सत्य है। इसी प्रकार सत्य संबंधी पाँच प्रकार के अतिचार भी कहे जाते हैं :–

1. सहासम्याख्यान–किसी की निन्दा करना।
2. रहस्योस्दघाटन–किसी की गुप्त बातों का रहस्य भेद।
3. स्वदारमन्त्रभेद–अपनी पत्नी के रहस्य का उद्घाटन।
4. मृषोपदेश–झूठा उपदेश देना मृषोपदेश है।
5. कूटलेखकरण–झूठी गवाही देना।

उक्त पाँचों का अभाव को सत्य कहा गया है।[9] इसी प्रकार जैन गुप्तियों में वचन बोलने की तीन अवस्थाएँ कही गयी हैं :–

1. सारम्भ – मन में बोलने का संकल्प लेना।
2. समारम्भ – बोलने का प्रयत्न करना।
3. आरम्भ – बोलना शुरू करना।[10]

इन तीन अवस्थाओं के तीन संकल्पों तथा उनके फलों को, ग्रन्थ में अन्य प्रसंग में बताया गया है। इन्हें क्रमशः भाव सत्य, करण सत्य तथा योग सत्य कहते हैं। ये हैं

(i) भाव सत्य – इसका तात्पर्य मन में सत्य बोलने का संकल्प लेना है। इससे जीव का आंतरिक भाव विशुद्ध होता है और वह उसे भी सम्यक आराधना में सतत् उद्यत होकर लोक और परलोक में जीवन को पूर्ण बनाता है।[11]

(ii) करण सत्य – सत्य बोलने का प्रयत्न करना सत्य है। इससे कार्य को सम्यक् रीति से सम्पन्न करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है तथा जीव जैसा बोलता है, वैसा ही करता है।[12]

(iii) योग सत्य – सत्य बोलना योग सत्य है। मन, वचन तथा काया के विशुद्ध प्रयत्नों से जीव योग सत्य को प्राप्त होता है।[13] किसी भी प्रकार से किसी भी परिस्थिति में असत्य वचन का परित्याग ही सत्य महाव्रत है। एक असत्य को छिपाने के लिए अनेक बार असत्य वचन का उपयोग करना पड़ता है। इससे जीव पहले एवं बाद में, दोनों ही स्थितियों में दुःख प्राप्त करता है तथा भाव से अतृप्त होकर अनेक पाप कर्मों में फंसता है।[14]

इस प्रकार अमृषा यानी मिथ्या वचन का परित्याग यानी सत्य वचन को पंच महाव्रत में दूसरे स्थान पर रखा गया है। व्यावहारिक रूप से देखा जाय तो सत्य भी अहिंसा की तरह चैतसिक सम्पन्नता का प्रतीक है। इन जैनाचरणों से सहिष्णुता समवर्द्धित व सम्पन्न होती है।

(3) अस्तेय–यह जैन पंच महाव्रत का तृतीय सोपान है। आज उग्रवाद, आतंकवाद यथा चोरी, डकैती, लूट, हत्या, रंगदारी, अपहरण जैसी घटनाएँ जो मानवीय असहिष्णुतावादी आचरणों के सदृश्य है, का मुख्य कारण चित के स्तेयता है। जैन शास्त्रों में इसे अचौर्य या अदत्तादान भी कहा गया है। अस्तेय का सीधा अर्थ है कि किसी भी वस्तु का उपयोग उसके स्वामी द्वारा न प्राप्त किए हुए स्थिति में कदापि नहीं करना चाहिए। इस व्रत के उल्लंघन का अर्थ है–चोरी करना या डकैती आदि कर किसी वस्तु को प्राप्त करना। उत्तराध्ययन में बताया गया है कि अदत्तादान नरक के समान है। मुनि बिना दिया हुआ एक तिनका भी न लें तथा भिक्षा दान में भी संयम रखते हुए अपने पात्र में गृहस्थ द्वारा दिया हुआ ही भोजन करें।[15]

साधु को दातौन आदि भी बिना दिए नहीं लेनी चाहिए यदि आवश्यक हो तो निर्दोष वस्तु ही ग्रहण करनी चाहिए[16] क्योंकि सचित्र वस्तु ग्रहण करने से हिंसा

का दोष लगता है। अस्तेय जैन व्रत समाज के व्यष्टि तथा समष्टि दोनों दृष्टि से संतुलन स्थिति को एक महान नैतिक उपदेश से बांधने का प्रयास करता है। इससे अहिंसा एवं सत्य के समान ही चित् में सहिष्णुता चैतसिक गुणों में वृद्धि होती है।

(4) अपरिग्रह—अपरिग्रह महाव्रत तो सीधे सहिष्णुता का परिचायक है। यह महाव्रत विषयाक्ति के त्याग भावना का बोधक है। जैन दर्शन के अनुसार आवश्यकता से अधिक संग्रह से आत्मा क्षरित होती है। अपरिग्रह का सीधा अर्थ है संग्रह करने की भावना व प्रवृत्ति से रहित होना। इस व्रत के मूल में भी अहिंसा की भावना निहित है, क्योंकि इन्द्रिय सुख तथा विषयों की प्राप्ति के लिए मनुष्य हिंसा, झूठ, अनुशासनहीनता, चोरी तथा उच्श्रृंखलता की भावना से उद्वेलित होता है। इस प्रकार पाप कर्मों का सम्पादन करते हुए अहिंसा व्रत पालन में वह असफल रह जाता है। सजीव एवं निर्जीव सभी द्रव्यों के प्रति आसक्ति से रहित होकर परिग्रह का त्याग करना ही अपरिग्रह महाव्रत है।[17] भिक्षु को तृण मात्र से भी परिग्रह नहीं करना चाहिए, उसे स्नेह के बन्धनों को तोड़कर अकिंचन, सरल, निरासक्त, परिग्रह और हिंसा से विरत होना चाहिए।[18] श्रमण को धन एवं भोजन के परिग्रह के प्रति समान रूप से निरासक्त होना चाहिए।[19] उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार निर्देश है कि साधु लेशमात्र भी संग्रह न करे तथा पक्षी की तरह संग्रह से निरपेक्ष रहते हुए पात्र लेकर भिक्षा हेतु विचरण करें।[20] परिग्रह का विस्तार काम–भोग की भावनाओं के कारण होता है। यह काम–भोग की कामना का अति विस्तार ही असहिष्णुता है। परिग्रह को असहिष्णुता का पर्याय माना जा सकता है। अपरिग्रह सहिष्णुता भाव को उत्पन्न करता है। अतएव सहिष्णुता का भाव जैन पंचव्रत के अपरिग्रह भाव से भी सिंचित होता है।

(5) ब्रह्मचर्य—कामातुर भावना से असहिष्णुता आज स्पष्ट देखी जा सकती है। अपहरण, रेप आदि दृष्कृत्य का कारण कामातुर भावनाओं की तृप्ति में कठिनता से ही असहिष्णुता का निकृष्टतम रूप देखने को मिलता है। ब्रह्मचर्य का स्पष्ट अर्थ है स्त्री अनुराग या काम क्रीड़ा का पूर्ण त्याग। इस व्रत को सभी व्रतों से कठिन कहा गया है।[21] इस व्रत के पालन के निमित्त उत्तराध्ययन सूत्र में दस विशेष बातों का निर्देश है जिसे त्याग करना अनिवार्य है। निर्देशित बातें निम्न हैं–

1. स्त्रीयुक्त स्थान का त्याग—ब्रह्मचर्य के व्रत के निमित्त साधक को स्त्री रहित तथा एकान्त स्थान का वास स्वीकार करना चाहिए। स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित स्थान पर शयन या आसन ग्रहण करने वाले को ही सच्चा भिक्षु बताया गया है।[22] कहा गया है कि 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युमपाध्नत' यानी ब्रह्मचर्य रूपी तपस्या से देवताओं ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है। ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ है – मानव के द्वारा ब्रह्म ही खोज के बदले जीव के स्वभाव को निश्चयता से धारण कर आत्म भाव को प्राप्त करना– यहाँ मान लिया जाय तो ब्रह्मचर्य का एक ही यानी समान अर्थ समझ लेना उचित होगा। ब्रह्मचर्य महाव्रत का जैन दर्शन में

अर्थ है—सभी प्रकार की वासनाओं एवं कामनाओं का परित्याग करना। समस्त भोगेन्द्रिय एवं उसके विषय के सम्पर्क सुख का पूर्णतः क्षय कर देना ही ब्रह्मचर्य व्रत है।

2. स्त्रीकथा का त्याग—जैन उपदेशन में बताय गया है कि निर्ग्रन्थ को स्त्रियों की कथा न तो कहनी चाहिए न ही सुननी चाहिए।[23] ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु को मन में आह्लाद पैदा करने वाली कामाराग बढ़ाने वाली स्त्री—कथा का त्याग करना चाहिए।[24] ऐसी कामासक्ति से मुक्ति यदि संभव है तो वह निश्चय ही सहिष्णुता का शीर्षस्थ उदाहरण सिद्ध होगा।

3. सह—आसन का त्याग—स्त्री के साथ एक आसन पर बैठकर वार्तालाप आदि करने से कामवासना उत्पन्न हो सकती है, अतः भिक्षु को स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए।[25]

4. इन्द्रिय दर्शन का त्याग—ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के निमित्त जैन दर्शन में स्पष्ट निर्देश है कि ब्रह्मचारी को नेत्र इन्द्रिय के वशीभूत होकर स्त्रियों के मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियों को न तो देखना चाहिए और न ही उसके विषय में चिन्तन करना चाहिए।[26] यहाँ स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, संकेत तथा कटाक्ष आदि का दर्शन श्रमण तपस्वी के लिए वर्जित है।[27]

5. स्त्रियों द्वारा उच्चरित शब्दों के श्रवण का त्याग—स्त्रियों के किसी भी वैसे वचन जो कूजन, रोदण, गीत, हास्य, गर्जन, क्रंदन तथा कामवर्धक वचन प्रतीत हो उसे नहीं सुनना चाहिए।[28]

6. पूर्व काम—क्रीड़ा के स्मरण का त्याग—भिक्षु को अपनी दीक्षा के पूर्व के जीवन में स्त्रियों के साथ अनुभूत हास्य, क्रीड़ा, रति, अभिमान और त्रास का अनुचिन्तन नहीं करना चाहिए।[29] पूर्व की रति क्रिया का स्मरण निषेध बताया गया है।[30]

7. प्रणीत आहार का त्याग—रसयुक्त आहार उन्मादबर्धक होता है। अतः ब्रह्मचर्य व्रत के सम्यक पालन हेतु आहार का संयम होना चाहिए।[31]

8. अतिभोजन का त्याग—ब्रह्मचारी के लिए अत्याहार, पौष्टिक भोजन तथा कुपाच्य भोजन का त्याग करना चाहिए।[32]

9. शरीर सौन्दर्य का त्याग—ऐसा माना जाता है कि शारीरिक विभूषा के प्रति स्त्रियों का स्वाभाविक आकर्षण उत्पन्न होता है। परिणामतः कामेच्छाएँ जागृत होती है।[33] अतएव उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि जो शरीर की विभूषा नहीं करता है, वह निर्ग्रन्थ है।[34]

10. इन्द्रियों संबंधी भोगों का त्याग—शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श के प्रति पूर्णतः अनासक्ति ही सद्भिक्षु का गुण है। इन पाँच प्रकार के इन्द्रिय भोगों को कामगुण कहा गया है तथा भिक्षु को सदैव ही इनका त्याग करना चाहिए।[35]

उक्त उपदेशन से ब्रह्मचर्य महाव्रत को बताने का प्रयास जैन परम्परा के ग्रंथ में किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त वर्णित जैन परम्परा के पाँच महाव्रत मानव को श्रेष्ठ तथा सम्पन्न चित्र में विकसित तो करते ही है, साथ ही मानव समाज सहित समस्त लोक में समष्टि कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं। लोक कल्याण की व्यवस्था से जन–जन की सहिष्णुता अक्षुण्ण रहती है। सहिष्णुता का अभाव तो व्यवस्था के विचलन के कारण चेतना स्तर पर होने वाले बदलाव के कारण होता है। जैन दर्शन सामान्य परिचय के अन्तर्गत जैन उपदेशन का व्यापक एवं अत्यन्त विपुल भंडार तथ्य हैं जिनका विवरण यथा आवश्यकतानुसार आगे के अध्याय में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाएगा। आज की सबसे बड़ी समस्या मानव के अन्दर की उग्रता व असहनशीलता है जिसके कारण व्यक्ति अपने आपमें उथल–पुथल के अलावा पूरे समाज के संतुलन में अकारक तत्त्व सिद्ध हो रहा है। ऐसी स्थिति में जैन दर्शन के सामान्य परिचय का बोध उसके उपदेशन–पंच महाव्रत के रूप में यह रखने का प्रयास हुआ है। यह सहिष्णुता का समष्टि में कारक तत्व है।

संदर्भ

1. जो इमो पंचसिक्खिओ, देसिओ वद्धमाणेण। उत्तराध्ययन सूत्र, 23–12
2. वही, 8–10
3. वही, 6–2, 8–3
4. प्रश्न व्याकरवृत्ति, उद्धृत – मिश्र, जगदीशचन्द्र, भारतीय दर्शन, पृ० 236, चौखम्भा सुभारतीय प्रकाशन संस्करण–2016
5. वही
6. मुसंपरिहरे भिक्खु, नप ओहारिणे वए।
   भाया–दोसं परिहटे, मायं च वज्जए सया।। उत्तराध्ययन–1–24
7. जैन हीरा लाल, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ. 259, भोपाल उद्धृत–जैन धर्म एवं दर्शन, महेशचन्द्र श्रीवास्तव, पृ० 96
8. तं सच्च खु भगवं, उद्धृत–मिश्र, जगदीशचन्द्र, भारतीय दर्शन पृ० 236, चौखम्भा सुभारतीय प्रकाशन, वाराणसी–2016
9. वही।
10. संरम्भ–समारम्भे, आरम्भे त तहेव य।
    वयं पवत्तमाणं तु, नियतेज्ज जयं जई। उत्तराध्ययन 24–22
11. वही, 29–51
12. वही, 29–52
13. वही, 29–53
14. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरन्ते।
    एवं अदत्ताणि समाययन्तो, भावे अति तो दुहिणो अणिस्सो। वही, 32–96

15. आयणं नरयं दिस्स, नायएज्ज तणामवि।
    दोगुंछी अप्पणो पाए, दिन्नं भुंजेज्ज भोयणं।। वही, 6–7
16. दन्त–सोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं।
    अणवज्जेसणिज्जस्स, गेण्हणा अवि दुक्करं।। वही, 19–28
17. धण–धन्न–पेयवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं।
    सत्वारम्भपरिच्चाओ, निम्मत्तं सदुक्करं।। वही, 19–30
18. अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा, परिग्गहारभंनियत्तदोसा, वही, 14–4
19. समणो अहं संजओ बम्मचारी,
    विरओ धणपयणपरिग्गहाओ।। वही, 12–9
20. सन्निहि च न कुत्वेज्जा, लेवमायाए संजए।
    पक्खी पत्तं समादाय, निरवेक्खो परब्बिए। वही 6, 16
21. विरई अबम्भचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा।
    उग्गं महव्वयं वम्भं, धारेयव्वं सुदुक्करं। वही 19–29
22. उत्तराध्ययन 16–3 (गद्य)
23. वही, 16–4 (गद्य)
24. मणपल्हायजणणिं, कामरागविवड्ढणिं।
    बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए।। 16–2
25. नो इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरित्ता हवइ में निग्गन्थे। वही, 16 सूत्र–5
26. वही, 16–6 (गद्य)
27. न रूव–लावण्ण–विलासन्हासं, न जंपियं इंगिय–पेहियं वा।
    इत्थीण चित्तसि निवेसइत्ता दट्ठु ववस्से समणे तवस्सी।। वही, 32–14
28. वही, 16–5 एवं 16–7 (गद्य)
29. वही, 16–6
30. वही, 16–8 (गद्य)
31. वही, 32–10
32. जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे, समारूओ नोवसमं उवेइ।
    एविन्दियग्गी वि यगामभोइणो, न बम्भयारिस्स, हियाय कस्सई।।
    वही, 32–1
33. वही, 16–11 (गद्य)
34. नो विभूसाणुवाई हवइ, से निग्गन्थे। वही
35. सद्दे रूवे य गन्धे य, रसे फासे तहेव य।
    पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए।। वही 16–10

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

बौद्ध दर्शन में निर्वाण की अवधारणा : एक गवेषणात्मक अध्ययन

स्नेहा कुमारी *

भगवान बुद्ध के सारे उपदेश चार आर्य सत्य में सन्निहित हैं। इसके तृतीय आर्य सत्य में निर्वाण की चर्चा सकी है या निर्वाण के बारे में बताया है। भगवान बुद्ध के सामने सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न था कि किस प्रकार दुःखमय जीवन की समस्या को दूर किया जाए। उन्होंने इसी समस्या को दूर करने के लिए द्वितीय आर्य सत्य में प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर दुःखों के कारण की खोज की तथा अविद्या को पूरे दुःखों का मूलभूत कारण माना। उन्होंने अपने तीसरे आर्य सत्य में सभी प्रकार के दुःखों के समाधान के लिए मार्ग भी बताया जिसे बौद्ध दर्शन में निर्वाण कहा गया।

बौद्ध दर्शन में ईश्वर और नित्य आत्मा की सत्ता को नहीं स्वींकार किया गया हैं, बुद्ध द्वारा बताए गए आर्य सत्यों में से प्रथम आर्य सत्य 'सर्वं दुःखम्' के बारे बताया गया है। जीवन के हर मोड़ पर मनुष्य को दुःख क अनुभूति होती है। रोग, मृत्यु आदि अनेक कष्टों के कारण जीव सदैव दुःखी और अशांत रहता है। जगत् के प्रति महात्मा बुद्ध के दृष्टिकोण का महत्त्व उनके इसी कथन से स्पष्ट होता है जहाँ उन्होंने यह कहा है कि दुःखियों ने जितने आँसू बहाए है उसका पानी समुद्र के जल से भी अधिक है। जन्म लेना, वृद्ध होना, मरना, अनिच्छित की प्राप्ति ही दुःख है। अर्थात् सब दुःख ही दुःख हैं इसलिए सर्वप्रथम हमें दुःख के कारण की खोज करनी चाहिए, तब उसके बाद इससे मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए।

महात्मा बुद्ध के अनुसार सभी दुःखों का कारण अविद्या है। अविद्या स्वयं अनित्य, संस्कृत और प्रतीत्यसमुत्पन्न है, प्रत्ययों से उत्पन्न और निरूद्ध होने

** शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर*

वाली है। आस्त्रवों के समुदय से अविद्या का समुदय होता है। इस प्रकार अविद्या का कारण बताया गया है।[1] बौद्ध दर्शन में स्वीकृत अविद्या हमारे वर्तमान, बाह्य तथा आन्तरिक जीवन के संस्कारों का कारण है। यही संस्कारों को उत्पन्न करती है और इसी से दुःख की प्राप्ति होती रहती है। इनके अनुसार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान रूप पाँचों उपादान–स्कन्ध दुःखरूप है। जो भी वस्तु हमें सुख दे रही है वह भी दुःख को उत्पन्न करने वाला ही है। धम्मपद में भी कहा गया है कि सुख मानने से दुःख और भय उत्पन्न होता है क्योंकि पुरा संसार आग में जल रहा है, तब इसमें आनन्द का अवसर ही कहाँ है? संसार की सभी सामग्रियाँ जो सुखोत्पादक लग रही है बिना दुःख के प्राप्त नही होती क्योंकि उनकी प्राप्ति के लिए अनेक कष्ट सहने पड़ते है। अतः वे सभी प्रयत्न संसार दुःख है।

दुःखों का कारण तृष्णा है। तृष्णा के कारण ही जीवों का पुनर्भव होता है। छः प्रकार की तृष्णा होती है। जैसे–शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं मन। इन छः प्रकार की तृष्णाओं को तीन रूपों में बाँटा गया है–काम तृष्णा– विषयों का भोग करने वाले धर्म को काम कहते है। इसकी आसक्ति ही काम–तृष्णा है। 'भव–तृष्णा' शाश्वत दृष्टि को कहते है। आत्मा नित्य एवं शाश्वत दृष्टि को कहते है। आत्मा नित्य एवं शाश्वत है। इस दृष्टि से इस दृष्टि से संसार में जन्म लेने की इच्छा को ही भव–तृष्णा कहते हैं विभव–तृष्णा–उच्छेद दृष्टि विभव कहलाती है। मृत्यु के बाद आत्मा का नाश हो जाता है, इस दृष्टि के साथ होने वाली तृष्णा को विभव–तृष्णा कहते हैं। यही दुःख–समुदय है। इसे प्रतीत्यसमुत्पाद या द्वादशचक्र भी कहते हैं जो इस प्रकार है–अविद्या–संस्कार–विज्ञान–नामरूप– षडायतन–स्पर्श–वेदना–तृष्णा–उपादान–भव–जाति–जरामरण। इस प्रकार सम्पूर्ण दुःख समुदय उत्पन्न होता है। चार आर्य सत्यों के ज्ञान से ही अविद्या का नाश हो सकता हैं।

भारतीय दर्शन में जिस सत्ता को मोक्ष कहा गया है, उसी को बौद्ध दर्शन में 'निर्वाण' की संज्ञा से विभूषित किया गया है। निर्वाण को पाली भाषा में 'निब्बान' कहा जाता है। बौद्ध दर्शन में निर्वाण का काफी महत्त्व है क्योंकि इसे जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। बुद्ध ने बताया कि निर्वाण एक ऐसी अवस्था का नाम है जहाँ पहूँचने पर मनुष्य के सारे दुःखों का पूर्ण नाश हो जाता है। राग, द्वेष, मोह आदि पर विजय प्राप्त करना, तृष्णा अभिलाषा पर नियंत्रण करना, अच्छे आचरण या शील के साथ जीवन व्यतीत करना तथा ध्यान मग्न हो समाधि में लीन हो जाना ही निर्वाण की मुख्य विशेषताएँ है।

व्यक्ति अपने जीवन काल में ही राग, द्वेष, मोह, आसक्ति, अहंकार इत्यादि पर विजय प्राप्त कर लेता है तो वह मुक्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति संसार में

रहकर भी सांसारिक वस्तुएँ से निर्लिप्त रहता है। बौद्ध दर्शन में मुक्त व्यक्ति को 'अहर्त्त' या 'तथागत' कहा जाता है। महात्मा बुद्ध ने 35 वर्ष की अवस्था में बोधि को प्राप्त किया था। इसके बाद भी 45 वर्ष तक जीवित रहे। बुद्ध की तरह अन्य लोग भी 'निर्वाण' को प्राप्त कर सकते हैं। निर्वाण प्राप्ति के बाद भी शरीर कायम रहता है, क्योंकि शरीर पूर्व जन्म के कर्मों का फल है जब तक व्यक्ति के सारे कर्म समाप्त नही हो जाता तब तक शरीर विद्यमान रहती हैं। बौद्ध दर्शन में मृत्यु को 'परिनिर्वाण' कहा गया है। अतः निर्वाण का अर्थ जीवन का अंत नहीं बल्कि जीवन काल में ही प्राप्त होता है।[2]

'निर्वाण' शब्द 'निर' और 'वाण' शब्द के सम्मिश्रण से बना है। 'निर' का अर्थ ''नही'' और ''वाण'' का अर्थ है पुनर्जन्म–पथ। अतः निर्वाण का अर्थ पुनर्जन्म रूपी पथ का अन्त हो जाना। भगवान बुद्ध के अनुसार निर्वाण का अर्थ जीवन का नाश नहीं बल्कि दुःखों का अन्त है। यदि निर्वाण का अर्थ पूर्ण विनाश अर्थात् जीवन का अन्त माना जाए तो यह नही कहा जा सकता कि मृत्यु के पूर्व बुद्ध ने निर्वाण को अपनाया। बुद्ध के सारे उपदेश इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने मृत्यु के पूर्व ही निर्वाण को अपनाया था। यदि इस मत का खंडन किया जाता है तो बुद्ध के निर्वाण प्राप्ति के विचार कल्पना मात्र हो जाते है। भगवान बुद्ध ने इस परम् अवस्था को साधना के माध्यम से अपने जीवनकाल में ही प्राप्त कर लिया था। निर्वाण का स्वरूप अभाव एवं भाव इन दोनों रूपों में परिलक्षित होता है। यह दुःख विमुक्ति की अवस्था के साथ–ही–साथ परम् सुख अथवा आनन्द की अवस्था भी है। भगवान बुद्ध जीवों को जन्म, मरण रूपी दुःख एवं शोक से मुक्त करना चाहते थे और इसको उन्होंने निर्वाण के रूप में पाया। इसलिए निर्वाण आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति का नाम है। 'निर' उपसर्ग 'वान' धातु से 'निर्वाण' शब्द बना है जिसका अर्थ तृष्णा का बुझना है। इस अवस्था में पुराने कर्म खत्म हो जाते है, जिससे नए कर्म की उत्पत्ति नहीं होती। पुनर्जन्म के सब बीज नष्ट हो जाते हैं और पुनः जन्म लेने में किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होती तथा किसी प्रकार की इच्छा शेष नहीं रह जाती, इस तरह निर्वाण बुझे हुए दीपक की तरह है दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार तेल और बत्ती के समाप्त हो जाने पर दीपक शांत हो जाता है। उसी प्रकार राग–द्वेषादि के समाप्त होने पर दुःख का निरोध हो जाता है, यही निर्वाण की अवस्था है।

परन्तु अब प्रश्न उठता है कि क्या निर्वाण की प्राप्ति मृत्यु के बाद होता है? ऐसे प्रश्न जब बुद्ध से पुछा जाता था तो वह चुप हो जाते थे। उनके मौन रहने के कारण कुछ लोगों ने यह अर्थ निकाला कि निर्वाण प्राप्ति करने के बाद व्यक्ति का अस्तित्व खत्म हो जाता है परन्तु यह अर्थ निकालना अनुचित है इसके उत्तर

में बुद्ध ने स्वयं कहा है–''निर्वाण तो एक अवस्था है, जिसे लोग प्राप्त कर सकते हैं उस अवस्था का वर्णन अनुभव के शब्दों में संभव नहीं है।'' निर्वाण के संदर्भ में प्रो. मैक्समूलर और चाइल्डर्स ने कहा है कि ''निर्वाण का अर्थ कहीं भी पूर्ण विनाश नहीं है।'' डॉ. राधाकृष्णन् ने भी निर्वाण के संबंध में कहा है कि ''निर्वाण तो आध्यात्मिक संघर्ष की सिद्धि है भावात्मक आनन्द की अवस्था है।''

उरोक्त बातें जो निर्वाण के बारे में कहे गए है इससे निर्वाण के अर्थ में भिन्नता आ जाती है जिसके कारण विद्वानों के दो दल हो गए– 1. अभावात्मक मत, 2. भावात्मक मत। निषेधात्मक मत को मानने वालो ने निर्वाण का अर्थ बुझा हुआ समझा है। उन लोगों ने निर्वाण की तुलना दीपक के बुझ जाने से की है। जिस प्रकार दीपक के बुझ जाने से उसके प्रकाश का अन्त हो जाता है उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त करने के बाद व्यक्ति के सारे दुःख का अंत हो जाता हैं। निर्वाण के इस अर्थ से प्रभावित हो कर कुछ बौद्ध अनुयायी एवं अन्य विद्वानों ने निर्वाण का अर्थ पूर्ण विनाश समझा है। इन लोगों के अनुसार निर्वाण प्राप्त करने के बाद व्यक्ति का अस्तित्व खत्म हो जाता है। अतः इन लोगों ने निर्वाण का अर्थ जीवन का अन्त समझा है। इस मत के समर्थकों ने बौद्ध धर्म के हीनयान सम्प्रदाय और पौल दहलके आते है। निर्वाण का यह निषेधात्मक मत तर्क–संगत नहीं है।

यदि निर्वाण का अर्थ पूर्ण–विनाश अर्थात् जीवन का अन्त माना जाए, तब यह नहीं कहा जा सकता है कि मृत्यु के पूर्व बुद्ध ने निर्वाण को अपनाया। बुद्ध के सारे उपदेश इस बात के प्रमाण हैं कि इन्होंने मृत्यु के पूर्व ही निर्वाण को अपनाया था। यदि इस विचार का खंडन किया जाता है, तब बुद्ध के सारे उपदेश एवं उनके निर्वाण प्राप्ति के विचार कल्पनामात्र हो जाते हैं। अतः निर्वाण का अर्थ जीवन का अन्त समझना भुल है।[3]

क्या निर्वाण प्राप्त व्यक्ति का अस्तित्व मृत्यु के बाद रहता है?–बुद्ध से जब यह पुछा जाता था तो वे मौन हो जाते थे। उनके मौन रहने के कारण कुछ लोगों ने यह अर्थ निकाला कि निर्वाण प्राप्त करने के बाद व्यक्ति का अस्तित्व नहीं रहता है। परन्तु बुद्ध के मौन रहने का यह अर्थ निकालना गलत है। उनके मौन रहने का यह अर्थ होगा कि निर्वाण प्राप्त व्यक्ति की अवस्था को वर्णन नही किया जा सकता है। इसलिए वह ऐसे प्रश्नो पर वह मौन हो जाते थे।[4]

प्रो. मैक्समूलर और चाइलडर्स ने निर्वाण पर गहन अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाले कि ''निर्वाण का कहीं भी पूर्ण–विनाश नहीं है।''[5] यह सोचना कि निर्वाण व्यक्तित्व–प्रणाश की अवस्था है बुद्ध के अनुसार एक दुष्टतापूर्ण–विमुखता है। यह जान लेने के बाद कि निर्वाण अस्तित्व का उच्छेद नहीं है। भावात्मक मत के समर्थकों ने निर्वाण का अर्थ शीतलता लिया है। बौद्ध दर्शन में वासना,

क्रोध, मोह, भ्रम, दुःख इत्यादि को अग्नि के तुल्य माना गया है। निर्वाण का अर्थ वासना एवं दुःख रूपी आग का ठण्डा हो जाना है। निर्वाण के इस अर्थ पर जोर देने के फलस्वरूप कुछ विद्वानों ने निर्वाण को आनन्द की अवस्था कहा है। इस मत के मानने वालों में प्रो. मैक्समूलर, चाइलडर्स, श्रीमती रायज डेविड्स, डॉ. राधाकृष्णन्, पूसिन आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। रायज डेविड्स ने निर्वाण को इस प्रकार बताया है कि ''निर्वाण मन की पापहीन शान्तावस्था के समरूप है जिसे सबसे अच्छी तरह पवित्रता, पूर्ण शान्ति, शिवत्त्व और प्रज्ञा कहा जा सकता है।''[6] पूसिन ने निर्वाण को ''पर, द्वीप, अत्यन्त, अमृत, अमृतपद और निःश्रेयस् कहा है।'' डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में ''निर्वाण, जो आध्यात्मिक संघर्ष की सिद्धि है, भावात्मक आनन्द की अवस्था है।[7] इन विद्वानों के अलावा पाली ग्रन्थों में भी निर्वाण को आनन्द की अवस्था माना गया है। धम्मपद में निर्वाण को आनन्द, चरम सुख, पूर्ण शन्ति, घृणा और भ्रम से रहित अवस्था कहा गया है।[8] अंगुत्तर निकास में निर्वाण को आनन्द एवं पवित्रता के रूप में चित्रित किया गया है। निर्वाण को आनन्दमय अवस्था मानने के फलस्वरूप कुछ विद्वानों ने बौद्ध दर्शन पर सुखवाद का आरोप लगाया है। परंतु निर्वाण को आनन्द की अवस्था मानने के कारण बुद्ध को सुखवादी कहना भ्रमात्मक है, क्योंकि आनन्द की अनुभूति सुख की अनुभूति से अलग है। सुख की अनुभूति अस्थायी और दुःखप्रद है, परन्तु आनन्द की अनुभूति अमृततुल्य है।

निर्वाण का मुख्य स्वरूप यह है कि वह अर्निवचनीय है। तर्क और विचार के माध्यम से इस अवस्था को व्यक्त करना संभव नहीं है। डॉ. दास गुप्त ने कहा है कि– लौकिक अनुभव के रूप में निर्वाण का निर्वचन मुझे एक असाध्य कार्य प्रतीत होता है– यह एक ऐसी स्थिति है जहाँ सभी लौकिक अनुभव निषिद्ध हो जाते है, इसका विवेचन भावात्मक प्रणाली से संभव नहीं है।[9] डॉ. कीथ ने भी इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा है कि– सभी व्यावहारिक शब्द अवर्णनीय का वर्णन करने में असमर्थ है।[10]

बौद्ध धर्म के प्रमुख धर्मोपदेशक नागसेन ने युनान के राजा मिलिन्द के सम्ममुख निर्वाण की व्याख्या उपमाओं की सहायता से की है। निर्वाण को उन्होंने सागर की तरह गहरा, पर्वत की तरह ऊँचा और मधु की तरह मधुर कहा है। इसके साथ–ही–साथ उन्होंने यह भी कहा है कि निर्वाण के स्वरूप का ज्ञान उसे ही हो सकता है जिसे इसकी अनुभूति प्राप्त हो। जिस प्रकार अन्धे को रंग का ज्ञान कराना संभव नहीं है, उसी प्रकार जिसे निर्वाण की अनुभूति प्राप्त नही है, उसे निर्वाण का ज्ञान कराना संभव नहीं है। अतः निर्वाण की जितनी परिभाषाएँ दी गई हैं वे निर्वाण के यथार्थ स्वरूप को नही बतला सकते है। निर्वाण की प्राप्ति

व्यक्ति के लिए लाभप्रद होती है। इससे मुख्यतः तीन लाभ प्राप्त होते हैं–पहला इससे सारे दुःखों का अन्त हो जाता है। दुःखों के समस्त कारणों का अन्त कर निर्वाण मानव को दुःखों से मुक्ति दिलाता है। दूसरा लाभ यह है कि इससे पुनर्जन्म की संभावना का अन्त हो जाता है। जन्म–ग्रहण के कारण नष्ट हो जाने से निर्वाण–प्राप्त व्यक्ति जन्म–ग्रहण के बंधन से मुक्त हो जाता है। निर्वाण का तीसरा लाभ यह है कि निर्वाण–प्राप्त व्यक्ति का शेष जीवन शान्ति से व्यतीत करते है। निर्वाण से प्राप्त शान्ति और सांसारिक वस्तुओं से प्राप्त शान्ति में अन्तर है। सांसारिक वस्तुओं से जो शन्ति प्राप्त होती है वह अस्थायी एवं दुःखदायी है परन्तु निर्वाण से प्राप्त शान्ति आनन्दायक होती है।

अतः हम कह सकते है कि निर्वाण प्राप्त व्यक्ति के सारे विकार समाप्त हो जाते है। जिसमें लोभ, घृणा, क्रोध और मोह का नाश हो जाता है। पिटकों में बार–बार अग्नि के 'जलने' और 'बुझने' की बात कही गई है। मनोविकारों से युक्त व्यक्ति का अग्नि में जलना कहा गया है। बुद्ध के चार आर्य सत्यों को आग बुझाने के मार्ग कहा गया है। निर्वाण की अवस्था में मनोविकार पूरी तरह शांत हो जाते हैं और दुःख जरा सा भी नहीं रहता है। यह पूर्ण शान्ति की अवस्था है। निर्वाण–प्राप्त पुरूष के अन्दर पूर्ण प्रज्ञा, पूर्ण विकारहीनता, पूर्ण शान्ति, पूर्ण आत्म–संयम तथा मन–वचन–कर्म में समभाव उत्पन्न हो जाता है, जिसे मोक्ष या निर्वाण कहा जाता है।

संदर्भ

1. सिंह, डॉ. भरत, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग–2, पृ.–39
2. सिन्हा, प्रो. हरेन्द्र प्रसाद, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2002, पृ.–114
3. वही पृ.115
4. शर्मा, चन्द्रधर, भारतीय दर्शन (आलोचन और अनुशीलन) मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1998, पृ.–58
5. डॉ. राधाकृष्णान्, भारतीय दर्शन, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, भाग–1, पृ.–449
6. सिन्हा, प्रो. हरेन्द्र प्रसाद, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2002, पृ.–116
7. डॉ. राधाकृणान्, भारतीय दर्शन, भाग–1, पृ.–448
8. धम्मपद 202–203 IX
9. Gupta, Dr. Das, A History of Indian Philosophy Vol-1, p.-109
10. Dr. Keith, Buddhist Philosophy, p.-129

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

आधुनिक जीवन में भौतिकवाद का स्वरूप : एक दार्शनिक विश्लेषण

रूपा कुमारी *

प्रतिस्पर्धा के दौड़ में हम सभी स्वयं को भूलते जा रहे हैं। हमारी सोच इतनी भौतिकवादी हो गयी है कि सम्पत्ति और भौतिकवादी सुखों के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता है। जबकि अस्तित्ववादी विचारकों को इस विषमता की अनुभूति है अतः वैचारिक प्रेरणा का स्त्रोत यह सोचना है कि मनुष्य इस प्रकार की स्थिति में खो न जाय। इसके लिये उन्हें यह अनिवार्य प्रतीत होता है कि मनुष्य को उसकी मानवीयता, उसकी विशिष्टता एवं उसकी गरिमा की अनुभूति हो जाय। इसी कारण अस्तित्ववादी दृष्टि मनुष्य को विचार के केन्द्र में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करती है इस विशेष अर्थ मे यह मानव दर्शन है।[1] अस्तित्ववादी दर्शन मानव पर केन्द्रित है, परन्तु भौतिकवादी दर्शन का मूल केन्द्र भौतिक वस्तु है जिनसे हम सभी हमेशा सुख की कामना रखते है, जिनसे कोई अछूता नहीं है। पाश्चात्य दर्शन के विख्यात दार्शनिक अरस्तू महोदय का यह कथन कि – ''मनुष्य एक समाजिक प्राणी है।'' का तात्पर्य है कि मनुष्य जन्म लेता है समाज में, जीता है समाज में और मरता भी है समाज में।[2] समाज से अलग मानव की कोई स्वतंत्र सत्ता ही नहीं है। परन्तु आज का मनुष्य समाज पर आश्रित होने के बजाय मशीनों पर ज्यादा आश्रित है।

इस आलेख द्वारा दार्शनिक दृष्टि से यह चिन्तन करना अभिष्ठ है कि आधुनिक मानव जीवन किस स्तर तक इन अचेतन भौतिक वस्तुओं पर आश्रित है। साथ–ही–साथ यह मानव अस्तित्व के लिए कितना उचित–अनुचित, शुभ–अशुभ तथा नैतिक–अनैतिक है।

प्राचीन भारतीय दर्शन में जिस भौतिकवादी प्रवृत्ति की बात हुई है वो सिर्फ एक शुरूआती दौड़ था जैसे हम मनुष्यों का जीवन आदिमानव काल से शुरू

** शोधार्थी, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर*

होकर आधुनिक काल तक आते–आते एक विशाल रूप ले चुका है वैसे ही चार्वाक का भौतिकवाद और वैशेषिक दर्शन का परमाणुवाद अपना रूप काफी बदल चुका है। आज हम पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु को ही सिर्फ भौतिक पदार्थ नहीं बोलते है बल्कि हमारे ऐशोआराम में आनेवाली उन तमाम वस्तुओं को जिससे हमें सुविधाएँ मिलती है वे सभी भौतिक पदार्थ की गिनती में आ चुका है और वह भौतिकवाद मशीनीकरण में कब तबदील हो गया, ये हमें पता ही नहीं चला और धीरे–धीरे हम इन चीजों के आदि होते चले गये।

वैशेषिक दर्शन का परमाणु कब टूट कर इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन बन गया और अब तो इनका और छोटा रूप पोजिट्रॉन प्राप्त हुआ है।

नील बोर ने बताया है कि परमाणु को तोड़ने पर दो तत्त्व मिलते है – प्रोटॉन और इलेक्ट्रॉन। ये स्थूल नहीं बल्कि विद्युत तरंगे है। सभी परमाणुओं का नाभिकरण प्रोटॉन है, जो धनात्मक विद्युत तरंग है तथा बाहर की तरफ इलेक्ट्रॉन घुमते है जो ऋणात्मक विद्युत तरंग है। बाद के वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया कि परमाणु के अंदर इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन के साथ साथ दो और तत्व न्यूट्रॉन और पोजिट्रॉन रहते हैं। इसलिए परमाणु नहीं बल्कि उक्त चारों तत्व भूत के आदि रूप माने जाते है।[3]

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद जब परमाणुवाद का सिद्धांत दिये तो वे पृथ्वी जल, अग्नि, वायु आदि को निरवयव तत्व माने थे तथा इनके अवयवों से पदार्थों की रचना को प्रश्रय दिये थे परन्तु इसी परमाणुवाद का सहारा लेकर बम जैसी विनाशकारी वस्तु का आविष्कार किया गया। ऐसा तो कणाद मुनि सोचे भी नहीं होगे। जिस परमाणुवाद का सहारा लेकर महर्षि कणाद सृष्टिवाद का सिद्धांत दिये थे, उसी परमाणु से सृष्टि विनाश की सामग्री बनायी गयी।

इस भौतिकवादी युग में मशीने हमारे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन चुकी है, जो हर उम्र के मानवों के जीवन को सुलभ और आसान बनाने में अहम भूमिका निभा रही है। हम अपनी जीवन की दैनिक दिनचर्या में हर रूपों में इन तकनीकों का उपयोग कर जीवन यापन कर रहे है। हम सभी जानते हैं कि मनुष्य चेतन प्राणी है उनका बुद्धि, विवेक असीमित है। असीमित होते हुए भी हम सीमित मशीनों पर निर्भर हो गये है। जबकि इन मशीनों का निर्माण हम मनुष्यों ने ही किया पर आज स्थिति यह है कि बनानेवाले ही इन मशीनों पर निर्भर हो गये है। इस संदर्भ में महात्मा गाँधी का मत है कि ''मैं यंत्रमात्र के विरूद्ध नहीं हूँ, परन्तु जो यंत्र हमारा स्वामी बन जाय, उसका मैं सख्त विरोधी हूँ।''[4]

अब प्रश्न यह उठता है कि भौतिक वस्तुओं के बिना हमारा जीवन संभव है या नहीं एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है क्योकि भौतिक वस्तुएँ हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग बनते जा रही है। कहीं–न–कही हमें लगता है कि हम भौतिक वस्तुओं के गुलाम होते चले जा रहे हैं। भौतिक वस्तुओ ने जहाँ एक ओर मानव

जीवन को बहुत–सी सहूलियतें प्रदान की हैं, वही दूसरी ओर इन्हें आलसी, मानसिक व शारीरिक रूप से कमजोर बनाते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय हो जाता है कि आखिर भौतिक वस्तुएँ मानव कल्याण के लिए किस हद तक उपयोगी है।

इन बातों के लिए हम विचारते हैं कि हर वस्तुओं के दो पहलू होते हैं–(क) सकारात्मक पहलू तथा (ख) नकारात्मक पहलू। यदि हम भौतिक वस्तुओं के सकारात्मक पहलू की बात करे तो पाते है कि इन वस्तुओं की वजह से ही हम सभी अपने कामों को आसानी, सटीकता और अल्पसमय में पूरा करते जा रहे है जिसके कारण मानव जीवन हर क्षण विकास की एक मुकाम गढ़ते जा रहा है, जो हमारे जीवन की गति को नई तीव्रता के साथ सुखमय बनाते जा रही है।

मनुष्य की निर्भरता इन भौतिक वस्तुओं पर इतनी बढ़ गयी है कि आज लोग पंगु हो गये है। पहले मानव की मूलभूत आवश्यकताएँ रोटी, कपड़ा और मकान थे परन्तु आज के समय में इतना ही काफी नहीं है। अन्य भौतिक वस्तुएँ भी उतनी ही जरूरी है। इन्ही वस्तुओं की वजह से आज मानव अपने जीवन में रंगीन कल्पनाओं का एक सुनहरा संसार बना पाता है। आज ये भौतिक वस्तुएँ हम सबों के जीवन में ऐसे काम कर रही है जैसे कहानियों में अलाद्दीन के चिराग का जिन्न काम करता था। रातों–रात महल बना देना, हवा में उड़कर एक जगह से दूसरे जगह चले जाना, जो हमारी कल्पनाओं से भी पड़े हो ऐसा काम हो जाना आदि। भौतिक वस्तुओं जैसे–बल्ब, मोबाइल, मोटरसाइकिल, टी.वी., फ्रिज, पंखा, कुलर, ए.सी., मिक्सी, वाशिंग मशीन आदि के सृजन से ही मानव जीवन बेहद आसान लगने लगा है। बड़े–बड़े कार्य जिनको पूरा करने में महीनों या सालों लगते थे परन्तु आज इनकी मदद से बेहद कम समय व कम लोगो द्वारा सटीकता, आसानी व त्रुटिहीन रूप से पूरे किये जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में महात्मा गाँधी कहते हैं कि ''यंत्रों का वही उपयोग उचित है, जो सबकी भलाई के लिए हो।''[5] आज का मनुष्य पूरी तरह से इन वस्तुओं पर आश्रित हो चुका है। जिससे इन भौतिक वस्तुओं और हमारे जीवन में एक द्वन्द उत्पन्न हो गया है। भौतिक वस्तुओं एवं जीवन के द्वन्द को समझने के लिए यहाँ मैं एक उदाहरण की चर्चा करूँगी।

जाने माने वैज्ञानिक स्टीफन हाकिंस की उम्र जब 21 वर्ष की थी, उस वक्त उन्हें एक गम्भीर बीमारी हो गयी थी। उस बीमारी का नाम था Amyotrphic lateral Sclerosis (ALS) इस बिमारी की वजह से उन्हें बोलने में परेशानी होती थी तथा पूरे शरीर ने काम करना बन्द कर दिया था। डॉक्टरों ने कहा था कि ये अधिकतम दो वर्षों तक जीवित रह सकते है लेकिन स्टीफन हाकिंस ने जज्बा दिखाया। तकनीक से जुड़कर वे लगभग 50 वर्षों तक जीवित रहे। व्हील चेयर पर बैठे हुए उन्होंने अपने जीवन को जिया। उन्होंने अपनी शारीरिक कमजोरी से अपने जीवन को कमजोर होने नहीं दिया। अपने गाल की मांसपेशियों के जरिये

अपने चश्में पर लगे सेंसर को कम्प्यूटर से जोड़कर बातचीत करते थे। अपनी अस्वस्थता के कारण ही उन्होने इन भौतिक वस्तुओं को बनाया था, जिसके फलस्वरूप दुनिया को 'ब्लैंक होल' और 'बिंग बैंग' थ्योरी दिये।[6]

दुनिया इतनी आगे बढ़ चुकी है कि अब सौरमंडल के ग्रह–उपग्रह हमारे पड़ोसी घरों की तरह महसूस हो रहे हैं। जहाँ हम जब चाहते है आ जा सकते हैं। इन्हीं भौतिक वस्तुओं के सहारे हमारी पहुँच जल, थल, और नभ के हरेक कोने तक हो रही है। जहाँ मानव जीवन से इतर अन्य रहस्मयी जीवनों से जुड़ने का एहसास हो रहा है। आज यंत्रों का विकास इतना आगे बढ़ चुका है कि हम स्थूल भौतिकता से बढ़ कर सूक्ष्म भौतिकता तक शामिल हो चुके है। यूँ कहे तो अभौतिक चीजो का भी ज्ञान इन भौतिक वस्तुओं के माध्यम से जान लेते है। जैसे–बारिश तथा अन्य प्राकृतिक घटनाओं का पूर्वानुमान। जैसे–जैसे हमारी आवश्यकताएँ बढ़ती गयी वैसे–वैसे वस्तुओं का विकास होता चला गया क्योंकि आवश्यकता ही आविष्कार की जननी होती है। प्राक् काल में जो शुरूआत 'आग' से हुई थी वह 'परमाणु बम' तक पहुँच गयी है।

यदि इन वस्तुओं के विकसित होने से पहले के समय को देखे तो पाते है कि वो समय कितना कठिन था। अगर दूर बैठे किसी व्यक्ति को कोई सन्देश देना हो तो तारपत्रों या डाक द्वारा भेजते थे, लेकिन अब यह इतना आसान बना दिया गया है कि सोशल–मीडिया के जरिये दुनिया के किसी भी कोने में बैठे व्यक्ति को संदेश दिया जा सकता है। इस प्रकार ''व्यक्ति का ख्याल सबसे ज्यादा रखा जाना चाहिए, व्यक्ति के परिश्रम की बचत मशीन का लक्ष्य होना चाहिए।''[7]

भौतिक वस्तुएँ जिस तरह हमारे जीवन को आसान बना रही है उसी तरह इसके इस्तेमाल से हमारे जीवन में दुष्प्रभाव भी उत्पन्न हो रहे है। इसके लगातार उपयोग से हमारा जीवन आलस और व्याधियों से भर गया है। एक ओर जहाँ ये वस्तुएँ हमारे लिए आरामदायक है वही दूसरी ओर ये विध्वंसक भी है। अगर हम नकारात्मक पहलू की बात करें तो सबसे पहले हम देखते हैं कि मानवीय मूल्यों का ही दमन हो रहा है। लोग भौतिक वस्तुओं को अपने जीवन में ज्यादा मूल्य दे रहे हैं, जबकि ये वस्तुएँ मानव निर्मित ही है। मुसीबत पड़ने पर मनुष्य–ही–मनुष्य के काम आता है न कि ये भौतिक वस्तुएँ। हम जितने ज्यादा आधुनिक होते जा रहे हैं उतना ही भौतिक वस्तुओ के प्रति आकर्षित होते जा रहे है। इस संदर्भ में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के विचार है कि ''मुझे आपत्ति स्वंय मशीनों पर नहीं बल्कि उनके लिए पागल बनने पर है।''[8] आज हर पर्यावरणीय समस्या जैसे–ग्लोबल वार्मिंग, अम्ल वर्षा, ग्रीन हाउस प्रभाव, प्रदूषण आदि का मुख्य कारण हमारी भौतिकवादी जीवन शैली है।

कोविड के समय में बच्चों को शिक्षा से जोड़ने का एकमात्र माध्यम मोबाइल रहा। तकनीक का बेहतर प्रयोग हमारे जीवन को संवार सकता है परन्तु इसका

दुरूपयोग हमारे जीवन में खतरा पैदा कर सकता है और यही हुआ भी। बच्चे इतने ज्यादा मोबाइल के आदि होते चले गये कि वे इनके गुलाम हो गये। वे अब खुद को उससे अलग नहीं देख पाते जबकि बच्चों की जिन्दगी एक शुरूआती जीवन होता है जिसमें उनके अपने शारीरिक व मानसिक विकास की बहुत जरूरत होती है परन्तु इसके नकारात्मक रूप में बच्चे वीडियो गेम, ऑनलाइन चैटिंग आदि विकारों से ग्रस्त हो रहे हैं, जिसके कारण बच्चों में चिड़चिड़ापन, लापरवाही, गुमशुम या आवेशित हो जाने जैसे लक्षणों का प्रवेश हो रहा है। इसपर गाँधी जी कहते हैं कि ''यंत्रमात्र का दुरूपयोग हो सकता है पर ऐसा है तो बुराई यंत्र में नहीं, मनुष्य में है जो उसका दुरूपयोग करता है।''[9]

जहाँ तक डिजिटल क्रांति की बात है यह पुरी दूनिया को प्रभावित कर रहा है। पैसे के लेन–देन के कार्य इतने सरल हो गये है कि घर बैठे इंटरनेट के माध्यम से बहुत ही आसानी से एवं बिना समय गँवाए हस्तान्तरण हो जाता है। परन्तु इसका दुरूपयोग यह है कि हैकर्स द्वारा अकाउंट हैक करना, ऑनलाइन धोखाधड़ी तथा एटीएम (ATM) से पैसे चोरी करना एक आसान काम हो गया है।

कृषि क्षेत्र तथा चिकित्सा के क्षेत्र में बहुत–सी ऐसी वस्तुएँ है जो हमारे काम को आसान बना रही है। कृषि क्षेत्र में जो इतने सारे नये उपकरणों का उपयोग हो रहा है उससे अन्न उत्पादन में बढ़ोतरी हो रही है। बुआई से लेकर कटाई तक यंत्रो की मदद से ही कार्य आसान हुआ है। इन अत्याधुनिक उपकरणों की मदद से श्रम, धन व समय की भी बचत हो रही है। इस सम्बन्ध में महात्मा गाँधी कहते हैं कि ''मैं अधिक–से–अधिक विकसित यंत्रों के उपयोग का भी समर्थन करूँगा, यदि उससे देश की दरिद्रता और उससे पैदा होनेवाला आलस्य मिट सके।''[10]

परन्तु कृषि क्षेत्र में जितने लाभ है उतनी हानियाँ भी हुई है। ज्यादा मात्रा में अन्न उत्पादन के लिए जितने सारे उर्वरक का इस्तेमाल किया गया तथा अनाज को सुरक्षित रखने के लिए जितने कीटनाशक दवाओं का छिड़काव किया गया कि भूमि की उर्वरा शक्ति ही कमजोर हो गयी, कीटनाशक दवाईयों की वजह से हमें अलग–अलग बीमारियाँ होने लगी। अत्याधुनिक मशीनों के उपयोग से मजदूर बेरोजगार होने लगे। जिसकी वजह से गाँवों से मजदूर रोजी–रोटी कमाने शहरों की ओर भागने लगे। गाँवो से लोगो का पलायन होने लगा और शहरों में भीड़ इकट्ठा होने लगा।

साथ–ही–साथ चिकित्सा के क्षेत्र मे प्रयोग किये जाने वाले उपकरण वास्तव में वरदान सिद्ध हुए है। कृत्रिम अंगों के प्रत्यारोपण से लाखों लोगों को जीवनदान मिल रहा है। औरतों में बांझपन जैसी समस्या का कृत्रिम उपचार उपलब्ध है। पुराने समय में जहाँ छोटे–से–छोटे रोगों का इलाज उपलब्ध नहीं था। वहीं आज टी. बी., कैंसर, हृदय रोग जैसे प्राणघातक बीमारियों का इलाज उपलब्ध है।

हम भौतिकता को प्रश्रय देते–देते इतना बागे बढ़ गये है कि दैनिक उपयोग की वस्तुओं का निर्माण करते–करते अपने लिए विध्वंशक चीजों का भी निर्माण

कर लिये है। ये विध्वंशक वस्तु है– परमाणु बम, तोप, टैंक, गन, मिसाइलें आदि। ये वस्तुएँ सिर्फ दूसरों का ही ह्रास नहीं करती बल्कि अपने अस्तित्व का भी नाश करती है। इन वस्तुओं की वजह से हम अपने आप को शक्तिशाली समझ बैठे है।

हमें लगता है कि सारी शक्तियाँ हमारे ही हाथों में है परन्तु ऐसी बातें नहीं हैं। इन वस्तुओं का निर्माण सिर्फ हमारी सुरक्षा के लिए किया गया है।

अतः निष्कर्ष के तौर पर मैं इतना कहना चाहती हूँ कि भौतिक वस्तुओं का विकास इतना प्रबल हो चुका है कि ये हमारे जन्म तथा मृत्यु के निर्धारण में भी केन्द्रिय भूमिका निभा रहे हैं। आज के इस आधुनिक युग में हम अपना हर काम जल्दी–से–जल्दी पूरा करना चाहते हैं। इसके लिए हम इन मानवनिर्मित भौतिक वस्तुओं का सहारा लेते है। पर हर वस्तु से लाभ है तो हानि भी है। अतः आज वरदान और अभिशाप दोनो साबित हो रहे हैं। जहाँ इन भौतिक वस्तुओं की उन्नति से एक तरफ लोगो की जीवन–शैली को प्रत्यक्ष और सकारात्मक रूप में प्रभावित किया है वहीं दूसरी ओर इसने लोगों के स्वास्थ्य पर अप्रत्यक्ष और नकारात्मक प्रभाव भी डाला है। प्रकृति, पर्यावरण पर इसके दुष्प्रभाव भी देखे जा रहे है। इन्ही वस्तुओं की सहायता से हम इतने सुदृढ़ हो पाये है कि बड़े–से–बड़े प्राकृतिक चीजों को नुकसान पहुँचा पा रहे है भले ही वह हम अपने स्वार्थ और फायदे के लिए कर रहे है। लेकिन प्रकृति के साथ छेड़छाड़ भी एक अहम नजरिया है जो हमारी जीवन शैली को प्रभावित करती है। हालांकि यह हम पर निर्भर करता है कि इसका दुरूपयोग किया जाय या सदुपयोग। जैसे–एक तलवार से शत्रु का गला कॉटा जा सकता है परन्तु मूर्खतावश अपना भी। तो यह हमपर निर्भर करता है कि हम इससे लाभ लें या खुद अपना हानि कर बैठे।

संदर्भ

1. लाल, बसंत कुमार, समकालीन पाश्चात्य दर्शन, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली, 2016 पृ.–430, 431
2. सिन्हा, डॉ. हरेन्द्र प्रसाद, धर्म–दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली, 2014, पृ.–197
3. शुक्ला, प्रो. राजेन्द्र प्रसाद, दर्शनशास्त्र की रूपरेखा, शुक्ला बुक डिपो पटना–04, 1982 पृ.–48
4. गाँधी जी, सर्वोदय, नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद–2011, पृ.–49
5. वही, पृ.–47
6. https://Kavishala.in/@kishan-gupta/Jivana-mem-takanika-ki-ghuspaitha
7. गाँधी जी, सर्वोदय, नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद–2011, पृ.–49
8. वही, पृ.–47
9. वही, पृ.–49
10. वही, पृ.–47

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

धर्म परिवर्तन बनाम धार्मिक परिवर्तन : एक अध्ययन

ऋचा सिंह *

दर्शन जगत में धर्मदर्शन के अन्तर्गत हमें धर्म–परिवर्तन की अवधारणा स्पष्ट रूप से दृष्टव्य होती है। किंतु धर्म–दर्शन में धर्म–परिवर्तन का अर्थ इसके सर्व प्रचलित अर्थ ''एक धर्म का त्याग कर अन्य धर्म को स्वीकार करने से'' न लेकर अपितु 'आत्म साक्षात्कार', 'हृदय–परिवर्तन' या 'दिव्य जीवन' की प्राप्ति से लिया जाता है जो कि एक बिलकुल ही अलग अवधारणा है। अतः इस अवधारणा के लिए धर्म परिवर्तन शब्द का प्रयोग करना इसे अस्पष्ट एवं द्विअर्थी बनाता है। इस कारण आत्म–साक्षात्कार या हृदय–परिवर्तन की अवधारणा हेतु यहाँ पर' धार्मिक–परिवर्तन' शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। पुनः इस अवधारणा हेतु 'धार्मिक परिवर्तन' शब्द का चयन क्यों किया गया इसकी भी व्याख्या इस शोधपत्र के माध्यम से प्रस्तुत की जायेगी। साथ ही इस शोधपत्र का मुख्य उद्देश्य इन दो विपरीत अवधारणाओं के संक्षिप्त उल्लेख के माध्यम से इनके मध्य पारस्परिक अस्पष्टता को दूर करने का प्रयास करना है। साथ ही इनकी अस्पष्टता के मूल में इन दोनों अवधारणों हेतु एक ही शब्द का प्रयोग होने के कारणों का परीक्षण एवं विभिन्न संदर्भों के प्रकाश में नई व्याख्या प्राप्त करना है।

भारतीय दर्शन जगत में धर्म–दर्शन के अंतर्गत धर्म–परिवर्तन, शब्द स्वयं में अस्पष्ट एवं द्विअर्थी है और इसका कारण इसकी व्यापकता और सार्वभौमिकता है। इसकी व्यापकता को हम इस प्रकार से समझ सकते हैं कि ये अपने अंदर धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान जैसे महत्वपूर्ण विषयों को संकलित किए हुए है। किंतु दर्शनशास्त्र में इसका प्रयोग एक बिलकुल ही भिन्न दृष्टिकोण से किया गया है। प्रायः धर्म–परिवर्तन से आशय एक धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म को स्वीकारने के संबंध में लिया जाता है। वास्तव में यह धर्म–परिवर्तन का सर्व प्रचलित स्वरूप है। किन्तु भारतीय दर्शन जगत में इसे धर्म–परिवर्तन का

** जे.आर.एफ. (आई.सी.पी.आर.), दर्शनशास्त्र विभाग, गु.कां.वि.वि., हरिद्वार*

संक्षिप्त एवं संकीर्ण अर्थ स्वीकार करते हुए इसके लिये 'धर्मान्तरण' की संज्ञा निर्धारित की गई है। पुनश्च, दर्शनशास्त्र में धर्म–परिवर्तन को उसके व्यापक दृष्टिकोण के अन्तर्गत निम्न अर्थों में परिभाषित किया गया है–

- हृदय परिवर्तन
- बोध की प्राप्ति
- उचित जीवन पथ की प्राप्ति
- जीवन परिवर्तन
- दिव्य जीवन की प्राप्ति आदि

धर्म–परिवर्तन की इस व्याख्या को मानने वाले सभी दार्शनिक प्रायः पाश्चात्य दार्शनिक William James द्वारा दी गई परिवर्तन की परिभाषा का समर्थन एवं अनुमोदन करेत है जिसके अनुसार–परिवर्तन का अर्थ पुर्नजन्म, नूतन जन्म जीर्णोधार, अव्यस्थित जीवन से व्यवस्थित और एकीकृत जीवन की ओर परिवर्तन, उदासीनता या तटस्ता से उन्नति या उच्चीकृत सामाजिक जीवन की ओर अभिमुख होना, जीवन को सार्थक व मूल्यवान समझना, केवल चिन्तनात्मक स्तर से आगे बढ़कर पूर्ण और समृद्ध व्यवहारिक जीवन यापन करना। "To be converted to be regenerated, to receive grace, to experience religion to gain an assurance, are so many phrases which denote the process, gradually or sudden by which a self hitherto to divided, and 'consciously wrong inferior and unhappy, becomes unified and consciously right, superior and happy in consequence of its firmer hold upon religious realties."[1] इसी प्रकार के परिवर्तन का उल्लेख J.B. Pratt ने Religious Counsiousness में लिखा है–''प्राकृतिक मानव का रूपांतरण 'नूतन जीव' के रूप में संभव होता है।''[2] ध्यातव्य है कि William James एवं J.B. Pratt ने अपनी परिभाषा में परिवर्तन का उल्लेख किया है न कि 'धर्म–परिवर्तन' का। किन्तु विभिन्न समकालीन दार्शनिकों ने William James एवं J.B. Pratt द्वारा प्रस्तुत Conversion जिसका अभिप्राय परिवर्तन या रूपान्तरण से है, के स्थान पर इसे 'धर्म–परिवर्तन' की संज्ञा से अभिहित किया है।

उदाहरणार्थ–डॉ० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा ने अपनी पुस्तक धर्म–दर्शन की रूपरेखा में लिखा है–'धर्म–परिवर्तन' (Conversion) को 'मन–परिवर्तन', 'रूपान्तरण', 'जीवन परिवर्तन आदि प्रत्ययों के द्वारा प्रकाशित किया जाता है।''[3] पुनः डॉ० शिव भानु सिंह ने अपनी पुस्तक 'धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन में कहा है–''वस्तुतः धार्मिक दृष्टि से विचार किया जाए तो धर्म–परिवर्तन का अर्थ 'मनुष्य के जीवन में एक नया मोड़ आ जाना', एक अलौकिक ज्योति को प्राप्त करना', बोध या 'हृदय–परिवर्तन' से समझना अधिक सुसंगत एवं बुद्धिमान्य होगा।''[4] इसी क्रम में डॉ. दुर्गादत्त पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'धर्म दर्शन का सर्वेक्षण'

में स्पष्ट रूप से लिखा है–''धर्म–परिवर्तन का अभिप्राय है–'जीवन परिवर्तन, हृदय–परिवर्तन, जीवन का नवीनीकरण या दिव्यीकरण, सम्बोधी आदि।''[5] इस संदर्भ Dr. L.N. Sharma का मत भी उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी पुस्तक में इस संदर्भ में लिखा है–''धर्म–परिवर्तन के पश्चात् मानव जीवन में गहन परिवर्तन परिलक्षित होते हैं एक सामान्य व्यक्ति की भी धार्मिक चेतना इस स्तर तक जागृत हो जाती है कि वह रहस्यमय जीवन की स्थिति में आ जाता है। वस्तुतः ऐसे मनुष्य के जीवन में जो 'मानसिक–परिवर्तन होते हैं या उसका जो' हृदय–परिवर्तन होता है, उसे ही धर्म दार्शनिकों ने 'Conversion' शब्द के रूप में अभिहित किया है।''[6]

उपर्युक्त सभी दार्शनिकों एवं अन्य सभी दार्शनिक जो धर्म–परिवर्तन हेतु इस अवधारणा का प्रयोग करते हैं उन्होंने कहीं पर भी इसके पीछे के कारण का उल्लेख नहीं किया है कि क्यों पाश्चात्य जगत में प्रयुक्त होने वाले Conversion या परिवर्तन शब्द के स्थान पर उन्होनें 'धर्म–परिवर्तन को अभिहित करनो समझा है?

पुनश्च यदि धर्म परिवर्तन की इन दो भिन्न अवधारणाओं के प्रकाश में यदि हम इस शब्द के मूल अर्थ का विश्लेषण करे तो पाते हैं कि इसका प्रमुख करण भारतीय एवं पाश्चात्य जगत में इस विषय से संबंधित दो भिन्न अवधारणाये हैं। भारतीय दर्शन जगत में जहाँ इसे 'धर्म–परिवर्तन' के नाम से जाना जाता है वहीं पाश्चात्य दर्शन जगत में इसके लिए 'Religious Conversoin' शब्द का प्रयोग किया गया है। उल्लेखनीय है कि Religious शब्द 'Religion' से संबंधित है जिसका हिन्दी रूपान्तरण 'धर्म' होता है। किंतु Religious शब्द का हिन्दी रूपान्तरण होता है– 'धर्म से संबंधित' या 'धार्मिक' पाश्चात्य धर्म–दार्शनिकों ने इसी आधार पर अपने मत का विवेचन किया है जिसके अनुसार Religious Conversion (धार्मिक परिवर्तन) शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट 'हृदय–परिवर्तन' या 'मानसिक–परिवर्तन' की अवस्था के संबंध में प्रयुक्त किया है। उन्होंने कहीं पर भी Conversion of Religion (धर्म–परिवर्तन) का उल्लेख नहीं किया है। तथापि William James अपनी पुस्तक में Conversion को व्याख्यायित करते समय एक स्थान पर Dr. Leuba को उद्धृत करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि– "Conversion which are purely ethical, containing as recorded, no theological beliefs whatever..... the conversion of on atheist- Neither God nor Jesus being mentioned."[7]

ध्यातव्य हो कि Tradwell Wallden[8] ने भी Religious Conversion के सन्दर्भ में 'Metanoia' शब्द का प्रयोग किया है। Metanoua शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है– Meta + Noew जहाँ Meta का अर्थ After or with से है

तथा Noew का अर्थ to think से है। इस प्रकार Tradwen Wallden ने Metonoia शब्द का प्रयोग Changing Your mind or to think intellegently अर्थात 'विवेक–परिवर्तन के लिए किया है जिसका तात्पर्य हमारे विचारों में होने वाले परिवर्तन के सन्दर्भ में है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि Religiou Conversion की अवधारणा को हम अन्य संज्ञाओं द्वारा भी परिभाषित किया जा सकता है अतः इसके लिए हमें धर्म–परिवर्तन शब्द का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं है। इसी कारणवश इसे धार्मिक–परिवर्तन की संज्ञा प्रदान की जा रही है जिसे इन दो विभिन्न अवधारणाओं के मध्य की अस्पष्टता एवं दुविधा का निवारण किया जा सके।

उल्लेखनीय है कि Religious Conversion के लिए धर्म–परिवर्तन शब्द के प्रयोग के पीछे एक अन्य महत्वपूर्ण तर्क प्रस्तुत किया जाता है जिसके अनुसार धर्म–परिवर्तन और धर्मातंरण में भेद स्थापित करते हुए इसके लिए क्रमशः Conversion with in Religion एवं Conversion of Religion का तर्क दिया जाता है। किंतु यह भी उचित प्रतीत नहीं होता है करण कि इन दोनों ही अवधारणाओं के मूल में धर्म–परिवर्तन ही है। 'Conversion of Religion' अर्थात 'धर्म का परिवर्तन' और Conversion with in Religion अर्थात 'धर्म में परिवर्तन', ये दोनों ही अवधारणाये स्वरूपतः एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होती है किंतु इसके मूल में निहित Conversion या परिवर्तन की अवधारणा बहुत ही स्पष्ट रही है। यहाँ स्पष्ट अवधारणा से आशय किसी व्यक्ति विशेष के इस संबंध में अपने विचारों से है जिसके आधार पर उसने 'परिवर्तन' की व्याख्या प्रस्तुत की है। Leon Salzman ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि धर्म–परिवर्तन पर उपस्थित सभी दुविधाओं को मुख्य कारण यह है कि 'प्रत्येक लेखकों ने इस विषय पर अपने रूझानों एवं पूर्वाग्रहों को विशेष स्थान दिया है और एक निश्चित पूर्वकल्पना के आधार उसकी व्याख्या की है। वस्तुतः धर्म–परिवर्तन की ऐसी कोई निश्चित व्याख्या प्रस्तुत की ही नहीं जा सकती जो इससे संबंधित विभिन्न घटनाओं एवं उदाहरणों को समान रूप से लागू हो सके।' उनके शब्दों में– "Much Confusion enist as to the phenomenon of religious conversion. Each writer describes it according to his own inclination and prejudice. There is no definition which is applicable to the variety of phenomenon which. conversion is used to describe."[9]

पुनः उल्लेखनीय है कि Conversion within Religion (धर्म में परिवर्तन) और Conversion of Religion (धर्म का परिवर्तन) इन दोनों ही मतों के स्पष्ट रूप से

परिभाषित करने के लिए धर्म–दर्शन के अंतर्गत पहले से ही दो स्थिति हैं जिन्हें धर्म–परिवर्तन के दो प्रकारों के रूप में जाना जाता है–

(i) अंतर्धार्मिक परिवर्तन (Inter Religious Conversion)

(ii) अंतः धार्मिक परिवर्तन (Intra Religious Conversion)

ध्यातव्य हो कि 'अंतर्धार्मिक परिवर्तन' से आशय 'एक धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म को स्वीकार कर लेने से है' जैसे हिन्दू धर्म छोड़े कर इसाई धर्म अपना लेना। इस प्रकार अंतर्धार्मिक परिवर्तन और 'धर्मान्तरण' ये दोनों ही शब्द एक ही घटना से लिए प्रयुक्त होते हैं। पुनश्चः 'अंतः धार्मिक परिवर्तन' से आशय 'एक धर्म के अंतर्गत की किसी एक संप्रदाय को छोड़कर दूसरे संप्रदाय को अपनाना' जैसे ईसाई धर्म के अंतर्गत कैथोलिक सम्प्रदाय को छोड़कर प्रोटेस्टैंट सम्प्रदाय को स्वीकार कर लेना। ठीक यही अर्थ 'धर्म में परिवर्तन' शब्द से भी लिया जाता है अतः 'धर्म में परिवर्तन' और अंतः धार्मिक परिवर्तन दोनो ही समानार्थी शब्द है।

अतः अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि 'धर्म परिवर्तन 'अतः धार्मिक परिवर्तन का समानार्थी है तो प्रायः इसका अभिप्राय हृदय परिवर्तन या जीवन परिवर्तन के सन्दर्भ में क्यों लिया जाता है। वस्तुतः यही समस्त समस्या की जड़ है। इस सम्बन्ध में Leon Salzman ने परिवर्तन के विभिन्न स्वरूपों की चर्चा करते हुए कहा है कि– "Some think of conversion only as a change from one religion to another, other so designate a change from one sect to another with in a religion; and other think of it as a sudden development of inspiration and devotion with is the religious group for some it must involve a mystical expertence, while for others it can be the end result of gradual indoctrination process."[10]

यहाँ हम देख सकते हैं कि 'हृदय परिवर्तन या जीवन परिवर्तन की अवधारणा को' धर्म में परिवर्तन की अवधारणा से प्रथक सथान दिया गया है अर्थात ये दोनों ही परिवर्तन के प्रकार हैं किन्तु समान अर्थ नहीं रखते हैं। अतः Willion James द्वारा प्रस्तुत धार्मिक परिवर्तन (Religious conversion) की अवधारणा हेतु 'Conversion with in Religion' तर्क भी उचित प्रतीत नही होता है।

पुनश्चः भारतीय परिपेक्ष्य में हृदय–परिवर्तन, जीवन परिवर्तन या आत्मक्षात्कार के संबंध में 'धर्म–परिवर्तन' की संज्ञा प्रदान करने के पीछे एक सबल तर्क भारतीय परंपरा में धर्म शब्द का विशेष अर्थ में प्रयोग होना है। धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है धारण करना।

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः (महाभारत, कर्ण पर्व–69)

पुरातन संदर्भ में चाहे वेद हों या वेदांत, महाभारत हो या मनुस्मृति या श्रीमद् भगवद्गीता–सर्वत्र धर्म शब्द नैतिक विधानों या आदर्शों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

वस्तुतः धर्म शब्द का जितना व्यापक और विविधतापूर्ण प्रयोग भारतीय परंपरा ने किया है, उतना शायद ही किसी ने किया हो। 'धर्म' चूँकि जीवन में मार्ग और लक्ष्य दोनों के अर्थ में प्रयुक्त होता था इसलिए प्रत्येक दार्शनिक अपनी प्रणाली या परंपरा के अनुसार अलग अर्थ दे देता है। शायद यही कारण है कि मानव जीवन में होने वाले उन विभिन्न उर्ध्वगामी अवस्था के लिए धर्म–परिवर्तन की संज्ञा को उचित समझा गया होगा। तार्किक रूप से भले ही इसे उचित माना जा सकता है किन्तु व्यवहारिक रूप से इसे उचित नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि प्रत्येक बार जब हम 'धर्म–परिवर्तन' शब्द का प्रयोग करेंगे तो हमें यह स्पष्ट करने की आवश्यकता होगी कि हम धर्म शब्द का आशय किस प्रकार ले रहे हैं, जो कि व्यवहारिकता के धरातल पर संभव नहीं है।

निष्कर्ष–उपर्युक्त रूप से प्रस्तुत विभिन्न संदर्भाधारित व्याख्याओं द्वारा स्पष्ट है कि 'परिवर्तन' (Conversion) शब्द से संबंधित समस्त दुविधा का कारण इसका विभिन्न संकायों द्वारा प्रयोग में लिए जाना है, यही कारण है कि इसके अर्थ में भी कई विभिन्नतायें देखने को मिलती हैं। जहाँ तक 'धर्म–परिवर्तन' की बात है, यह एक सामाजिक एवं धार्मिक समस्या है जिसका जिक्र हमें धर्म दर्शन के अंतर्गत अनन्यतावाद के दुष्परिणामों के फलस्वरूप देखने को मिलता है। वहीं दूसरी ओर 'धार्मिक–परिवर्तन' एक मनोवैज्ञानिक, एवं दार्शनिक चिंतन का परिणाम है जो धर्म के स्थान पर अध्यात्म से अधिक रूप से निकट है। यह दोनों ही अवधारणायें एक–दूसरे के बिलकुल विपरीत हैं और ऐसा कोई भी स्पष्ट करण दृष्टव्य नहीं होता है जिसके कारण इन्हें एक ही संज्ञा प्रदान की जाए और दुविधा को स्थान प्राप्त हो। इस कारण यही उचित प्रतीत होता है कि Religious Conversion के लिए 'धार्मिक परिवर्तन' शब्द का प्रयोग किया जाए।

संदर्भ

1. James, W., The varieties of Religious Experience, P.-189
2. Pratt, J.B., Religious Consciousness, P.-125
3. सिन्हा, एच.पी., धर्म परिवर्तन की रूपरेखा, पृ. 305
4. सिंह, एस.बी., धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ. 221
5. पाण्डेय, डी., धर्म दर्शन का सर्वेक्षण, पृ. 194
6. शर्मा, एल. एन., धर्म दर्शन की रूपरेखा, पृ. 201
7. Wallden, T., The Great Meaning of Metanoia, P. 4-5
8. James, W., The Varieties of Religious Experience, P.- 203
9. Salzman, L., The Psychology and Ideological Conversion, P.-117
10. Salzman, L., The Psychology and Ideological Conversion, P.-117-18

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

पीटर सिंगर के अनुसार "स्पीशीज़िज्म" : वर्त्तमान संदर्भ में

शिवि सिन्हा *

इस शोध–आलेख में पीटर सिंगर द्वारा उनके प्रसिद्ध पुस्तक एनिमल लिबरेशन के अंतिम तथा छठे अध्याय 'स्पीशीज़िज्म टूडे' में वर्त्तमान समय में 'स्पीशीज़िज्म क्या है?' इसकी चर्चा की गयी है। 'स्पीशीज़िज्म' पीटर सिंगर द्वारा गढ़ा गया एक नवीन शब्द है। जिसका अर्थ उनके अनुसार 'नस्ल–भेद' और 'लिंग–भेद' जैसे शब्दों के अर्थ के तर्ज पर समझ सकते हैं। जिस प्रकार 'लिंग–भेद' में किसी विशेष लिंग के साथ भेद–भाव और 'नस्ल–भेद' में किसी विशिष्ट नस्ल को सर्वोच्च मानकर अन्य नस्ल के व्यक्तियों के साथ भेद–भाव किया जाता है। ठीक उसी प्रकार 'स्पीशीज़िज्म' मानव द्वारा अन्य पशुओं के प्रति किया जाने वाले भेद–भाव का रूप है। पीटर सिंगर का यह मानना है, जिस प्रकार मानव ने नस्ल–भेद, लिंग–भेद, जैसे विचारों से ऊपर उठकर अपने नैतिक क्षितिज को विकसित किया है और 'अश्वेत–मुक्ति आंदोलन', महिला–मुक्ति आंदोलन, जैसी विचारधाराओं को स्वीकार किया है।[1] ठीक उसी प्रकार हम मनुष्यों को अपने नैतिक आकांक्षाओं को दो–कदम और आगे बढ़ाते हुए 'स्पीशीज़िज्म' से ऊपर उठकर 'पशु–मुक्ति' की ओर अग्रसर होना चाहिए। इस शोध–आलेख की व्याख्या निम्नलिखित उप–शीर्षकों के माध्यम से की गई है–

(i) पशु–मुक्ति पर आपत्तियाँ और

(ii) आपत्तियों का उत्तर देने की दिशा में प्रगति।

'स्पीशीज़िज्म' प्रसिद्ध दार्शनिक पीटर सिंगर द्वारा गढ़ा गया एक बिल्कुल नवीन शब्द है। पीटर सिंगर ने 'स्पीशीज़िज्म' की चर्चा अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक

** शोध–छात्रा (यू०जी०सी० नेट, 2017), दर्शनशास्त्र स्नातकोत्तर विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना*

एनिमल लिबरेशन के छठे एवं अंतिम अध्याय 'स्पीशिज़िज्म टूडे' में विस्तारपूर्वक की है। इस अध्याय में सिंगर ने मानव द्वारा पशुओं के प्रति किये गये अत्याचारों की कठोर निंदा करते हुए यह बताया है कि मानव किस प्रकार अपनी तुच्छ और गैर–जरूरी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, गैर–मानवीय पशुओं की जरूरी–से–जरूरी आवश्यकताओं तथा अधिकारों की अवहेलना बड़े ही सरल ढंग से कर जाता है। पीटर सिंगर के अनुसार, यह अध्याय पशु–मुक्ति के प्रति बचाव, युक्तिकरण (रेशनलाईजेशन) और पशु–मुक्ति पर आपत्तियों, तथा उन आपत्तियों पर काबू पाने में हुई प्रगति से संबंधित है। सिंगर का इस अध्याय के विषय में कहना है कि, वह इस अध्याय में वे हर उन तरीकों पर नजर डालने का प्रयास करेंगे जिसमें 'स्पीशिष्ट' प्रथाओं को आज भी बनाये रखा और बढ़ावा दिया जाता है; और उन विभिन्न तर्कों और बहानों पर नज़र डालने का उनका उद्देश्य है, जो अभी भी पशुओं की गुलामी के बचाव में उपयोग किये जाते हैं। सिंगर यह भी कहते हैं कि इनमें से कुछ बचाव इस पुस्तक में अपनायी गई स्थिति के विरुद्ध उठाये गये हैं, और इसलिए, यह अध्याय पशु–मुक्ति के मामले में अक्सर की गयी कुछ आपत्तियों का उत्तर देने का अवसर प्रदान करता है।

पशु–मुक्ति पर पीटर सिंगर के विचारों को हम उनकी पुस्तक प्रैक्टिकल एथिक्स2 के तीसरे अध्याय 'इक्वॉलिटी फॉर ऐनिमल्स' में भी देख सकते हैं। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, यह अध्याय उनकी पुस्तक ऐनिमल लिबरेशन पर आधारित है। इस शोध–पत्र के माध्यम से सिंगर द्वारा स्थापित 'स्पीशीज़िज्म' के सिद्धान्त, उसके अर्थ को समझने तथा वर्त्तमान में 'स्पीशीज़िज्म क्या है' इन सभी बातों को समझाने का प्रयास किया गया है।[2]

स्पीशीज़िज्म क्या है?

शोध–पत्र के इस अंश में हम पीटर सिंगर के अनुसार 'स्पीशीज़िज्म' का अर्थ समझने का प्रयास करेंगे। जैसा कि पहले भी उल्लेख किया गया है, 'स्पीशीज़िज्म' का अर्थ हम 'नस्ल–भेद' तथा 'लिंग–भेद' के तर्ज पर समझ सकते हैं। जिस प्रकार लिंग–भेद के अनुसार, किसी भी लिंग के व्यक्ति के साथ उसके लिंग के आधार पर किया गया भेद–भाव और नस्ल–भेद में किसी विशिष्ट नस्ल को सर्वोच्च मानकर उसे तरजीह दी जाती है तथा अन्य नस्ल के व्यक्तियों के साथ भेद–भाव का व्यवहार किया जाता है। ठीक उसी प्रकार 'स्पीशीज़िज्म' मानव द्वारा अन्य 'स्पीशीज़ों' के प्रति किये जाने वाले भेद–भाव का रूप है।

सिंगर के मत में, समानता के सिद्धान्त को अपने स्पीशीज़ से आगे ले जाने के पक्ष में युक्ति बहुत सरल है। इसके लिए हितों को समान महत्त्व देने के

सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से समझना आवश्यक है। सिंगर के अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि, दूसरों के प्रति हमारी चिंता इस बात पर निर्भर नहीं होनी चाहिए कि उनमें क्या क्षमताएँ हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुछ लोग जो अश्वेत हैं, चूँकि वे श्वेत लोगों के नस्ल के सदस्य नहीं हैं, तो श्वेत लोगों को उन लोगों के शोषण का अधिकार प्राप्त नहीं है। ठीक उसी तरह यदि कोई जीव हमारे स्पीशीज के सदस्य नहीं है, इसका अर्थ ये कदापि नहीं है कि, हमें उनके शोषण का अधिकार प्राप्त है।[3]

सिंगर का मानना है कि, हम हितों की बात करने के लिए कष्ट सहने और सुख अनुभव करने की क्षमता का होना एक पूर्व शर्त्त है। यदि कोई गैर–मानवीय प्राणी पीड़ा में है, तो उसके कष्टों को नज़र अंदाज़ करने का कोई नैतिक औचित्य नहीं हो सकता।[4]

सिंगर के अनुसार, नस्लवादी समता के सिद्धान्त का उल्लंघन उस वक्त कर गुजरते हैं, जब उनके नस्ल और दूसरे नस्ल के व्यक्तियों के हितों के बीच टकराहट होने लगती है। वे अपने नस्ल के सदस्यों के हितों को अधिक महत्त्व देते हैं। उसी प्रकार 'स्पीशीज़वादी' अपने 'स्पीशीज़' और दूसरी स्पीशीज़ के हितों में टकराहट होने पर अपने स्पीशीज़ के हितों को अधिक महत्त्व देते हैं। जैसे कि एक स्पीशिष्ट को किसी मानव के छोटी–सी चोट भी गम्भीर लगती है, किसी चूहे या सूअर के गम्भीर से गम्भीर चोट की तुलना में।[5]

सिंगर के मतानुसार, स्पीशीज़िज्म इतना प्रसरणशील ओर व्यापक दृष्टिकोण है कि, जो लोग इसके एक या दो अभिव्यक्तियों पर हमला करते हैं, वे अक्सर बाकी की चीजों को भूल जाते हैं, जो पशु हितों के विरुद्ध है।[6]

सिंगर का कहना है कि गैर–मानवीय पशुओं की प्रकृति के बारे में हमारी अवधारणाएँ हैं, हम हमारे पशुओं के प्रति व्यवहार को उचित ठहराने के अन्य प्रयासों के आधार के रूप में कार्य करती हैं।[7] मानव पशुओं के स्वभाव को लगातार 'खूंखार' कहते हैं। जिसे वे 'पशु–प्रवृत्ति' की भी उपमा देते हैं। असल में यह मानव की छुपी हुई तथाकथित 'पशु–प्रवृत्ति' ही तो है, जिसका आरोप हम अक्सर पशुओं पर लगाते हैं। अन्य गैर–मानवीय पशु दूसरे जानवरों को तो केवल भोजन के लिए मारते हैं; मगर मनुष्य ही एक ऐसा पशु है जो दूसरे पशुओं को कभी अपने मनोरंजन के लिए खेल–ही–खेल में, कभी अपनी जिज्ञासा पूर्ति हेतु, तो कभी स्वयं के शरीर को सजाने के लिए और कभी अपनी जीभ की लालसा के लिए मारता है। यहाँ तक कि मानव अपने तरह के दूसरे मानवों की हत्या बड़े ही बेरहमी से लालच और शक्ति पाने के लिए भी कर देता है। किन्तु, उनके कृत्य

हत्या तक ही सीमित नहीं रहें। पूरे इतिहास में वे अपने जैसे ही साथ मनुष्यों और अपने साथी जानवरों को मौत के घाट उतारने से पहले पीड़ा और यातना देने की प्रवृत्ति दिखायी है। कोई भी अन्य जानवर ऐसा करने में ज्यादा दिलचस्पी नहीं दिखाते।[8]

सिंगर के अनुसार, बात सिर्फ इतनी है कि गैर–मानवीय पशुओं में न ही चुनाव करने की क्षमता है न ही अपने कर्मों का नैतिक आकलन तो उन पर किसी भी प्रकार के नैतिक दोषारोपन करना निराधार होगा।[9]

सिंगर का कहना है कि हम 'स्पीशीज़िज्म' से बच सकते हैं, यदि हम समता के सिद्धांत को अपना लें। समता या समानता का सिद्धांत इस बात पर बल देता है कि सबके हितों को एक बराबर महत्त्व दिया जाये। समता का सिद्धांत वह बुनियादी सिद्धांत है, जिसके आधार पर नस्ल और सेक्स आदि सम्बंधी भिन्नताओं के बावजूद, लगभग सभी मनुष्यों के लिए समानता का समर्थन किया जा सकता है। सिंगर कहते हैं कि, एक बार मनुष्यों के लिए इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के बाद हम प्रतिबद्ध हो जाते हैं कि यह सिद्धांत इस कुछ गैर–मानवीय पशुओं पर भी लागू करें।[10]

सिंगर ने 'स्पीशीज़िज्म' को कुछ उदाहरणों द्वारा समझाने का भी प्रयास किया है। इस अंश में दो उदाहरणों द्वारा उसकी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है–

(i) भोजन के रूप में पशुओं का उपयोग : इस रूप में पशुओं का उपयोग सर्वाधिक है। अगर देखा जाए तो, भोजन के रूप में पशुओं का उपयोग ही अन्य प्रकार के शोषणों का मुख्य आधार है। इस रूप में पशुओं का उपयोग बहुत ही प्राचीन और व्यापक है। यह इस नैतिकता का आधार है कि पशु हमारे जरूरतों और हितों को पूरा करने के लिए हमारे इस्तेमाल की वस्तुएँ हैं। सिंगर की राय में अगर पशुओं का अपने–आप में महत्त्व है, तो फिर भोजन के रूप में पशुओं का उपयोग करने पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है।

(ii) पशुओं के साथ प्रयोग : सिंगर कहते हैं कि पशुओं के साथ प्रयोग कुछ क्रूर उदाहरणों में से एक हैं। बल्कि, यदि माना जाए तो भोजन के रूप में पशुओं के उपयोग से भी अधिक भयावह है। पशुओं को वस्तु समझ कर उनके साथ ऐसे दर्दनाक प्रयोग किये जाते हैं जिसकी कल्पना भी की नहीं जा सकती है। 'LD^{50} टेस्ट' और 'ड्रेज टेस्ट' जैसे प्रयोगों में ऐसे जहरीले पदार्थों का सेवन जोड़–जबरदस्ती से करवाया जाता है। जिनसे वे अपनी आँखों की रौशनी, सुनने की शक्ति इत्यादि क्षमताएँ खो देते हैं। यहाँ तक उनकी मृत्यु भी हो जाती है।

वो भी मानव की अनावश्यक जरूरतों की पूर्ति के लिए जैसे कि झुर्रियाँ हटाने के लिए 'बोटोक्स कॉस्मैटिक' ट्रिटमेंट'। ज्यादातर प्रयोग बेमतलब के साबित होते हैं, जो मानव के उपयोगी नहीं होते। फिर भी निरर्थक रूप से ये प्रयोग पशुओं के साथ दुनिया भर में चल रहें हैं।

ये तो 'स्पीशीज़िज्म' के एक–दो उदाहरण हैं, ऐसी कई चीजें हैं जो और भी ज्यादा बुरा है।

वर्त्तमान समय में स्पीशीज़िज्म

पीटर सिंगर गैर–मानवीय पशुओं के प्रति हमारी अवधारणा के बारे में जो कहते हैं, वह उल्लेखनीय है। उनका मानना है कि, हमारी पशुओं के प्रति जो वर्त्तमान में धारणा है, वह बहुत ही कम उम्र में आकार लेना शुरू कर देती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि, यह काफी हद तक इस तथ्य से प्रभावित हैं कि हम कम उम्र से ही मांस खाना शुरू कर देते है। दिलचस्प बात तो यह है कि, जिस समय बच्चों में कुत्ते, बिल्लियों जैसे जानवरों और प्यारे–मुलायम जानवरों के प्रतिरूप वाले खिलौने (सॉट टॉयज) के प्रति स्वाभाविक प्रेम विकसित होने लगता है जिसे हमारा समाज प्रोत्साहित करता है; उसी समय माता–पिता द्वारा जागरूक प्रयास किए जा रहे हैं जो सामाजिक अनुरूपताओं द्वारा प्रबलित हैं। पीटर सिंगर का यह मानना है मानव का यह विश्वास की अन्य पशुओं की तुलना में मानव–संबंधित मुद्दे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और उन्हें अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए, अन्य गैर–मानवीय पशुओं के हितों को गम्भीरता से लेने के विरूद्ध एक प्रसिद्ध पूर्वाग्रह है।[11]

पीटर सिंगर का इस विषय में कहना है कि यह पूर्वाग्रह एक ऐसी पूर्वाग्रह है जिसमें गोरे–मालिकों द्वारा अपने अफ्रीकी गुलामों के हितों को गम्भीरता से लेने के खिलाफ है। वो उससे बेहतर नहीं है। सिंगर यह बताते हैं कि, हमारे लिए अपने दादाओं के पूर्वाग्रहों की आलोचना करना आसान है, जिनसे हमारे पिताओं ने स्वयं को मुक्त किया था। हमारे द्वारा धारण किए गए विश्वासों और मूल्यों के बीच पूर्वाग्रहों की खोज करना अधिक कठिन है। सिंगर के अनुसार, यह जरूरी है कि हम बिना ऐसी पूर्वमान्यता के, यह मुद्दा हमारे ध्यान देने योग्य नहीं है, उस ओर जाने के लिए तैयार रहें, जिधर हमारी युक्तियाँ हमें ले जाती हैं।[12]

हालाँकि, अब के समय में सिंगर की राय में, 'पशु–मुक्ति' अभियान को पहले के मुकाबले, जब सिंगर के पुस्तक एनिमल लिबरेशन (1975) का सर्वप्रथम प्रकाशन हुआ था, तब से लेकर अब तक काफी सफलता मिली है। पुस्तक के प्रकाशन के के बाद लोगों की मानसिकता में बदलाव भी देखें गए हैं। कई देशों

में पशुओं को व्यक्ति होने का दर्जा भी दे दिया गया है। कई बड़ी–बड़ी औद्योगिक एवं कॉस्मेटिक कम्पनियों ने जैसे की रेवलॉन 'द बॉडी सॉप' इत्यादि ने अपने उत्पादों के लिए किए जाने वाले पशुओं पर प्रयोग तथा उनका उपयोग दोनों पर ही रोक लगा दी हैं। ऐसे कई विकल्प भी ढूँढ निकाले है, जिनमें पशुओं का उपयोग नहीं किया जाता है। लोग अब पहले की तुलना में ज्यादा जागरूक हो चुके हैं। कई देशों में पशुओं के संरक्षण के लिए खासकर उन जीवों के लिए, जो विकास के स्तर पर मनुष्यों के पूर्वज रह चुके हैं जैसे कि चिम्पांजी, गोरिल्ला, बनोबो इत्यादि।[13]

पशुओं का सर्वाधिक उपयोग उनके मांस का सेवन करने के लिए किया जाता है। अब कई सारे मांसाहारी भोजनालय भी, शाकाहारी भोजन का विकल्प रखने लगे हैं। दिन प्रतिदिन पशु–मुक्ति में प्रगति हो रही है। नए–नए लोग जुड़ रहें है। जिन्होंने क्रूरता को अपने दैनिक जीवन में सीमित करने का प्रयास किया है।

पर सिंगर की राय में हम अभी भी पशुओं की सही मायने में मुक्ति की विचारधारा से कोसों दूर हैं। सिंगर का कहना है कि यह पूर्णतया हम पर निर्भर करता है कि, हम इस प्रश्न का उत्तर किस प्रकार देते हैं– यह इस बात पर निर्भर करता है कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से इसका उत्तर किस प्रकार देता है।[14]

पशु–मुक्ति पर आपत्तियों और आपत्तियों का उत्तर देने की दिशा में प्रगति

(i) हम यह कैसे जानते है कि पशुओं को भी दर्द होता है?

इस आपत्ति का उत्तर देते हुए सिंगर कहते हैं कि हम कभी भी किसी दूसरे प्राणी के दर्द का प्रत्यक्ष या सीधा अनुभव नहीं कर सकते, चाहे वह प्राणी मनुष्य हो या नहीं। हम इन बातों को एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं; जब किसी बच्ची को चोट लगती है, तो हम उसके व्यवहार को देखते हुए, जैसे की रोना, चोट की जगह को रगड़ना आदि, यह समझ सकते है कि उसे चोट लगी है और वह दर्द महसूस कर रही है। हम ऐसा इसलिए कह सकते हैं क्योंकि ठीक वैसी ही परिस्थिति होने पर हमनें समान व्यवहार किया होता है या करते हैं। इस बात से हम समझ सकते है कि बच्ची को दर्द महसूस हो रहा है। पशुओं को दर्द होता है, इस विश्वास का आधार भी उपर्युक्त वर्णित विश्वास के आधार जैसा ही है। यदि हम चोट लगने पर रोने, चोट की जगह रगड़ने आदि का व्यवहार को मिलाकर यह मान सकते हैं कि बच्ची को चोट लगने पर दर्द महसूस होता हैं,

चूँकि समान परिस्थिति में हम स्वयं वैसा व्यवहार करते हैं, तो यह कहना उचित होगा कि जब जानवरों को दर्द महसूस होता है, तो वो भी बहुत कुछ वैसा ही व्यवहार करते हैं, जैसे इंसान दर्द होने पर करते हैं।

इस बात को आधार देने के लिए सिंगर एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान दिलाते है कि सभी रीढ़दार पशु (वर्टेब्रेट) खास तौर पर स्तनपायी जीव और पक्षियों के तंत्रिका तंत्र (नर्वस सिस्टम), मूलरूप से समान हैं। मानव तंत्रिका तंत्र (नर्वस सिस्टम) के वे हिस्से जो दर्द महसूस करने से संबंधित हैं, विकासवादी दृष्टि से उपेक्षाकृत पुराने हैं। मानव के 'प्रमस्तिश्क–प्रान्तस्था' (सेरेब्रेल कॉरटेक्स) का विकास तो बाद में हुआ है, हमारे पूर्वज अन्य स्तनधारियों से अलग हुए। परन्तु जो बुनियादी तंत्रिका तंत्र (नर्वस सिस्टम) है; यह कहा जा सकता है कि सभी रीढ़दार पशुओं में एक समान है, खासकर बड़े आकार के जीवों में। यह शारीरिक समानता यह संभावना बनाती है कि रीढ़दार पशुओं के दर्द महसूस करने की क्षमता हमारे दर्द महसूस करने की क्षमता के समान है।

सिंगर का कहना यह भी है कि गैर–रीढ़दार (इनवर्टेब्रेट) पशुओं और मनुष्यों के नर्वस सिस्टम के बीच कम समानताएँ हैं, इसलिए उनके विषय में हम पूर्ण विश्वास के साथ नहीं कह सकते है कि उन्हें दर्द होता है। सीप या शुक्ति (ऑयस्टर), शंबुक या कौड़ी (मसल्स), जैसे जीवों में दर्द अनुभव करने की या किसी किस्म की चेतना होने की सम्भावना कम लगती है। अतः सिंगर के अनुसार, हितों को समान महत्त्व देने का सिद्धान्त उन पर लागू नहीं होगा। साथ ही साथ, सिंगर कहते हैं कि कुछ गैर–रीढ़दार पशु हैं जैसे की ऑक्टोपस, केकड़े उनमें कम से कम चेतना का तो विकास हुआ है।

सिंगर एक और बात पर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं कि जिस प्रकार के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि पशुओं को भी मानव जैसा ही दर्द महसूस होता है, वैसा हम पेड़–पौधों के विषय में नहीं कह सकते। पेड़–पौधों में हम इस किस्म का व्यवहार नहीं देखते हैं, जिससे यह मालूम कर सकें कि उन्हें भी दर्द महसूस होता है। इसके अलावा उनमें तंत्रिका तंत्र (नर्वस सिस्टम) का भी अभाव है।[15]

(ii) पशु एक–दूसरे को खाते हैं, तो फिर हम उन्हें क्यों न खाएँ?

यह बहुत सरल और लोकप्रिय आपत्ति है जो प्रायः स्पीशीजवादियों द्वारा पशु–मुक्ति के विरुद्ध बोले गए हैं। पीटर सिंगर इस आपत्ति का उत्तर देते हुए कहते हैं कि अधिकांश पशु भोजन के लिए अन्य पशुओं को मारते हैं। क्योंकि वे वैसा किये बिना जीवित नहीं रह सकते। परन्तु, मनुष्यों के साथ ऐसा नहीं है।

मनुष्यों को जीवित रहने के लिए अन्य पशुओं का मांस खाने की आवश्यकता नहीं है। सिंगर के अनुसार, दूसरी बात जो बहुत विचित्र है कि, यूँ तो मानव स्वयं को बुद्धिमत और अन्य उनके व्यवहार को 'जघन्य होने' की संज्ञा भी देता है। परन्तु, सुविधानुसार ऐसी युक्ति का इस्तेमाल करता है, जिसका निहितार्थ यह है कि मनुष्य अपना नैतिक–मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए अन्य पशुओं की ओर देखता है, जिन्हें वह अपने से निम्न मानता है। सिंगर के विचार में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि, गैर– मानवीय पशुओं में इतनी समझ नहीं होती कि उनके सामने क्या विकल्प हैं– कि वे अपने आहार के नीतिशास्त्र के विषय में सोंच सकें। इसलिए यह बिल्कुल गलत होगा कि जानवरों को उनके व्यवहार के लिए जिम्मेवार माना जा सके और न ही इस प्रकार का निर्णय दिया जा सकता है। चूँकि वे अन्य जानवरों को मारते हैं, इसलिए वे इसी योग्य है कि उनके साथ भी वैसा ही व्यवहार हो। परन्तु मनुष्यों में यह क्षमता है कि वे अपने आहार–सम्बंधी आदतों के औचित्य के बारे में सोच सकें। अतः मनुष्य अन्य पशुओं की नकल कर, जो कि किसी भी नैतिक निर्णय को लेने में असमर्थ हैं, अपनी नैतिक जिम्मेवारियों से नहीं मुकर सकते।[16]

(iii) मानव और पशुओं के बीच अंतर

पीटर सिंगर इस आपत्ति का उत्तर बड़े ही सरल ढंग से देते हैं। इस बात में कोई शंका नहीं कि मानव गैर–मानवीय पशुओं से कई गुणा ज्यादा विकसित है। वह अपने लिए और साथ–साथ अन्य जीवों के लिए भी नैतिक, सामाजिक इत्यादि, जैसे निर्णय ले सकता है। पर कोई भी गैर–मानवीय पशु ऐसा नहीं कर सकते। सिंगर के अनुसार, "दर्द तो दर्द होता है। हम किसी जीव को केवल इसलिए यातनाएँ दें क्योंकि वे मानसिक या शारीरिक तौर पर विकसित नहीं है, तो यह उस जीव के प्रति अन्याय और अनैतिकता का प्रयोग है। यदि मानसिक क्षमता ही आधार है, तो उल्लेखनीय है कि, हम ऐसा व्यवहार पागलों, शारीरिक और मानसिक रूप से विकृत मनुष्यों तथा छोटे बच्चों के साथ तो नहीं करते। इनमें भी, पशुओं के भाँति यह क्षमताएँ नहीं होती कि वे अपना चुनाव स्वयं कर सकें या फिर नैतिक निर्णयों को समझ सकें। तो फिर उनके साथ ऐसा क्यों? केवल इसलिए कि वह प्राणी हमारे 'स्पीशीज़' का नहीं है। हमें उनके शोषण का अधिकार प्राप्त है।[17]

मनुष्यों में भी मानसिक विभिन्नताएँ पायी गयी है, तो किसी विशिष्ट प्रकार का गुण इस बात का आधार कभी नहीं हो सकता कि मानव पशुओं को दुःख और कष्ट पहुँचाए।

निष्कर्ष एवं सुझाव

उपर्युक्त किये गये व्याख्या में हमने देखा कि पशु–मुक्ति से संबंधित सिंगर के विचार रोचक एवं विचारोत्तेजक है। हमने इस शोध–पत्र में 'स्पीशीज़िज्म' के पक्ष–विपक्ष में कुछ युक्तियों की भी चर्चा की है। सिंगर का 'स्पीशीज़िज्म' पर विचार, परम्परागत रूप से चल रहे पशुओं को साधन रूप से उपयोग करने के प्रचलन को निश्चय ही चुनौती देता है। पशुओं के प्रति मानव का जो व्यवहार सदियों से चला आ रहा है, वह न सिर्फ क्रूर है, बल्कि अनैतिक भी है। सिंगर के अनुसार, मनुष्यों और अन्य पशुओं के बीच सीमा रेखा खींचने के पीछे की छुपी पूर्वाग्रह को समझने की आवश्यकता है। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि इस शोध–पत्र का ध्येय न केवल सिंगर के विचारों को प्रकट करना है। बल्कि ऐसी विचारधाराएँ जो अन्य पशुओं के हितों की मानव के हितों की अपेक्षा तुच्छ एवं अनावश्यक मानते हैं, उसको समाप्त करने में सहायक साबित हों। आज हमने इस आधुनिक युग में चाहे जितनी भी प्रगति कर ली हो, परन्तु हमारी आस–पास के गैर–मानवीय जीवों के प्रति जो भावना है, उनमें बदलाव लाने की जरूरत है। केवल इसलिए कि अन्य जीव हमारी तरह बुद्धिमत नहीं है, तो वे मानव द्वारा तिरष्कृत हों, उनका शोषण किया जाए। उन्हें भी दर्द या उत्साह होता है, जो हम उनके व्यवहार जैसे कि चोट लगने पर वेदना भरी आवाज में रोना या फिर अच्छा भोजन देखकर उसकी ओर लपकना। आज बड़े–बड़े उद्योगपति, अभिनेता–अभिनेत्रियाँ, मॉडल, खिलाड़ी पशुओं के हितों के लिए और पशु–मुक्ति के समर्थन के लिए आगे आ रहे हैं।

हमने इस शोध–पत्र में यह भी देखा है, कि पशुओं का शोषण ज़्यादातर उनके मांस के लिए या उनके द्वारा उत्पादों जैसे कि दूध और अंडों के लिए किया जाता है। अभी भी हम पशु–मुक्ति को पूर्णतया सम्भव करने से कोसों दूर हैं, परन्तु हमारे छोटे–छोटे प्रयासों द्वारा हम पशुओं पर हो रहे अत्याचारों और उनके कष्टों को कुछ हद तक दूर कर सकते हैं। यदि हम मांस, अंडों और दूध जैसे खाद्य पदार्थों का सेवन त्याग करने में सफल हो जाते हैं, तो समझ लें कि हमने उनके आधे से अधिक कष्टों का निवारण कर दिया है। आज बाजार में इन खाद्य पदार्थों के भी विकल्प मौजूद हैं, जो सेहत के लिए लाभकारी भी है, जैसे सोयाबीन का दूध, सोयाबीन, इत्यादि। यदि स्वास्थ्य की दृष्टि से देखा जाये तो शाकाहारी व्यक्ति मांसाहारी व्यक्तियों के बदले ज्यादा स्वस्थ एवं दीर्घायु पाये गये हैं। मांसाहार करने से कोलेस्ट्रोल, दिल की बीमारी, जैसी बीमारियाँ अधिक तीव्रता से बढ़ती है। केवल स्वाद के लिए मांसाहार करना बुद्धिमता कहीं से भी

नहीं है, इसके अलावे यह मानव का नैतिक एवं कानूनी दायित्व भी है कि, हम अपने आस–पास के जीवों के लिए भी सोचें। यदि ऐसा करने में हमारा समाज असफल होता है, तो फिर मानव के नैतिक होने और पशुओं के नीतिशून्य होने में ज्यादा अन्तर नहीं है। जरूरत है तो अब अपने नैतिक आकांक्षाओं को थोड़ा और ऊँचा उठाने की। जिस प्रकार हमने लिंग–भेद और नस्ल–भेद से ऊपर उठकर अपने नैतिक क्षितिज का विकास किया और 'महिला–मुक्ति आंदोलन' तथा 'अश्वेत–मुक्ति आंदोलन को अपनाया है, अब जरूरत है कि हम 'पशु–मुक्ति' की ओर भी अग्रसर हों।

संदर्भ

1. पीटर सिंगर, ऐनिमल लिबरेशन, (यूनाईटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिकाः हार्पर्स एंड कॉलिंस पब्लिकेशन, चौथा संस्करण, 2009).
2. पीटर सिंगर, प्रैक्टिकल एथिक्स (कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 2011).
3. वही, पृ०–49.
4. वही, पृ०–50.
5. वही, पृ० 50–51.
6. पीटर सिंगर, ऐनिमल लिबरेशन, पृ०–224.
7. वही, पृ०–222.
8. वही, पृ०–224.
9. पीटर सिंगर, प्रैक्टिकल एथिक्स, पृ०–48.
10. वही.
11. वही, पृ०–49.
12. पीटर सिंगर, ऐनिमल लिबरेशन, पृ०–245.
13. वही, पृ०–247.
14. वही, पृ०–248.
15. पीटर सिंगर, प्रैक्टिकल एथिक्स, पृ०–60.
16. वही, पृ० 60–61.
17. वही, पृ०–66.

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

भारतीय राष्ट्रवाद का एक आध्यात्मिक सिद्धांत : एक पृष्ठावलोकन

पंकज कुमार *

जैसा की हम सभी जानते हैं भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ चलने वाला एक महान और लम्बा संघर्ष था। राष्ट्रवाद इसकी मुख्य विचारधारा और हथियार था। जिसकी मदद से इस संघर्ष को संचालित किया गया। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के संदर्भ में भारतीय राष्ट्रवाद दो प्रमुख विचारों का प्रतिनिधित्व करता था –

1. साम्राज्यवाद विरोध और 2. राष्ट्रीय एकता। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो, कोई भी शख्स, आन्दोलन या संगठन इन दोनों विचारों को साथ लेकर चलता है उसे राष्ट्रवादी माना जाता था।

लेकिन एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि राष्ट्रवाद केवल भारतवर्ष तक सीमित नहीं था। यह केवल एशिया और अफ्रीका के देशों तक सीमित नहीं था जो विदेशी शासन के मातहत (अधीन) आने के बाद उससे छुटकारा पाने के लिए संघर्ष किए। राष्ट्रवाद सही मायने में एक वैश्विक अवधारणा थी जो दुनिया के बहुत सारे देशों में उभरी और अपनी मौजूदगी का एहसास कराया।

ऐसा कहा जाता है कि आधुनिक विश्व में राष्ट्रवाद सबसे मजबूत राजनीतिक ताकत था। इसने अपने आपको राजनीतिक विचारधारा, आन्दोलन, विश्वास, व्यवस्था एवं भावना और एक जुनून के तौर पर पेश किया। बड़ी संख्या में कहानियां, कविताएं, उपन्यास और साहित्य राष्ट्रवाद को विषय बनाकर लिखे गए। ऐसा लगता है कि राष्ट्रवाद क जटिल अवधारणा है जो बिल्कुल अलग और विपरीत परिस्थितियों में सामने आया है। यूरोप के विकसित औद्योगिक समाज और एशिया और अफ्रीका के अविकसित समाज दोनों राष्ट्रवाद के जादू से नहीं

** शोध–छात्र, दर्शनशास्त्र विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार)*

बच सके। ऐसे समाज जिनके बीच बहुत कम चीजें साझी थी फिर भी तकरीबन उसी समय (18वीं–20वीं) राष्ट्रवादी अवधारणा की परिधि में आए। अगर भारतीय संदर्भ में अवलोकन करे तो, ब्रिटिश शासन का मुख्य लक्ष्य था भारत में ब्रिटेन के हितों को प्रसारित और सुरक्षित करना। भारत में इस मिशन को पूर्ण करने के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में विभिन्न नीतियों को लागू किये जाने से ब्रिटिश शासन के विरूद्ध असंतोष और अखिल भारतीय राष्ट्रवाद के विचार का जन्म हुआ। ब्रिटिश शासन के प्रारंभिक सौ वर्ष में भारत के संसाधनों की लूट की वजह से भारत में बड़े अकाल पड़े। निश्चिय ही अकाल भारत के लिए नया नहीं था, परंतु उन अकालों के कारण प्राकृतिक आपदाएँ नहीं थीं। ब्रिटिश शासन के दौरान अकाल मानव निर्मित थे जिनका कारण ब्रिटिश सरकार की शोषणकारी नीतियाँ थीं। जैसे में – भू–राजस्व प्रणाली, कृषि के वाणिज्यीकरण, धन की निकासी और वि–औद्योगिकीकरण ने किसानों तथा जनजातियों पर नाकारात्मक प्रभाव डाला, जिन्होंने 18वीं तथा 19वीं सदी के दौरान भारत में विभिन्न भागों में विद्रोह किया। रोचक तथ्य यह रहा कि भारत में, भारतीय समाज के विभिन्न भागों में लगभग सौ विद्रोह हुए ।

हालांकि ये विद्रोह किसी केंद्र विशेष से जुड़े नहीं थे, न ही उनका कोई केन्द्रीय नेतृत्व था, न ही ये ब्रिटिश शासन के विस्तार को रोकने में सफल हो पाए, किंतु इन विद्रोहों ने निश्चित रूप से ब्रिटिश शासन के प्रति भारतीयों की भावना को व्यक्त किया। 1857 के महान विद्रोह को सत्ताच्युत राजाओं और असंतुष्ट सैनिकों तथा पीड़ित किसानों के संचित विस्फोट के रूप में देखा जाता है। इस महान विद्रोह को सैनिक विद्रोह के रूप में भारतीय समाज में जाना जाता है। हालांकि ब्रिटिश इस विद्रोह को दबाने में सफल रहे, किंतु इस विद्रोह ने एक राष्ट्रीय भावना की शक्तिशाली अभिव्यक्ति के निर्माण में सफलता प्राप्त की, जिसे अभी एक संगठित रूप प्राप्त करना था। जो आगे चलकर भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के रूप में राष्ट्रवाद की अवधारणा के रूप में समस्त भारतीयों के जनमानस के रूप में प्रकट हुई। जिसका प्रतिनिधि सभी भारतीय लोगों ने की ।

भारतीय राष्ट्रवाद का ऐतिहासिक विवेचना : सर्वप्रथम भारतीय राष्ट्र के आधुनिकता पर खासतौर पर दृष्टिपात किया जाये। चूंकि भारत पुरानी सभ्यता वाला समाज है, जिसका सदियों पुराना अनवरत इतिहास है, लेकिन भारतीय राष्ट्र एक आधुनिक परिघटना है। अतीत में भारत के विशाल भू–भाग पर कई बड़े साम्राज्यों का शासन रहा है जैसे – मौर्य, गुप्त, मुगल और फिर ब्रिटिश। तथा इन राजवंशों के शासन की निरंतरता ने पूर्व आधुनिक काल के दौरान भारतीय पहचान को बनाने में बड़ी सहायता की। यह कहना सही नहीं होगा कि 19वीं

सदी से पहले किसी तरह का कोई भारतीय राष्ट्र था। इसलिए जहां एक भारतीय समाज या भारतीय सभ्यता निश्चित रूप में अस्तित्व में था। वहीं भारतीयों के राष्ट्रीय समुदाय के रूप में कोई पहचान नहीं थी। 19वीं तथा 20वीं सदी में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शर्तों के अंतर्गत भारतीय राष्ट्रवाद के विचार द्वारा एक भारतीय राष्ट्र की संकल्पना सामने आयी। परंतु ये सभी बातें आंशिक सत्य है, पूर्ण सत्य नहीं है, क्योंकि भारतीय राष्ट्रवाद की अवधारणा राज आधारित नहीं अपितु संस्कृति आधारित है। भारत में राष्ट्रवाद की अवधारणा की एक पुरातन परम्परा है जो वैदिक युग से चली आ रही है । इतिहास का रोचक तथ्य यह है कि, ''राष्ट्र के रूप में भारत का निर्माण न केवल समान भाषा के अधिकार पर हुआ और न तो इसके भू–भाग पर एक राजनैतिक सत्ता के निरन्तर अस्तित्व के कारण, बल्कि इसका आधार सदियों से विकसित हुई एक समान संस्कृति के कारण हुआ ।''[1]

इस संदर्भ में एनीबेसेन्ट की मत प्रासंगिक है। ''1915 ई. में उन्होंने यह लिखा है कि भारत में राष्ट्रीयता का जन्म आर्यों के आगमन के साथ ही हुआ था और साहित्य, परम्परा, धर्म एवं लोक भाषाओं ने इसको पुष्ट किया।''[2] हालांकि एनी बेसेंट ने यह भी कहा है कि, मुसलमानों के भारत आगमन से राष्ट्रीय एकता में व्यवधान आया। भारतीय और मुसलमान उनके समय तक एक राष्ट्र नहीं बन सके थे, परंतु उनके राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया त्वरित गति से चल रही थी।

पंडित नेहरू जी ने कहा है–''राष्ट्रवाद मूलतः अतीत की उपलब्धियों, परम्पराओं तथा अनुभवों का सामूहिक स्मृति है।''[3] महिर्ष अरविंद के अनुसार, ''हमारे राष्ट्रवाद का अर्थ सनातन धर्म है। सनातन धर्म के साथ हिन्दू राष्ट्र का जन्म हुआ। इसी के साथ यह पल्लवित पुष्पित हुआ। जब सनातन धर्म का क्षय होता है तो राष्ट्र का भी क्षय होता है।''[4] अतः भारत का राष्ट्रवाद मूलतः सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ही है, जो मूलतः संस्कृति से अनुप्राणित है। परंतु इन सब प्रमाणों के बावजूद ब्रिटिश विद्वानों का मानना है कि भारत राष्ट्र न कभी था और न कभी हो सकता है। इस संदर्भ में ब्रिटिश विद्वान जॉन स्ट्रेची ने अपनी पुस्तक में लिखा है, ''भारत को समझने के लिए पहला तथा सबसे जरूरी चीज है – कोई भारत था ही नहीं या भारत नामक देश का कोई अस्तित्व रहा ही नहीं, यूरोपीय विचारों के आधार को अपनाते हुए उन्होंने कहा कि किसी भी तरह की एकता, भौतिक, राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक यहाँ है ही नहीं भारत राष्ट्र नाम की कोई चीज नहीं है ।''[5]

इसी तरह जॉन सेली ने अपनी पुस्तक में लिखा है, ''भारत नाम राष्ट्र की कल्पना एक भूल पर आधारित है तथा राजनीतिक विज्ञान का लक्ष्य इसे नष्ट कर देने का होता है । भारत कोई राजनीतिक नाम नहीं है, बल्कि सिर्फ यूरोप या

अफ्रीका की तरह एक भौगोलिक अभिव्यक्ति है। यह एक राष्ट्र के भू–भाग तथा एक भाषा को रेखांकित नहीं करता है, बल्कि यह कई राष्ट्रों तथा भाषाओं के भू–भाग को दर्शाता है।''[6] इन शब्दों में व्यापक रूप से भारतीय राष्ट्र की अंतर्निहित असंभावना को उभारा गया । भारत सिर्फ एक 'भौगोलिक अभिव्यक्ति' के रूप में चिहिन्त किया गया। भारत पर ब्रिटिश औपनिवेशिक बहस भारत की संस्कृति, भाषायी तथा धार्मिक विविधता पर जोर देती थी तथा इस विविधता को भारतीय राष्ट्रवादिता के विकास में एक बड़ी बाधा के रूप में देखती थी। इस तरह की बातों पर प्रतिक्रिया करने का तरीका अतीत में भारतीयों की पौराणिक एकता की तरफ लौटना हो सकता था।

इतिहासकार बिपिन चंद्र लिखते हैं – ''भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को शुरू करने वाले 19वीं सदी के बौद्धिकों ने कभी भी ब्रिटिश सरकार के इस रूख से इन्कार नहीं किया कि भारत कभी राष्ट्र नहीं था। वे लगातार स्वीकार करते रहे कि भारत अभी तक एक सामान्य इतिहास, भूगोल तथा सामान्य संस्कृति के तत्वों के बिना एक राष्ट्र के रूप में निर्मित नहीं हो सकता था।''[7] ''वे यह भी स्वीकार करते थे कि राष्ट्र तथा राष्ट्रवाद अतीत में भी भारत में वजूद में नहीं थे। वे इस बात को मानते थे कि भारत में बहुल पहचान का अस्तित्व है तथा भारत में एकरूपता नहीं है । वे यह भी स्वीकार करते थे कि राष्ट्र कोई स्वाभाविक या अनिवार्य परिघटना नहीं है, बल्कि एक ऐतिहासिक सृजन है । लेकिन वे इस बात से इन्कार करते थे कि भारत एक राष्ट्र नहीं हो सकता।''[8]

19वीं सदी के भारतीय चिंतकों के चिंतन की एक महत्वपूर्ण विशेषता राष्ट्र तथा सभ्यता के बीच फर्क करना था भारतीय राष्ट्र की नवीनता को उभारना था। वे उदाहरण स्वरूप कहते थे भारत की सभ्यता बहुत पुरानी है, लेकिन यह एक नया राष्ट्र है। स्वामी विवेकानंद ने 1896 ई. में कहा था, ''भारत विभिन्न प्रजातियों के बावजूद एक राष्ट्र बन रहा है ।''[9]

19वीं सदी का भारतीय नेता लगातार नया राष्ट्र, नया भारत, नवीन राष्ट्रीय भावना, राष्ट्रीयता के विकास इत्यादि को इंगित करते रहे हैं। संभवतः भारतीय विविधता तथा राष्ट्रवाद से इसे जोड़ने वाले सबसे शानदार बयान महात्मा गाँधी की तरफ से आया, जिन्होंने अपनी साप्ताहिक पत्रिका हरिजन में 1940 में लिखा है, ''भारत एक बड़ा देश और विशाल राष्ट्रवाद है, जो विभिन्न संस्कृतियों से बना है, जो एक दूसरे से मिलकर बने हैं तथा सभी एक दूसरे के पूरक हैं। अगर मैं इस प्रक्रिया के पूर्ण होने का इंतजार कर सकूं, तो हमें अवश्य इंतजार करना चाहिए। यह पूर्णता हमारे जीवन काल में तो पूरी नहीं होगी। लेकिन मैं इस विश्वास के साथ मरना पंसद करूँगा कि ऐसा अपने समय के पूर्ण होने के बाद

संभव हो पायेगा।''[10] गाँधी जी की इस अभिव्यक्ति से साफ है कि भारतीय राष्ट्रवादी नेतृत्व इस बात को पूरी तरह स्वीकार करते थे कि भारत का एक राष्ट्र के रूप में बनने की प्रक्रिया काफी लंबी थी तथा पूरी होने में प्रयासरत था। हालांकि 20वीं सदी में कुछ भारतीय नेताओं ने इस बात को कहना शुरू कर दिया कि भारतीय राष्ट्र निरंतर रहा है तथा भारतीय इतिहास में इसकी मौजूदगी हमेशा से रही है। वे भारत अतीत तथा उसकी परंपरा को भी गौरवान्वित करते थे तथा उन्हें भारत के वर्तमान पर उसके प्रभाव को हमेशा दर्शाते रहे हैं।

राष्ट्रवादी चिंतक राधाकुमुद मुखर्जी ने अपनी पुस्तक 'फडामेंटल यूनिट ऑफ इंडिया' में लिखा है 'भारत महान था और प्राचीन काल से ही एक था।' आगे लिखते हैं, ''शुरूआती समय से ही एक भौगोलिक एकता की भावना मौजूद थी और यहाँ तक की राष्ट्रवाद का विचार पहले से ही भारत में था।''[11]

हर बिलास सारदा ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू सुपिरियारिटी' में लिखा है, ''अभी तक फले–फूले राष्ट्रों में प्राचीन हिन्दू सबसे महान राष्ट्र था।''[12] लाजपत राय (1865–1928) ने अपनी पुस्तक 'यंग इडिया' में इस बात पर जोड़ दिया कि ''बुनियादी तौर पर भारत पिछले 2000 साल से एक राष्ट्र है।''[13]

सुभाष चंद्र बोस ने अपनी पुस्तक 'इंडियन स्ट्रगल' में कहा है कि ''अंतहीन विविधताओं के बाद भी भारत 'बुनियादी एकता' का मालिक है।''[14] स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपने महान वक्तव्य में कहा था, 'वेदों की ओर लौटो', यह वाक्य भी सनातन राष्ट्रवाद का प्रतीक है। इसी कड़ी में वैलेंटाइन चिरोल ने अपनी पुस्तक में कहा है–''भारत विभिन्न प्रकार के राष्ट्रों का निवास स्थल है और भारत में यूरोप के मुकाबले अलग–अलग ज्यादा किस्म की भाषाएँ बोली जाती है।''[15] इस तरह भारतीय राष्ट्रवाद की विशेषताएँ है, जो राष्ट्रवाद के ऐतिहासिक एवं सामान्य प्रारूप को पुष्ट करती है ।

श्री अरविंद की दृष्टि में राष्ट्रवाद : 19वीं शताब्दी कें उत्तरार्द्ध तथा 20वीं के प्रारम्भिक में भारतवासियों में जिस सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक चेतना का उदय हुआ था, उसके लिए पुनर्जागरण आन्दोलन के नेताओं के अथक प्रयास किया था। भारत में राजनीतिक सामाजिक, धार्मिक क्षेत्र में जिस चेतना का अभ्युदय हो रहा था वह एक नवीन चेतना थी उसी नवीन चेतना में, उसी समय श्री अरविंद का महान व्यक्तित्व भारतीय राजनीतिक मंच पर अवतरित हुए। श्री अरविंद अपने दार्शनिक विचारों में राजनीतिक और धर्म दोनों को अलग–अलग प्रयोग ना करके धार्मिक–राजनीतिक की बात करते हैं। उन्होंने अपने विचारों में धर्म एवं राजनीति का संगम करके एक नवीन धारा को जन्म देते हैं। उनके राजनीतिक, धार्मिक दर्शन का दिव्य प्रसार ही धर्म और राजनीति के अपूर्व

गंठबंधन पर निर्मित उनके राजनीतिक धर्म–प्रमाणित राजनीति थी। शायद यही कारण है कि हम उन्हें 'आध्यात्मिक राजनीति' के प्रणेता मानते हैं। चूंकि श्री अरविंद के दर्शन में जिस राष्ट्रवाद का उल्लेख है वह मूल रूप से आध्याात्मिकता पर आधारित है। श्री अरविंद के अनुसार मानव एकता के आदर्श को यह स्वीकार करना चाहिए कि आध्यात्मवाद ही इकलौता सुरक्षा कवच है तथा राजनीतिक रूप से महान बनने और उन्मूक्ति प्राप्त करने हेतु महान और उन्मूक्त होना आवश्यक है। श्री अरविंद ने राष्ट्र और राष्ट्रीयता की संलकल्पना को एक वृहद दृष्टिकोण प्रदान किया है। श्री अरविंद के अनुसार राष्ट्रयीता एक आध्यात्मिक बल है, जो सदैव विद्यमान रहती है और इसमें किसी प्रकार का क्षरण नहीं होता है। श्री अरविंद राष्ट्रवाद को सच्चा धर्म मानते हैं और राजनीतिक स्वतंत्रता को ईश्वरीय कार्य की संज्ञा देते हैं। श्री अरविंद बड़े ही उदातपूर्ण भाव से कहते हैं 'राष्ट्र क्या है' ? 'हमारी राष्ट्रभूमि क्या है' ? यह कोई भूमि का टुकड़ा, भाषा का अलंकार या मन की कहानी नहीं ''भारत माता एक शक्ति है, जो सैकड़ों देशवासियों की शक्ति से मिलकर बनते हैं जिस शक्ति को हम भारतवर्ष या भवानी कहते हैं, वह भारत के करोड़ों लोगों कि जीवित जागृति शक्ति है।''[16]

अतः श्री अरविंद का कथन है–'राष्ट्रवाद महज एक राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है, बल्कि राष्ट्रवाद एक धर्म है, जिसका श्रोत ईश्वर है।' श्री अरविंद का लक्ष्य था एक आध्यात्मिक समाज की स्थापना करना और उनका मानना था कि एक पूर्ण समाज अपूर्ण व्यक्तियों द्वारा नहीं बन सकता एवं बिना आध्यात्म के व्यक्ति की पूर्णता संभव नहीं है। यही कारण है कि श्री अरविंद 'धर्म को' भारतीय लोकतंत्र का मूल बताया है, जिसे पूरे भारत को एकता के सूत्र में बांधने के बाद ही प्राप्त किया जा सकता है। चूंकि प्राचीन काल से ही भारत में भौतिक उत्कर्ष की अपेक्षा आध्यात्मिक उत्कर्ष अधिक महत्व प्रदान किया गया था। श्री अरविंद के विचारों पर प्राचीन धार्मिक ग्रंन्थों का प्रर्याप्त प्रभाव पड़ा था। ऐसी परिस्थिति में यह सर्वथा स्वाभाविक ही था कि उनको विचार धर्म से अनुप्रमाणित हो। श्री अरविंद ने उग्र राष्ट्रवाद व हिन्दुत्व के बीच संबंध स्थापित किया। श्री अरविंद तथ्यपूर्ण बातें करते हुए कहते हैं कि ''स्वाधीन भारत लकड़ी या पत्थर का टुकड़ा नहीं है जिस छेनी चलाकर राष्ट्रवाद की मूर्ति तैयार की जा सके। वो अपने चाहने वालों के हृदय में निवास करता है और उन्हीं में से उसका उत्थान होगा।''[17]

आगे श्री अरविंद के अनुसार राष्ट्रवाद, नागरिकों के ह्रदय में निवास करता है। इसी राष्ट्रवाद के कारण ही देश का उत्कर्ष संभव है। श्री अरविंद ने कहा ''राष्ट्रीयता एक अवतार है और उसका वध नहीं किया जा सकता। राष्ट्रीयता परम प्रभु की भेजी हुए दिव्य शक्ति है, ताकि वो श्री भगवान की ओर का रास्ता

दिखाए।''[18] श्री अरविंद आगे यह भी कहते हैं कि राष्ट्र का विकास जीवन उत्सर्ग के अदम्य साहस से ही संभव है। ''जो राष्ट्र राष्ट्रीय तौर पर आत्म बलिदान करने का सामर्थ्य रखता है, उसका भविष्य सुरक्षित है।''[19] राष्ट्र का विकास एक ऐसी प्रगति है जो आधुनिक अवस्था में मानवता के लिए अत्यंत आवश्यक है क्योंकि मनुष्य की स्वार्थ की, परिवार के स्वार्थ की तथा वर्ग के स्वार्थ की जिनकी गहरी जड़े, आजतक भी अतीत में जमी हुई है, अब विशालतर राष्ट्रीय आत्मा में अपने आप को विलुप्त कर देना आवश्यक है । जिससे कि मानव जाति में भगवान का क्रम विकास हो सके। इसलिए राष्ट्रवाद इस युग का धर्म है और भगवान हमारी सार्वजनिक भारत माता के रूप में अपने आप को व्यक्त कर रहा है। श्री अरविंद ने कहा था कि ''तुम्हें देशों और राष्ट्रों की तरह प्रगति करने की जरूरत नहीं है, तुम्हें उनकी तरह दूसरों को दबाने और कुचलने की जरूरत नहीं है, तुम्हें उठना है ताकि तुम दुनिया का भार उठा सको।''[20] आगे कहते हैं, वह ज्ञान जिसे ऋषियों ने पाया था अर्थात सनातन ज्ञान ही सारे संसार को देना होगा। तुम अपने जीवन को, अपने राष्ट्र के जीवन को भगवान के कामों के लिए उपयुक्त बनाओ। तब तुम देखोंगे कि हमने केवल राष्ट्रीयता स्वाधीनता ही नहीं प्राप्त की बल्कि सारे संसार के लिए भगवान द्वारा नियम किए गए काम में भाग लिया है।

अतः श्री अरविंद ने भारत को एक महान राष्ट्र में रूपांतरित होने की कामना और कल्पना की। गाँधी जी की मृत्यु के बाद श्री अरविंद ने रेडियों प्रसारण के माध्यम से कहा था, ''इस देश के भाग्य में लिखा है कि यह एक हो और महान हो।''[21] आगे श्री अरविंद ने कहा है, ''भातर माता अपने बच्चों को अपने चारों ओर इकट्ठा करके एक महान राष्ट्रीय शक्ति और संगठित प्रजा के रूप में गढ़ेगी।''[22] श्री अरविंद ने भारत राष्ट्र को गढ़ने के लिए धर्म को महत्वपूर्ण उपादान कहा है। राष्ट्र के निर्माण में राजनीति की भूमिका अपेक्षाकृत सीमित है। धर्म विराट है। श्री अरविंद ने कहा है कि हमें केवल सरकार का रूप बदलने के लिए तैयारी नहीं कर रहे हैं, हम एक राष्ट्र को गढ़ना चाहते हैं। राजनीति तो इसका एक छोटा सा भाग है। अपने आप को सीमित नहीं रखना चाहते हैं। श्री अरविंद ने आशा प्रकट की है कि भारत राष्ट्र कभी विलुप्त नहीं हो सकता है। यह राष्ट्र विश्व में सर्वोत्तम भूमिका का निर्वाह कर सकेगा। ''भारत नष्ट नहीं हो सकता। हमारी जाति समाप्त नहीं हो सकती, क्योंकि मानव जाति के भविष्य के लिए बहुत आवश्यक है। उसे सबसे ऊंची और शानदार भूमिका के लिए चुना गया है।''[23]

''भारत वर्ष से ही संसार का धर्म निकलेगा, वह शाश्वत सनातन धर्म जो सब धर्मों में, विज्ञान तथा दर्शन में समन्वय करेगा और मानव जाति को एक अन्तरात्मा बनायेगा।''[24]

विभिन्न भारतीय महापुरूषों के दृष्टि में राष्ट्रवाद : भारत के अनेकानेक महान महापुरूषों ने भारतीय राष्ट्रवाद की अवधारणा को उन्नत एवं विकसित करने में अपने सम्पूर्ण जीवन को उत्सर्ग कर पुरातन परम्पराओं को नवीन रूप में पुष्पित एवं पल्लवित कर विकसित किया। चूंकि भारतीय परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रवाद एक प्राचीनतम प्रवृति है। सभ्यता संस्कृति के उषाकाल में राष्ट्रवाद का जन्म भारत में हुआ है, ऐसा माना जाता है। हालांकि कुछ समय के लिए मंद गति हो गया था। परंतु भारत माता के नवीन उत्साहपूर्ण सपूतों ने पुनः अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर स्थापित एवं प्रकाशित किया। जैसे में– मातृमंत्र के दृष्टा बंकिम चंद्र चटर्जी, वेदांतधारित राष्ट्रवाद के उग्रदुत विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, महान कर्म योगी लोकमान्य तिलक, महान क्रांतिकारी श्री अरविंद, गुरूदेव रविन्द्र नाथ टैगोर, अहिंसा के पुजारी गाँधी जी, भूदान के प्रणेता विनोबा भावे, एकात्म मानववाद के पुजारी पंडित दीनदयाल उपाध्याय आदि।

(1) मातृमंत्र के द्रष्टा बंकिमचन्द्र चटर्जी – राष्ट्रीय भावनाओं के विकास और राष्ट्र के अतीत के प्रति गौरव भाव जागृत करने में उस समय बंकिमचन्द्र चटर्जी का महत्वपूर्ण योगदान रहा, जब पश्चिम का दासतापूर्ण अन्धानुकरण हमारे देश के शिक्षित वर्ग की सर्वमान्य जीवन पद्धति बन चुका था और राष्ट्र की संस्कृति व परम्परा की भारी अवमूल्यन हो रहा था। बंकिमचन्द्र चटर्जी देश में उदीयमान राष्ट्रवाद को शक्ति, गरिमा एवं सृजनात्मक भाव बोध प्रदान करने का अथक प्रयास किया। बंकिमचन्द्र चटर्जी का प्रमुख कार्य राष्ट्रवाद को धर्म की महिमा से मंडित करना था। वे इस तथ्य से पूर्णतः अवगत थे कि धर्म के समान भारतीयों के हृदय को अन्य कोई चीज आंदोलित नहीं कर सकती। उन्होंने राष्ट्र भक्ति का एक लोकोत्तर गुण के रूप में उदात्तीकरण किया और उसे सर्वोच्च धर्म के रूप में प्रस्तुत किया। उनकी यह मान्यता था कि राष्ट्रवाद के प्रति भारतीयों की उदासीनता की सहजात भावना पर उनके सम्मुख नवीन आदर्श प्रस्तुत करके ही विजय प्राप्त की जा सकती है। बंकिमचन्द्र चटर्जी ने अपनी रचनाओं में, ''राष्ट्रीय परम्परा एवं इतिहास के प्रति आदर एवं गौरव की भावना से परिपोषित, राष्ट्रीय नैतिक आदर्शों के सुदृढ़ ताने–बाने से निर्मित, देश की मिट्टी में बद्धमूल राष्ट्रवाद का चित्रण किया''।[25]

मातृभूमि के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करने का जनसाधारण को आह्वान करते हुए उन्होंने राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक शक्ति प्रदान की। उनके दर्शन में महत्ता की दृष्टि से ईश्वर के पश्चात् राष्ट्र का स्थान है। अपने सुप्रसिद्ध कृति 'आनन्दमठ' में उन्होंने देश भक्ति की गाथा का प्रस्तुतिकरण इस रूप में किया कि वह देशवासियों को विद्युत संचार की भांति उत्साहयुक्त बनाने वाला सिद्ध

हुआ। इस तरह भारत की दीर्घकालीन पराधीनता के कारणों का मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय दृष्टि से गहराई से विश्लेशण किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि राष्ट्रवाद को एक आध्यात्मिक आदर्श के रूप में किए बिना, मातृभूमि को उपास्य देवी के रूप में प्रस्तुत किये बिना भारतीयों की जड़ता का निवारण संभव नहीं है।

(2) वेदांतधारित राष्ट्रवाद के उग्रदूत विवेकानंद : उपनिषद की अमृतवाणी के उद्‌गाता स्वामी विवेकानंद 19वीं सदी के संध्याकाल में भारत के राष्ट्रीय रंगमंच पर तेजस्वी गुणों से परिपूर्ण, एक महान मार्गदर्शक पथप्रदर्शक विचारक के रूप में उभरते हैं। विवेकानंद का वेदांत दर्शन और उसका प्रचार समूची भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक युगान्तकारी और विलक्षण घटना थी। भारत के संस्कृति इहिास के अध्ययन के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतवासी अपने मूल धार्मिक ग्रंथ वेदांत के उदात्त आदर्शों के अनुकूल स्वंय को ढ़ाल ले तो मनुष्यों को विभाजित करने वाली सभी बाधाओं को वे निवारण कर सकते हैं। स्वामी विवेकानंद ''वेदांत को व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्त करने के रूप में नहीं, बल्कि राष्ट्रीय मुक्तिमार्ग, पुनर्जागरण और पुर्ननिर्माण की विचारधारा के रूप में लोगों के सम्मुख प्रस्तुत किया।''[26] विवेकानंद इतिहास और तत्कालीन परिस्थितियों का विश्लेषण कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि, ''संसार के इतिहास पर दृष्टि डालो, तुम देखोगे कि सर्वत्र छोटे–छोटे सुगठित राष्ट्र बड़े–बड़े असंगठित राष्ट्रों पर शासन कर रहे हैं क्योंकि छोटे संगठित राष्ट्र अपने भावों को आसानी के साथ केन्द्रीभूत कर सकते हैं। दूसरी ओर जितना बड़ा राष्ट्र होगा, उतना ही संगठित करना कठिन होगा।''[27] शायद यही कारण है कि हमारा राष्ट्र परतंत्र के बंधन में है। आगे विवेकानंद कहते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों से कुछ भी ग्रहण करने के पहले, उसे अपनी राष्ट्रीयता के रंग में रंग लेना चाहिए।

विवेकानंद ने यह भी कहा था, प्रत्येक राष्ट्र को अपनी मुक्ति का मार्ग स्वंय बनाना चाहिए और कोई दूसरा उनकी समस्याओं को नहीं सुलझा सकता है। राष्ट्र को आत्म विश्वास जाग्रत करना होगा। हर एक राष्ट्र का विश्व के लिए एक ध्येय होता है और जबतक वह ध्येय आक्रांत नहीं होता, तबतक वह राष्ट्र जीवित रहता है। चाहे जो संकट क्यों न आये पर ज्यों ही वह ध्येय नष्ट हुआ कि राष्ट्र भी ढ़ह जाता है। शायद इसलिए विवेकानंद कहते हैं 'भारत राष्ट्र का ध्येय धर्म है।'

इस संदर्भ में उनका कहना था कि ''धर्म की इस राष्ट्र (भारत) के हृदय का मर्मस्थल, मेरूदण्ड और नींव है। जिस पर राष्ट्र रूपी इमारत खड़ी है।''[28] अतः हमारे राष्ट्र की जीवनी शक्ति धर्म में केन्द्रीभूत है । विवेकानंद मूलभूत बातों को

इंगित करते हुए बताते हैं कि भारत राष्ट्र का ईश्वर पर गहरा विश्वास है। इसी आस्था पर इस देश ने शताब्दियों से विदेशी आक्रमणों का सामना किया था।

विवेकानंद तथ्य पूर्ण बातें की ओर इशारा करते हैं कि अगर हम लोग राष्ट्रीय गौरव के शिखर पर आरोहण करना चाहते हैं, तो हमें इस विदेशी भाव को दूर फेंक देना होगा तथा पाश्चात्य देशों के मौलिक गुणों को ग्रहण करना होगा। यहाँ स्वामी जी पूरी शिद्धत भाव से कहते हैं, ''भारत में राष्ट्रीय एकता बिखरी हुई आध्यात्मिक शक्तियों के एकीकरण से संभव होगी। भारत में राष्ट्र इन लोगों का संघ होना चाहिए जिनके हृदय समान आध्यात्मिक स्वर लहरी से स्पान्दित होते हैं।''[29]

विवेकानंद ने दूरदर्शिता दृष्टि के भाव से कहा था कि भारत राष्ट्र अध्यात्म क्षेत्र में वर्तमान में भी अग्रणी है और अंत में कहा था ''भारतीय राष्ट्र कभी नष्ट नहीं हो सकता। यह अमर है। और उस समय तक टिका रहेगा, जबतक इसका धर्म भाव अक्षुण्ण रहेगा।''[30] मेरे प्यारे भारतवासियों ''तुम सब लोग एकमन हो जाओ, सब लोग एक ही विचार के बन जाओ, क्योंकि प्राचीनकाल में एक मन होने के कारण ही देवताओं ने हविर्भाग पाया था। देवता मनुष्य द्वारा इसीलिए पूजे गए क्योंकि वे एक चिन्त थे। एक मन हो जाना ही समाज के गठन का रहस्य है।''[31]

(3) राष्ट्रीय संचेतना के पुरोधा महर्षि दयानंद सरस्वती : राष्ट्रीय चेतना को जगाने वाले एवं भारतीय नवजागरण के सूत्रधार और पुरोधा, आर्यावर्त के धरा पर एक महान मनीषी एवं युगद्रष्टा महापुरूष महर्षि दयानंद सरस्वती थे, जिनके अतुलनीय तप, त्याग एवं बलिदान से भारतीय समाज में सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय नवजागरण का सूत्रपात किया । साथ ही वैदिक संस्कृति के महान उद्गाता एवं वेद मर्मज्ञ, महान समाज सुधारक, आदर्श ज्ञान तथा संस्कृत साहित्य के मंत्रदृष्टा ऋषि थे। स्वामी जी भारत को प्राचीन नाम से पुकारते थे। वे कहते हैं 'आर्यावर्त' भारतवर्ष का प्राचीन नाम है। आर्य लोगों अर्थात श्रेष्ठ लोगों का निवास के कारण इसका नाम आर्यावर्त पड़ा। स्वामी दयानंद सरस्वती ने भारत को संसार के सब देशों में उत्तम बताया है। स्वामी जी कहते हैं यह आर्यावर्त देश ऐसा देश है जिसके समान भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है ।

स्वामी जी ने भारत के पतन का कारण वैभव बढ़ने से उत्पन्न दोषों को पतन का कारण माना है। साथ ही अन्याय, अत्याचार, मांसाहार, शराब का सेवन, सामाजिक बुराईयों जैसे बाल विवाह और आपसी फूट को कारण माना है। वैदिक शिक्षा की कमी को पतन का मुख्य कारण मानते हुए उन्होंने लिखा है कि महाभारत के बाद वेद विद्या का प्रचार खत्म होने से लोगों में ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान,

आपस में बैर आदि होने से चक्रवर्ती राज्य नष्ट हो गया। ब्राह्मण लोगों में भी वेदोक्त शिक्षा न होने के कारण अन्य वर्ण भी शिक्षा रहित हो गए।

इससे विभिन्न प्रकार के पाखण्ड और मत चल पड़े। ब्राह्मण लोगों ने आजीविका के लिए नकली शास्त्र ऋषियों के नाम पर चलाए। इससे सम्पूर्ण भारत का पतन हो गया। इसके आगे स्वामी जी कहते हैं, भारत पर विदेशी शासन के मुख्य कारणों में से एक आपसी फूट, मतभेद, विषयाशक्ति था। इसीलिए स्वामी जी ने सारे भारतवासियों को आह्वाहन किया कि, 'वेदों की ओर लौटो', 'भारत भारतीयों के लिए' है तभी भारतवर्ष के लोगों का कल्याण है और अपनी महान ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखते हैं, ''चाहे कोई कितना की क्यों न करे स्वदेशी राज्य सर्वोपरि होता है।''[32]

इस तरह ऋषि दयानंद सरस्वती राष्ट्रीय भावना और जनजागृति को, क्रियान्वित रूप देने में प्रयत्नशील थे।

(4) महान कर्मयोगी लोकमान्य तिलक : चार दशकों का महान उद्देश्य राजनैतिक कष्टप्रद जीवन, जिसका लक्ष्य था राष्ट्र मुक्ति के उपायों की खोज वाला तेजस्वी कर्मयोगी व्यक्तित्व बाल गंगाधर तिलक की प्रसिद्धि 'लोकमान्य' के रूप में थी। वे आधुनिक भारत के महानतम कर्मयोगीयों में से है। वैदिक तथा दार्शनिक शोध के रूप में अद्वितीय रचनाओं के द्वारा उन्होंने भारत के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक इतिहास में महानतम अंश तथा कीर्ति प्राप्त की थी। इनका भारत के राजनीतिक इतिहास में ही नहीं बल्कि इस देश के पुनर्जारण के इतिहास में भी चिरस्थाई स्थान प्राप्त है। वे एक कट्टर राष्ट्रवादी थे। उनका राष्ट्रवाद स्वामी विवेकानंद की भांति पुनरूत्थानवादी था। वे चाहते थे कि भारत एक महान शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में संगठित हो, एक हो और स्व प्रचण्ड एकीकृत और केन्द्रीय शक्ति के रूप में एक धारा में बहे। स्वामी विवेकानंद की भांति तिलक भी राष्ट्र को सशक्त बनाने हेतु निवृति परकता जन्य जड़ता को समाप्त कर भारतवासियों को प्रवृत्ति प्रधान बनाना आवश्यक मानते थे इसके लिए उन्होंने कर्मयोग को गीता का प्रधान संदेश मानते हुए उसको व्याख्या इस रूप में की कि राष्ट्र मुक्ति के यज्ञ की सफलता के लिए प्रेरित हो सके और अपना जीवन राष्ट्र को समर्पित कर सके। चूंकि तिलक जी का मानना था कि हमारा राष्ट्र भारत देश हमेशा से एक महान राष्ट्र रहा है। अतः राष्ट्र की गरिमा एवं गौरव की परम्परा को बनाएं रखने के लिए हम सबों को सतत कार्यशील रहना होगा। आगे लोकमान्य तिलक ने भारत की आध्यात्मिक एकता व सांस्कृतिक परम्परा की श्रेष्ठता को सुढ़ृढ़ करने के लिए राजनैतिक क्षेत्र में आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की अवधारणा को प्रतिपादित किया गया। एस.सी. सिंगल के अनुसार ''राष्ट्रवाद

आधुनिक संसार का एक नवीन धर्म है।''[33] धर्म को राष्ट्रीयता का एक तत्व बताते हुए उन्होंने कहा है कि वैदिक युग में भारत एक महान राष्ट्र के रूप में संगठित था उस एकता का लोप ही हमारी अधोगति का कारण बना। दयानंद सरस्वती भी यही बातें कहा करते थे। अतः वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर हमारी राजकीय व सामाजिक स्थिति सुधारने हेतु एक निष्ठा से अपने स्वार्थ पर ध्यान न देते हुए सतत परिश्रण करना ही हमारा धर्म है। शायद इसी पवित्र भाव से राष्ट्रीय एकता को संगठित एवं सबल करने के लिए गणेशोत्सव परंपरा की नींव रखी, जो वर्तमान भारत (महाराष्ट्र) में महान राष्ट्रीय पर्व है। इसी तरह लोकमान्य तिलक का प्रसिद्ध वाक्य 'राज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।' सारे भारत वासियों के लिए चरितार्थ कार्य किए जो भारतीय इतिहास में अक्षुण्ण है।

(5) गुरूदेव रविन्द्रनाथ टैगोर : भारत वर्ष के एक महानतम सपूत रविन्द्र नाथ टैगोर 'राष्ट्रगान' के लेखक, अंतर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व और पहचान, राष्ट्रवाद के संदर्भ में अपना दृष्टिकोण विशिष्ट चिंतन, गहन विश्लेषणात्मक रूप से प्रस्तुत करते हैं। गुरूदेव ने 'राष्ट्रवाद' के स्वरूप और उसके राजनैतिक अनुप्रयोग पर गंभीरता पूर्वक विचार किया है। रविन्द्र नाथ टैगोर कहते हैं, मानवीय उदारता, करूणा और प्राणी मात्र के प्रति सदभावना के बिना राष्ट्रवाद अधुरा है। भले की प्रत्येक व्यक्ति अपने देश को विश्व समुदाय का सिरमौर होते हुए देखना चाहता है, किन्तु उस स्थान को हथियाने या उस पर बने रहने के लिए अपनी मानवीयता को दरकिनार कर देना उचित नहीं है।''[34] आगे रविन्द्र नाथ टैगोर कहते हैं, ''परस्पर बंधुत्व, शांति, आपसी सद्भावना एवं पूरी दुनियां के प्राणियों के कल्याण के भाव के बिना राष्ट्र चाहे जितनी तरक्की कर जाये, वह हमेशा असुरक्षित और असंतुष्ट ही रहेगा।''[35]

गुरूदेव के अनुसार राष्ट्रवाद की सच्ची भावना उसके व्यापक मानवतावादी सरोकारों में निहित है, न कि किसी की राजनैतिक कुटिलता और राजनीति में। तत्कालीन दौर में कट्टर राष्ट्रवाद, जिसका नेतृत्व पश्चिमी मूल्क कर रहे थे, टैगोर उस शोषण आधारित राष्ट्रवाद के विरोध में खड़े नजर आते हैं। वे कहते हैं–''भारत में कभी भी राष्ट्रवाद की वास्तविक भावना नहीं रही है। यद्यपि मुझे बचपन से यही शिक्षा दी गयी थी कि राष्ट्र की आराधना, ईश्वर और मानवता की भक्ति करने से भी बेहतर है, फिर भी मुझे लगता है कि मैं इस शिक्षा से आगे निकल चुका हूँ और मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मेरे देशवासी भी ऐसी शिक्षा के विरूद्ध उठ खड़े होंगे, जो यह सिखाती है कि देश, मानवता के आदर्शों से भी बड़ा होता है।''[36] मैं किसी राष्ट्र के विरूद्ध नहीं हूँ, बल्कि सभी राष्ट्रों की अवधारणा के विरूद्ध हूँ। रविन्द्र नाथ टैगोर कहते हैं, मेरा राष्ट्र से तात्पर्य है–

''सभी लोगों को संगठित शक्ति । संगठन का जोर हर समय इस बात पर रहता है कि सभी लोग शक्तिशाली और समर्थ बने। शक्ति और सामर्थ्य प्राप्त करने के बाद ये अति उत्साही प्रयास मनुष्य की ऊर्जा को सोख लेते हैं और इसे उच्च नैतिक स्तर, जहाँ वह आत्मबलिदानी और रचनात्मक होता है, से नीचे ले आते हैं।''[37] इस प्रकार मनुष्य की त्याग करने की शक्ति अपने नैतिक एवं उच्चतर लक्ष्य से भटक जाता है, और संगठन, जो कि यांत्रिक है, के रख–रखाव में लग जाती है। वह इसी में नैतिक उत्कर्ष का अनुभव करने लगता है और इसीलिए मानवता के लिए बेहद खतरनाक हो जाता है। वह अपनी अंतरात्मा की आवाज से विमुख हो जाता है क्योंकि वह अपनी जिम्मेदारियों को एक ऐसी मशीन को स्थातांरित कर देता है जो वस्तुतः उसकी बुद्धि की उपज है, उसके सम्पूर्ण नैतिक व्यक्तित्व की नहीं। इसी युक्ति से स्वतंत्रता पसंद करने वाले लोग भी विश्व के एक बड़े भाग में दास प्रथा को प्रोत्साहित करने लगे हैं और उन्हें इस बात का अहंकार भी होता है कि वे अपने कर्त्तव्य का निर्वहन कर रहे हैं। परंतु वास्तव में नैतिकता एवं मानवता का पतन हो रहा होता है। रविन्द्र नाथ टैगोर कहते हैं, ''राष्ट्रवाद एक बहुत बड़ा संकट है यह वर्षों से भारत में कई समस्याओं की मूल वजह रहा है।''[38] हम एक ऐसी राष्ट्र के अधिन और शासित रहे हैं जो अपने व्यवहार में पूरी तरह राजनैतिक है, अपने अतीत की समृद्ध विरासत के वाबजूद हमने अपने मन में संभावित राजनैतिक नियति को लेकर एक विश्वास पैदा करने का प्रयास किया है। अपने वक्तव्य के अंत में कहते हैं, ''मेरी नजर में भारत को एक ऐसे रचनात्मक कार्य की सर्वाधिक जरूरत है जो उसके भीतर से पनपे। इस कार्य में हमें सभी जोखिम उठाने होंगे और वे सभी कर्त्तव्य करने होंगे जो अधिकार से हमारे हैं, भले ही उत्पीड़न की बेड़ियों में जकड़े हों, अपनी असफलताओं और कष्टों से पार पाते हुए हम हर चरण पर नैतिक जीत हासिल करेंगे''[39]। इस तरह रविन्द्र नाथ टैगोर अपनी विशिष्ट संदेश से समस्त मानव लोगों से कहना चाहते हैं कि राष्ट्रावाद में नैतिकता, आध्यात्मिकता एवं मानवीय मूल्य नहीं हो वह समस्त प्राणियों के लिए संकटपूर्ण है।

(6) अहिंसा के पुजारी गाँधी जीः–महात्मा गाँधी की गणना मानव इतिहास के महानतम विभूतियों में होती है। गाँधी जी का व्यक्तित्व एवं योगदान के अनेक पहलू हैं–एक विशिष्ट जन नेता, समाज–सुधारक, शांतिवादी और सबसे बढ़कर सत्य तथा अहिंसा का एक मसीहा थे। गाँधी जी अहिंसा, शांति, भाईचारा तथा सहिष्णुता के लिए जिए, संघर्ष किया तथा इन्हीं आदर्शों के लिए अपना जीवन भी दे दिया। उन्होंने भारतवर्ष में अहिंसक राष्ट्रवाद के रूप में उपवास, धरना, असहयोग, हड़ताल, बहिष्कार एवं अनशन आदि नवीन तकनीक अपनाकर

तथा राजनैतिक गतिशीलता की अवधारणा में नए आयाम जोड़ दिए। इसके अलावा राष्ट्रीय शिक्षा, स्वराज्य, सांप्रदायिक एकता एवं स्वतंत्रता उनके राष्ट्रवाद के महत्वपूर्ण तत्व रहे हैं। वसुधैव कुंटुबकम भी उनके राष्ट्रवाद का प्रमुख तत्व रहा है। गाँधी जी के राष्ट्रवाद की खासियत सांस्कृतिक स्वराज्य रहा है। राष्ट्रीय भाषा की वकालत, राष्ट्रीय शिक्षा पर बल देना, सांप्रदायिक एकता को प्रोत्साहित्य करना और स्वदेशी अपनाने पर जोर देना, ये सभी इसकी पुष्टि करते हैं। यही वजह रही कि छुआ–छुत के उन्मूलन, स्वदेशी आन्दोलन को प्रोत्साहन, खादी का प्रचार–प्रसार, मद्यनिषेद, महिला सशक्तिकरण जैसी रचनात्मक कार्यक्रमों को उन्होंने अपने स्वराज्य आंदोलन में शामिल कर लिया था। इसलिए राजनैतिक के साथ–साथ सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, स्वराज्य भी गाँधी के राष्ट्रवाद के महत्वपूर्ण अंग रहे। इतिहास साक्षी है कि राष्ट्रवादी संघर्ष विश्व में जहाँ भी हुआ, शस्त्र उसके माध्यम से बने थे। हिंसा और हत्या का आयोजन राष्ट्रवाद के अभिक्रम और अभियान से अभिन्न रहे हैं। गाँधी जी ने इतिहास की इस प्रवृत्ति में ही परिवर्तन कर दिया था । गाँधी जी के अनुसार, राष्ट्रवाद के संदर्भ में भारत की भूमिका पश्चिम से अधिक परिष्कृत तथा प्रमाणित है। पश्चिम के राष्ट्रवादी देशों ने अन्य राष्ट्रों को कुचला है, लूटा है, जकड़ा है। ''बड़े–बड़े राष्ट्रों को सम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं, तथा भूमंडल के असत्य या अर्धसत्य कहे जाने वाले राष्ट्रों के शोषण को छोड़कर अपने जीवन क्रम को सुधारना पड़ेगा।''[40]

गाँधी जी ने कहा था कि दुनिया के बड़े राष्ट्र जबतक अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं को नहीं छोड़ते, तबतक स्थायी शांति असम्भव है।''[41] गाँधी जी ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में कहा था, ''मैं अपने देश की स्वतंत्रता इस कारण चाहता हूँ कि अन्य राष्ट्र मेरे राष्ट्र से कुछ सीख सके, मेरा राष्ट्रवाद उप–अंतर्राष्ट्रवाद है ।''[42] चूंकि गाँधी जी का राष्ट्रवाद संघर्ष विदेशी दास्ताँ से मुक्ति के लिए नहीं बल्कि लोगों की राजनीतिक, सामाजिक तथा इन सबसे बढ़कर नैतिक प्रगति के लिए भी है। राष्ट्रवाद की सार्थकता, परम्परागत तथा विवेकपूर्ण आदर्शों के आचरण में है। जिससे नागरिकों की आत्मा जाग्रत और प्रकाशित हो। शायद इसीलिए गाँधी जी लिखते हैं, ''मैं भारत का उत्थान इसलिए चाहता हूँ कि जिससे सम्पूर्ण विश्व का हित हो सके।''[43] ''मैं भारतवर्ष का उत्थान दूसरे राष्ट्र के विनाश पर नहीं चाहता। मैं उस देशभक्ति की निंदा करता हूँ जो हमें दूसरे राष्ट्रों के शोषण तथा मुसीबतों से लाभ उठाने के लिए उत्साहित करती है।''[44] गाँधी जी तथ्यपूर्ण बातें कहते हैं कि, ''हमारा राष्ट्रवाद दूसरों के लिए कभी संकट का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि जिस तरह हम किसी को अपना शोषण नहीं करने देंगे, उसी तरह हम भी किसी का शोषण नहीं करेंगे।''[45] अतः स्वराज्य

के द्वारा हम समस्त मानव जाति की सेवा करेंगे। इस तरह गाँधी–विचार के अनुसार राष्ट्रवाद धर्म है, जो मानव निष्ठा के आधार पर देश–काल और समाज के अनुकूल आदर्शों और आचरणों या संस्कृति स्वभाषा तथा स्वतंत्रता आदि की अपेक्षा करता है।

निष्कर्ष : भारतवर्ष की संस्कृति और सभ्यता प्राचीनतम है। संसार के सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद की ऋचाओं के अध्ययन से अनुमान लगाया जाता है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता की उस युग में क्या स्थिति थी। उसके अध्ययन से उस युग के भारतीय ज्ञान–विज्ञान, संस्कृति और सभ्यता की उत्कृष्टता का पता लगता है। इन अध्ययनों के माध्यम से हम पाते हैं कि सांस्कृतिक और धार्मिक दृष्टि से हमारा देश आदि काल से ही सम्पूर्ण भूखण्ड पर्यन्त एक था। आवागमन के साधनों के अभाव में भी लोग देश के एक सिरे से दूसरे सिरे की तीर्थ यात्रा किया करते थे। सम्पूर्ण भारतीय भूखण्ड के निवासियों के आचार, धर्म, संस्कृति एक सूत्र में बँधे हुए थे और भारत एक राष्ट्र के रूप में था। भारतवर्ष की राष्ट्रीयता के संबंध में भारतवर्ष की संस्कृति, धर्म और सभ्यता से प्रभावित महान विदुशी डॉ. एनी बेसेन्ट ने कहा था कि, ''काश्मीर से कन्याकुमारी तक विस्तृत भारतवर्ष में केवल एक राष्ट्र एवं उसकी राष्ट्रीयता ही संभव है। यद्यपि प्राचीन काल में भारतवर्ष में अनेक राज्य थे, परंतु वे एक चक्रवर्ती राजा के अधीन थे। सभी छोटे–बड़े राज्यों के उपर एक राजा का नियंत्रण था। इस प्रकार अत्यंत प्राचीन काल से ही भारत में एक राष्ट्र की भावना विद्यमान थी।''[46] हालांकि इस संदर्भ में पश्चिमी विद्वानों का अभिमत एवं धारणा है कि भारत देश में राष्ट्रवाद की अवधारणा नहीं है। चूंकि भारतीय समुदाय की आपसी एकता एवं सामंजस्य के अभाव में भारतवर्ष गुलाम था। फिर भी भारत में राष्ट्र की भावना अंर्तनिर्हित था। इस संदर्भ में भारत के अनेकानेक संत, राजनेता एवं शिक्षाविद् अपना–अपना मत अभिव्यक्त कर चुके हैं। जैसे में श्री अरविंद कहते हैं–''राष्ट्रवाद महाशक्ति है, जो राष्ट्र का निर्माण करने वाली कोटि–कोटि जनता की सामुहिक शक्तियों का समष्टि रूप है। यह एक धर्म है यह अजर–अमर है। राष्ट्रीयता को दबाया नहीं जा सकता है।''[47]

उन्होंने यह भी कहा है कि–''मनुष्य की सहज प्रवृत्ति 'लघु' से 'बृहद' इकाई बनाने की होती है। परिवार, ग्राम, नगर, राज्य, साम्राज्य आदि इसी लघु से बृहत इकाई के निर्माण की प्रक्रिया के द्योतक है।''[48] प्रकृति का यह सहज नियम है कि विश्व में परमाणु से अणु और अणुओं से सृष्टि और ब्रह्माण्ड की रचना होती है। अनंततः श्री अरविंद कहते हैं, ''अंतिम राष्ट्रवाद का परिणाम विश्व राज्य की स्थापना होना चाहिए, जो स्वतंत्र राष्ट्रों का महासंघ होगा।''[49] अतः जब भारतीय राष्ट्रवाद की अवधारणा प्रबल हुई, भारतीय एकता में एकनिष्ठता जागी तो हमारा

भारत राष्ट्र बंधनों की बेड़ियों को तोड़ते हुए, दुनिया को एक नई धारा देते हुए, सनातन स्वरूप में एक नवीन शरीर के साथ विश्व के जनमानस पटल पर अक्षय स्वरूप में प्रकट हुआ। अब हम सब भारतीयों का महान कर्त्तव्य है अपने राष्ट्र को अनंत काल के लिए पुष्पित एवं पल्लवित करते रहें ।

संदर्भ

1. झा; प्रभात, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 61
2. त्रिपाठी; डॉ. सत्येन्द्र, द्विवेदी; डॉ. कृष्णदत्त, भारतीय राष्ट्रवाद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2006, पृ.– सम्पादकीय (क)
3. वही; पृ.सं.– 26
4. त्रिपाठी; श्री प्रकाश मणि, भारत में राष्ट्रवाद के बिम्ब, अंकित पब्लिकेशन दिल्ली, 2018, पृ.–157
5. इग्नू; भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन (MHI-09) ,नई दिल्ली, 2016, पृ. सं.–21
6. वही; पृ. 21
7. वही; पृ. 21
8. वही; पृ. 21
9. वही; पृ. 21
10. वही; पृ. 22
11. वही; पृ. 40
12. वही; पृ. 40
13. वही; पृ. 40
14. वही; पृ. 41
15. वही; पृ. 39
16. मिश्र; कौशल किशोर, भारत में सांस्कृतिक राष्ट्र : पं. दीनदयाल उपाध्याय के संदर्भ में, के. के.पब्लिकेशन, दिल्ली 2021 , पृ. 33, 34
17. वही; पृ. 34
18. वही; पृ. 34
19. वही; पृ. 35
20. वही; पृ. 36
21. वही; पृ. 37
22. वही; पृ. 37
23. वही; पृ. 39
24. वही; पृ. 39
25. राज पुरोहित; डॉ. कन्हैयालाल, आध्यात्मिक राष्ट्रवाद, साईन्टिफिक पब्लिशर्स (इंडिया), जोधपुर, 2021, पृ. 32

26. वही; पृ. 104
27. मिश्र; कौशल किशोर, भारत में सांस्कृतिक राष्ट्र : पं. दीनदयाल उपाध्याय के संदर्भ में, के. के. पब्लिकेशन, दिल्ली 2021, पृ. 25
28. राज पुरोहित; डॉ. कन्हैयालाल, आध्यात्मिक राष्ट्रवाद, साईन्टिफिक पब्लिशर्स (इंडिया), जोधपुर, 2021, पृ. 123
29. वही; पृ. 124
30. मिश्र; कौशल किशोर, भारत में सांस्कृतिक राष्ट्र : पं. दीनदयाल उपाध्याय के संदर्भ में, के. के. पब्लिकेशन, दिल्ली 2021, पृ. 29
31. गुप्त; मेजर (डॉ.) परशुराम, विवेकानंद और राष्ट्रवाद, प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 2019, पृ. 23
32. Internet.com
33. Internet.com
34. टैगोर; रवीन्द्रनाथ, राष्ट्रवाद, Mandrake publications, भोपाल, 2021, पृ. 7
35. वही; पृ. 7
36. वही; पृ. 22
37. वही; पृ. 26
38. वही; पृ. 27
39. वही; पृ. 28
40. मिश्र; कौशल किशोर, भारत में सांस्कृतिक राष्ट्र : पं. दीनदयाल उपाध्याय के संदर्भ में, के. के. पब्लिकेशन, दिल्ली 2021, पृ. 40
41. वही; पृ. 41
42. शर्मा; ब्रह्मदत्त, गाँधी चिंतन में राष्ट्रवाद, अविष्कार पब्लिशर्स, जयपुर, 2011, पृ. 65
43. वही; पृ. 66
44. वही; पृ. 67
45. वही; पृ. 70
46. त्रिपाठी; डॉ. सत्येन्द्र, द्विवेदी; डॉ. कृष्णदत्त, भारतीय राष्ट्रवाद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2006, पृ. सम्पादकीय (क)
47. वही; पृ. सम्पादकीय (क)
48. वही; पृ. सम्पादकीय (क)
49. वही; पृ. 48

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

भारतीय परिप्रेक्ष्य में शुभ जीवन का दार्शनिक विश्लेषण

नीलू कुमारी *

सृष्टि में जीवन एक रहस्यमय अवधारणा है। मानव में जब चिन्तन क्षमता विकसित हुई तो जीवन और जगत् की प्रत्येक घटना उसके लिए विस्मयकारी थी। इक्कीसवीं सदी के यात्रा तक मानव ने जीवन और जगत् के अनेक रहस्यों से पर्दा उठा दिया परंतु अभी भी अनेक प्रश्न ऐसे हैं जो रहस्य ही बने हुए हैं, तत्वमीमांसीय प्रश्न उनमें से मुख्य है। मानवीय चेतना जब पाशविकता से बौद्धिकता की ओर अग्रसर हुई तभी से एक प्रश्न मनुष्य के सम्मुख उपस्थित है कि क्या मानव जीवन का कोई निश्चित उद्देश्य है या यह प्रयोजनविहीन है ? तात्पर्य है कि जीवन के उद्‌भव विकास और अन्त में मृत्यु को देखकर एक सहज और स्वाभाविक प्रश्न मनुष्य के सम्मुख उत्पन्न होता है कि मानव जीवन का उद्देश्य क्या होनी चाहिए और किस प्रकार के वस्तु/कार्य/उपलब्धि प्राप्ति हेतु जीवन शक्ति का व्यय करना चाहिए ? भारतीय जीवन द्रष्टा मनीषीयों ने गहन अन्वेशण के पश्चात् यह स्थापित किया है कि मानव जीवन के चार लक्ष्य हैं– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चतुष्कोटी लक्ष्य को भारतीय परंपरा में पुरूषार्थ की संज्ञा दी गई है।[1]

मानवीय जीवन लक्ष्य की चतुष्कोटी स्थापना मनुष्य की प्रवृति और स्वभाव को ध्यान में रखते हुए किया गया है। चार पुरूषार्थ में उन सभी तत्व को सम्मिलित कर लिया गया है जो मनुष्य को संतुलित एवं सामंजस्यपूर्ण जीवन प्रदान करते हुए आध्यात्मिक विकास कर सके। इसके अभाव में मानव जीवन अराजकतापूर्ण हो जाएगा जो मानव को पतन की ओर ले जाएगा। इस रूप में पुरूषार्थ मानव जीवन की लौकिक एवं आलौकिक आदर्श पूत्ति की पथ प्रदर्शिका है। वस्तुतः मानव जीवन दुःखों और समस्याओं से भरा हुआ है[2], ऐसी स्थिति में

** शोधप्रज्ञा, स्नाकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग, एल.एन.एम.यू., दरभंगा*

शास्त्र द्वारा निर्धारित इन पुरूषार्थ रूपी आदर्श को इस ढंग से स्थापित किया गया है ताकि इसका अनुसरण कर मनुष्य शुभ जीवन व्यतीत कर सकता है।

मानव चेतना की गहरी आकांक्षा दुःख रहित या आनन्दमय जीवन प्राप्ति की है। मानव जाति की समस्त गतिविधि सांसारिक दुःखों को कम कर आनन्दपूर्ण अवस्था को प्राप्त करने की है और यही मानव का अंतिम लक्ष्य है। भारतीय परंपरा में इसे मोक्ष कहा गया है यही अंतिम और साध्य पुरूषार्थ है। अन्य तीन धर्म, अर्थ, काम को साधन पुरूषार्थ कहा गया है। शरीरधारी मनुष्य के लिए भौतिक आवश्यकता की पूर्त्ति आवश्यक है जैसे भोजन, वस्त्र, आवास, सम्पत्ति आदि ये अर्थ के अन्तर्गत आते हैं। इन्द्रियों की वासना की तृप्ति मानसिक संतुलन हेतु आवश्यक है यह काम है। अर्थ और काम का विवेकपूर्ण उपयोग के लिए तथा उच्च आध्यात्मिक प्यास को संतुष्ट करने के लिए धर्म का विधान किया गया है। स्पष्टतः धर्म, अर्थ और काम का संतुलन ही मानव को परम साध्य मोक्ष की प्राप्ति कराता है। हालांकि इसके स्वरूप और प्राप्ति के मार्ग को लेकर विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के मध्य पर्याप्त मतभेद है। वस्तुतः विभिन्न कालखण्डों में मानव सभ्यता अपने विकास के जिस जिस अध्याय से गुजरा अपनी आकांक्षाओं के अनुरूप जीवन के उद्देश्य, उसके प्राप्ति का मार्ग और उससे सम्बन्धित विभिन्न आयामों का विश्लेषण प्रस्तुत किए।

मानवीय चेतना द्वारा आध्यात्मिक यात्रा के क्रम में ऋषियों द्वारा किए गए विलक्षण एवं रहस्यात्मक अनुभूति का पहली और प्रामाणिक दस्तावेज वेद है। इस युग के मानव स्वयं को प्रकृति के विशाल शक्ति से घिरे हुए पाकर इसके पीछे किसी अदृश्य पारलौकिक शक्ति का कल्पना करने लगे।[3] वे जीवन और जगत में व्याप्त अनन्त दुखों और समस्याओं से छुटकारा हेतु अनेक आध्यात्मिक एवं कर्मकाण्डीय विधि विधानों का अविष्कार किए। वे लोकेत्तर जीवन को वास्तविक जीवन मानते हुए वर्तमान में उसके लिए विभिन्न प्रयास करने लगे। अर्थात् वैदिक काल में पारलौकिक सत्ता के रूप स्वर्ग–नरक की अवधारणा को स्थापित किया गया जिसे व्यक्ति मृत्यु के बाद प्राप्त करता है। यहाँ स्वर्ग प्राप्ति को आनन्दमय और दुख रहित जीवन के रूप में स्वीकार करते हुए वास्तविक और शुभ जीवन का द्योतक माना गया है।

औपनिषदिक काल में जीवन के वास्तविक स्वरूप को लेकर धारणा बदल गई। स्वर्ग, पारलौकिक भौतिक सुख एवं एश्वर्यों के स्थान पर मोक्ष अर्थात् आत्मिक आन्नद को प्रश्रय प्रदान किया गया। उपनिषद् आन्तरिक शुद्धि द्वारा आत्मसाक्षात्कार के क्रमिक प्रक्रिया का प्रस्तावना करती है। यहाँ प्रेय मार्ग के स्थान पर श्रेय मार्ग को उत्तम कोटि का मार्ग स्वीकार किया गया है।[4] कठोपनिषद् में कहा गया है जो आत्मसंयम, वैराग्य, त्याग, तप और विवेक के द्वारा आत्मज्ञान को उपलब्ध हाते हैं वे परमशांति का अनुभव करते हैं।[5] तैत्तिरीय उपनिषद् में जीव के पंचकोष का उल्लेख किया गया है। यह कोष वस्तुतः जीवात्मा के क्रमिक

आध्यात्मिक विकास का सूचक है। ये हैं– अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोष, तथा आनन्दमय कोष। प्रथम कोष जहां स्थूल शरीर से सबंधित है वहीं अंतिम स्तर पर चैतन्यस्वरूप आनन्दमय कोष की स्थिति उभरती है। यह आनन्दमय कोस ही शुभ जीवन का आधार है।[6]

चार्वाक दर्शन में प्रेय मार्ग को सर्वोच्चता प्रदान की गई है। यहां श्रेय के उपर प्रेय मार्ग को वरीयता प्रदान की गई है। चार्वाक धर्म और मोक्ष का तात्विक खंडन कर अर्थ और काम को जीवन का परम लक्ष्य स्वीकार करता है। इनकी दृष्टि में वर्तमान जीवन ही वास्तविक जीवन है तथा इसी जीवन में येन केन प्रकारेण अधिकतम सुख की प्राप्ति ही मानव जीवन का लक्ष्य होनी चाहिए। चार्वाक के दृष्टि में भौतिक और शारीरिक आनंदपूर्ण जीवन ही शुभ जीवन है।

जैन दर्शन में 'कैवल्य' की प्राप्ति मानव जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकारा गया है तथा इसके लिये 'त्रिरत्न' की सम्यक् साधना आवश्यक माना गया है–'सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः'। जैन आचार्यों ने मानवीय चेतना के तीन पहलुओं– भाव, ज्ञान एवं संकल्प के आधार पर त्रिविध साधना–मार्ग का विधान किया है। सम्यक् चरित्र के पंचमहाव्रतों – अंहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के पालन से साधक का सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन निरंतर दिव्य होते जाता है। जैन धर्म–दर्शन ऐसे सद्गुणी जीवन को शुभ जीवन की संज्ञा दी गई है।

बौद्ध धर्म–दर्शन में 'अर्हत' की प्राप्ति को जीवन का आदर्श–रूप माना गया है।[7] इसके प्राप्ति के लिये आष्टांगिक मार्ग का विधान किया गया है। आष्टांगिक मार्ग की पूर्णत्व सम्यक् समाधि के रूप में होता है जो समस्त विकारों से मुक्त अवस्था है। इस अवस्था को निर्वाण कहा गया है। ध्यातव्य है कि निर्वाण की उपलब्धि आध्यात्मिक यात्रा की समाप्ति नहीं अपितु उपलब्धि पश्यात् वास्तविक कार्य प्रारंभ होती है। जीवनमुक्त महामानव के रूप में लोककल्याणार्थ कार्य का सम्पादन करते हैं, जैसे दुखियों का कल्याण, साधक को निर्वाण प्राप्ति में सहयोग आदि। बुद्ध के उपदेश का सारांश है–'अप्प दीपो भवः' अर्थात् अपने जीवन का उद्धारक स्वंय बनो। किसी देवता की सहायता या चमत्कार की आकांक्षा मत करो बल्कि स्वयं के श्रम से आन्तरिक प्रकाश प्रज्वलित करो। आत्म प्रकाश से जीवन स्वतः आनन्दमय होगा जो शुभ जीवन का आधार बनेगा।

आस्तिक दर्शन में आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति मानव जीवन का परम उद्देश्य है। वैदिक–धर्म वस्तुतः अनुभूतिमूलक धर्म है और एकतत्वता के अभेदमूलक भाव का सृजन ही इसका चरमलक्ष्य है। वैदिक परंपरा के सभी दर्शन अर्थात् न्याय–वैशेषिक, सांख्य–योग तथा मीमांसा–वेदान्त सभी ने पुरूषार्थ को जीवन का लक्ष्य माना है। यहां उचित अनुचित का विचार करते हुए(धर्म संगत) शारीरिक आनन्द प्राप्त करने को सही माना गया है। परन्तु मोक्ष के रूप में आत्मिक आनन्द की प्राप्ति को सर्वोच्च शुभ माना गया है। वैदिक दर्शन आध्यात्मिक दर्शन है। अतः यहाँ

आन्तरिक शुभत्व को ही वैयक्तिगत एवं सामाजिक जीवन का आधार माना गया है।

इक्कीसवीं सदी में शुभ जीवन का साधन केवल धर्म नहीं अपितु तार्किक, धार्मिक एवं वैज्ञानिक तीनों होना आवश्यक है। वही धार्मिक कृत्य प्रासंगिक एवं स्वीकार्य है जो विज्ञान सम्मत हो। सामान्यतः मनुष्य को शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक आनन्द जीवन में एक साथ नहीं प्राप्त होते हैं। जब तीनों स्तर के आनन्द की प्राप्ति एक साथ होता है, तब समकालीन भारतीय चिन्तक के दृष्टि में शुभ जीवन की स्थिति उभरती है। ध्यातव्य है कि समकालीन भारतीय चिन्तकों ने जीवन का लक्ष्य स्वर्ग या मोक्ष की प्रप्ति को नहीं अपितु मानवकल्याण स्वीकार करते हैं।

विवेकानंद के शुभ जीवन की अवधारणा उनके व्यवहारिक वेदान्त की संकल्पना में देखा जा सकता है। सामान्य लोगों में यह धारणा प्रचलित है कि वेदान्त ऐसा जटिल अथवा रहस्यपूर्ण विषय है जो केवल बुद्धिवादियों के तर्क वितर्क तक ही सीमित है और साधारण मानवीय बुद्धि के लिए अगम्य है। दैनिक कर्मजीवन के पहलुओं के साथ वेदान्त के सिद्धांतों का कुछ भी सबंध नहीं है इसलिए व्यवहारिक जीवन में इसका कोई महत्व नहीं है परन्तु विवेकानन्द ने वेदान्त की व्यवहारिक व्याख्या करके इसे आम जन–मानस के स्तर पर सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया, वेदान्त में अंतर्निहित गूढ सिंद्धांतों को सरल एवं सुग्राह्य रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत करके स्वामी विवेकानंद ने स्पष्ट कर दिया कि किस प्रकार वेदान्त हमारे शुभ जीवन का आधार बन सकता है। स्वामी जी ने वेदान्त के पूर्ववर्ती व्याख्याओं की समालोचना करते हुए उनकों दैनिक जीवन में व्यवहृत करने का मार्ग स्पष्ट रूप में निर्दिष्ट किए। वे दिखलाएँ कि किस प्रकार राजा से रंक तक जीवन के सभी क्षेत्रों में वेदान्त से लाभान्वित हो सकते हैं और अपने जीवन को शुभत्व की ओर उन्मुख कर सकते है। इस तरह उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वेदान्त की उपादेयता सार्वभौम है क्योंकि इसी में हमारे शुभ जीवन का मार्ग अन्तर्निहित हैं।

समकालीन भारतीय दर्शन में शुभ जीवन का सारतत्व महात्मा गांधी के दर्शन में अन्तर्निहित है। महात्मा गांधी के अनुसार आनन्द का बोध शांति से संभव है। उनके अनुसार जीवन का लक्ष्य भौतिक सुख कदापि नहीं हो सकता है, क्योंकि भौतिक सुख तृष्णा को जन्म देती है, और तृष्णा के कारण कभी भी वास्तविक सुख का बोध नहीं हो सकता है। अतः शुभ जीवन शांति में अन्तर्निहित है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि गांधी का उपर्युक्त चिंतन निषेधमूलक नहीं है अर्थात् महात्मा गांधी ने इन्द्रिय सुख का निषेध नहीं किया है। वस्तुतः गांधी के दर्शन पर श्रीमद्भगवद्गीता का प्रभाव परिलक्षित होता है। गीता में कहा गया है कि ''आत्मन्येवात्मना तुष्टः''[8] अर्थात् मनुष्य को स्वयं में संतुष्ट रहना चाहिए। अतएव गांधी जी कहते हैं कि संतोष में शांति और शांति में शुभ जीवन है। इसकी प्राप्ति

के लिए वे आत्मानुशासन पर बल देते है। आत्मानुशासन से सह नैतिक मूल्यों का संरक्षण होता है, और सदाचारमूलक जीवन ही शुभ जीवन है।

समकालीन दर्शन में रजनीश का नाम विशेष रूप से लिया जाता है क्योंकि वे धर्मशास्त्र, तंत्र–शास्त्र, आधुनिक विज्ञान तथा मनोविज्ञान की गहराई में जाकर आध्यात्मिक जीवन के लिए एक सहज मार्ग का अन्वेषण करते हैं। रजनीश का मानना है कि संसार कि रचना में, रचनात्मक प्रवृत्ति में तथा मनुष्य के क्रिया–कलापों में प्रेमतत्व को स्पष्टतः देखा जा सकता है। शुभ जीवन का मूल स्त्रोत वे प्रेम को मानते हैं। वस्तुतः समकालीन भारतीय दर्शन प्रेम को ही शुभ जीवन का आधारतत्व मानता है। व्यापक अर्थ में प्रेम का तात्पर्य मनुष्य वनस्पति, पशु तथा भूत जगत से अभेदमूलकभाव सृजन से है। मनुष्य कि दृष्टि जब उदार होती है और सम्पूर्ण संसार को प्रेममय मानने लगती है तब शुभ जीवन का प्रारंभ होता है।[9]

डी.पी. चट्टोपाध्याय वैज्ञानिक भौतिकवाद के समर्थक हैं। उनका भौतिकवाद वैज्ञानिक दृष्टि से अनुप्राणित रहने के कारण अत्यंत ही बैद्धिक माना जाता है। उनका शुभ जीवन संबन्धी संकल्पना मिथक, परंपरा अथवा आप्त वचन पर आधारित नहीं है। वस्तुतः वे तर्क और बुद्धि के आधार पर मानवीय जीवन में शुभत्व की स्थापना का प्रस्तावना करते हैं।

समकालीन भारतीय चिंतक या नव वेदान्ती का परमउद्देश्य मानव कल्याण हेतु स्वंय के जीवन का आहुति प्रदान करना है। मनुष्य ऐसा संकल्प तब ही ग्रहण कर सकता है जब उसमें एकतत्त्वता के अभेदमूलक भाव सर्जित हो जाए। इस चरमलक्ष्य की प्राप्ति के लिये स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा रजनीश मानव कल्याण हेतु अनेक योजनाओं एवं महती प्रयास द्वारा महत्वपूर्ण योगदान दिए। विश्व प्रक्रिया का जड़ से ब्रह्म की यात्रा में मानव जाति उर्ध्वगमन की सर्वाधिक क्षमता से युक्त है। मानव आध्यात्मिक चेतना से आविष्ट है। इन जीवन द्रष्टाओं ने आध्यात्मिक चेतना में सृजनात्मक क्रांति उत्पन्न कर मानव के सभ्यतागत यात्रा में क्रांतिकारी भूमिका का निर्वहन किया। ये समकालीन भाष्यकार अपनी–अपनी दृष्टि से आध्यात्मिक अनुशासन के रूप में ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, ध्याानयोग, राजयोग, तंत्र तथा समग्रयोग का विधान किया है। इनके समस्त स्थापनाओं का आधार वेदान्त है, परन्तु व्याख्या युगानुकूल, तर्कसंगत, आधुनिक, मानवतावादी, कल्याणकारी एवं भविष्योन्मुखी है। यद्यपि इनके विचार वेदान्त से अनुप्राणित है तथापि व्याख्या का परिप्रेक्ष नवीनतम है फलतः इनके दर्शन को नव वेदान्त भी कहा जाता है। नव्य वेदान्ती के रूप में इन दार्शनिकों का जीवन के प्रति समन्वयित दृष्टि इस प्रकार है[10]–

1. आध्यात्मिक और नैतिक नवजागरण का संदेश।
2. जीवन और जगत् के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण
3. जीवन के शारीरिक पक्ष के साथ–साथ आध्यात्मिक पक्ष के भी उन्नयन की बात। इस रूप में ये व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की बात करते हैं।

4. ये व्यक्तिगत मोक्ष की बजाए मानव–कल्याण को जीवन का लक्ष्य स्थापित करते हैं।
5. जगत को मिथ्या न मानकर सत्य मानते है और माया को ब्रह्म की शक्ति न मानकर तथ्य मानते हैं।
6. ज्ञान प्राप्ति के बाद पश्चात् सन्यास अर्थात निवृति मार्ग ग्रहण करने की बजाए जीवन और जगत् में सक्रियता का संदेश देते हैं।

उपर्युक्त दृष्टि को आत्मसात किए बिना शुभ जीवन की संकल्पना संभव नही है। साथ ही इन मनीषियों के दृष्टि में आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति तब तक संभव नहीं जब तक आत्मा पर छाए नकारात्मक प्रवृति (घृणा आदि) विसर्जित न हो जाए। इन प्रवृत्तियों के विसर्जित होते ही शाश्वत प्रेम रूपी सद्गुण प्रकाशित हो जाता है। समस्त सदगुणों का आश्रय आत्मा है और आत्मा का प्रेममय स्वरूप प्रकट होते ही समस्त भूत के हित की कामना प्रकट हो जाती है क्योंकि शुद्ध आत्मा स्वंय में सम्पूर्ण भूत को और सम्पूर्ण भूत में स्वंय को देखती है।[11] फलतः लोककल्याणार्थ कर्म करना योगी की स्वभावगत प्रवृत्ति बन जाता है। ऐसे महापुरूष का जीवन वस्तुतः दिव्य जीवन है जिसका आधार लोकसंग्रहपरक कर्म बनते हैं। इनके समस्त कर्म फलाकांक्षा से मुक्त ईश्वर के निमित्त होते हैं। ऐसे जीवन को द्रष्टाओं ने शुभ जीवन कहा है। इस प्रकार आात्मिक शुभत्व का प्रकटीकरण ही शुभ जीवन का आधार बन जाता है।

संदर्भ

1. पाठक, डॉ. दिवाकर; भारतीय नीतिशास्त्र; बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना चतुर्थ संस्करण 1994; पृ. 72
2. कुमार, धर्मेन्द्र; प्रशासकीय नीतिशास्त्र, च्यवन प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण 2021, पृ. 146–47
3. एम. हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रित 2011, पृ. 28
4. कठोपनिषद्, 1.2.1
5. वही, 1.3.8–9
6. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली
7. मिश्र, नित्यानन्द; नीतिशास्त्र : सिद्धांत एवं प्रयोग; मोतिलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ. 470
8. गीता, 2.55
9. ओशो रजनीश, ईशावास्य उपनिषद, हिन्द पॉकेट बुक, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रित 2015, पृ. 82 कठोपनिषद्, 1.1.1–4
10. पैंसिया, एस.आर.; दर्शनशास्त्र, च्यवन प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण 2012, पृत्र. 238
11. ईशावास्य उपनिषद्; मंत्र संख्या 6

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

बहुसंस्कृतिवाद : भारतीय संस्कृति की मुख्य अवधारणा

*डॉ. अछिया बेगम**

परिचय : बहुसंस्कृतिवाद संस्कृतियों की बहुलता का प्रचार है, ए एक समुदाय के भीतर विभिन्न विचारधाराओं या दृष्टिकोणों की स्वीकृति, और ऐसे प्रत्येक इकाई में बड़े समाज के साथ स्वायत्तता की मात्रा होती है। एक बहुसांस्कृतिक समाज के प्रत्येक सदस्य को अपनी उच्चतम क्षमता का एहसास करने का अवसर मिलता है। व्यक्ति की सर्वोच्च उद्देश्य आत्म–साक्षात्कार हैय व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होता है। इसमें समाज में दूसरों के साथ अंतरंग संबध में आदर्श, विवेकी या सामाजिक स्व की प्राप्ति शामिल है। बहुसंस्कृतिवाद वह प्रणाली है जहां समाज में सभी विविध समूहों के लिए विश्वास और सम्मान होता है, जो उनके सामाजिक–सांस्कृतिक अंतर को स्वीकार करता है और समाज के भीतर उनके योगदान को प्रोत्साहित करता है। बहुसंस्कृतिवाद का आदर्श रखने वाला समाज व्यक्ति की सर्वोच्च भलाई के रूप में आत्म–साक्षात्कार के उद्देश्य को पूरा कर सकता है। यह आलेख महात्मा गांधी और स्वामी विवेकानंद के संदर्भ में भारतीय संस्कृति के बहुसांस्कृतिक पहलू पर चर्चा करने का एक प्रयास है।

भारतीय बहुसंस्कृतिवाद का सार : प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति होती है। वर्तमान वैश्विक समाज में लोग विभिन्न संस्कृतियों से संबंधित रहते हैं। एक समाज में विभिन्न संस्कृतियों के सह–अस्तित्व ने बहुसंस्कृतिवाद को जन्म दिया है। बहुसांस्कृतिक समाज संस्कृतियों की बहुलता पर विश्वास करता है। यह दर्शाता है कि कई अलग–अलग संस्कृतियां एक ही क्षेत्र में शांतिपूर्वक और समान रूप से सह–अस्तित्व में रह सकती हैं। यह सभी सांस्तिक समूहों के अधिकारों को मान्यता देता है और स्वीकार करता है। एक बहुसांस्कृतिक समाज विशिष्ट सांस्कृतिक और धार्मिक समूहों को समान दर्जा देता है, और एक एकीकृत समाज के भीतर सभी संस्कृतियों की पहचान की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध है। यह

* *अतिथि शिक्षक, स्वामी विवेकानंद महाविद्यालय, मोहनपुर, त्रिपुरा*

जाति, पंथ, धर्म, वर्ग, लिंग, भाषा आदि के बावजूद समाज में सभी प्रकार के लोगों को समान सम्मान देता है। यह एक समाज के भीतर व्यक्तियों और विभिन्न समूहों के लिए आत्म–मूल्य की भावना स्थापित करने में विश्वासों, मूल्यों और जीवन के तरीके के महत्व को पहचानता है। बहुसंस्कृतिवाद एक प्रकार की नीति और प्रणाली को भी संदर्भित करता है जो सांस्कृतिक विविधता के संरक्षण के लिए महत्वपूर्ण है। व्यापक अर्थ में, बहुसंस्कृतिवाद के मूल्यों में सभी प्रकार के गैर–मनुष्य, पौधे और स्वयं ब्रह्मांड शामिल हैं। यह अन्य प्राणियों, जानवरों और पौधों आदि के साथ सद्भाव से रहने की आवश्यकता पर जोर देता है। उपनिषद की अवधारणा में, संपूर्ण ब्रह्मांड एक इकाई की अभिव्यक्ति है, जिसे ब्रह्म (Bharman) कहा जाता है, और ब्रह्म इस दुनिया की सभी रचनाओं के माध्यम से प्रकट होता है। ''एक वह है जो सभी में प्रकट होता है।''[1] एक अन्य उदाहरण में ऋग्वेद घोषणा करता है कि, 'वास्तविकता एक है, लेकिन अलग–अलग देखी जाती है'[2]। इसलिए, सभी के बीच सामंजस्यपूर्ण और सम्मानजनक संबंध होना चाहिए।

भारतीय संदर्भ में बहुसंस्कृतिवाद का अभ्यास बहुत महत्वपूर्ण है। अति प्राचीन काल से, भारत विभिन्न संस्कृतियों और धार्मिक समुदायों का घर रहा है। भारत की परंपरा बहुसांस्कृतिक है। लोग अपने खान–पान, भाषा, पहनावे, त्योहारों, धर्मों, जातियों, मान्यताओं आदि के साथ जीते हैं। भारत में किसी भी विचार को आत्मसात करने की क्षमता है। भारत ने कभी किसी विचार को खारिज नहीं किया। हर कोई जो भारत आया है, उसका खुले हाथों से स्वागत किया गया है और उनके विचारों को भारत में आत्मसात किया गया है। "India always welcomed new ethnic groups and with them new thoughts and ways of life, absorbing them and making them her own."[3] भारत बाकी दुनिया का सम्मान करता है और हमेशा दूसरों की बात सुनने के लिए तैयार रहता है, यहां तक कि विरोधी पक्ष की भी। न केवल दूसरों को सुनें, बल्कि विनम्र रहें और दूसरों को स्नेहपूर्वक प्राप्त करें। दुनिया के किसी भी कोने से या किसी भी विचारक के समाज कल्याण के लिए जो भी अच्छा या अच्छा विचार हो, उसे स्वीकार करने के लिए भारतीय हमेशा तैयार रहते हैं। भारतीयों का मानना है कि दुनिया के किसी भी कोने में उनके द्वारा किया गया कोई भी काम पूरी लगन के साथ करना उनका अपना काम है। भारतीय संस्कृति अपने लोगों को दूसरों से सीखने और दूसरे की संस्कृति का सम्मान करने की अनुमति देती है, और साथ ही दूसरों को उनसे सीखने की अनुमति देती है। इस प्रकार विभिन्न संस्कृतियों के मिलन से परस्पर समझ, सहयोगात्मक कृष्टिकोण, विश्व भाईचारा विकसित

होता है, जो बहुसंस्कृतिवाद का सार है। कई अन्य देशों के विपरीत भारत की ताकत विविधताओं से आती है, य शक्ति इस बात को स्वीकार करने से आती है कि हम सभी अलग हैं, लेकिन हम दुनिया की भलाई के लिए मिलकर काम कर सकते हैं। "Live and let live' has been India's policy. She has always been a believer in the philosophy of 'unity in diversity'. God is one, so is man. She has never tried to interfere with the freedom of any group."[4]

अनादि काल से भारत विश्व की विभिन्न संस्कृतियों को प्रभावित करता रहा है, और साथ ही विश्व की विभिन्न संस्कृतियों को अपनी छत्रछाया में समाहित करता आया है। भारतीय संस्कृति सर्व धर्म संभव (सभी धर्म सत्य और समान है), वसुधैव कुटुम्बकम (हम सभी एक पृथ्वी के रूप में हमारे एक परिवार हैं), आदि के विचार का प्रचार करते हैं, जो पूरे अस्तित्व के साथ समान संबंध स्थापित करता है। एक बहुसांस्कृतिक समाज का एक जीवंत उदाहरण प्रदर्शित करते हुए, भारतीय संविधान में देश के वंचित वर्गों को पर्याप्त सुरक्षा और विशेषाधिकार देने के लिए असंख्य अधिनियमों और संशोधनों को शामिल किया गया है। अनेकता में एकता भारत की पहचान है। ऐसी बहुसांस्कृतिक विविधता के बीच, अपने व्यक्ति और समुदायों को अधिकतम स्वतंत्रता भारत की सुंदरता है जो दुनिया के लिए एक आश्चर्य है। इस मूल्य को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए, भारतीय संविधान अपने सभी नागरिकों को लिंग, जाति, वर्ग, समुदाय, भाषा और धर्म के बावजूद समान अधिकार, स्वतंत्रता और कर्तव्य प्रदान करता है। भारत का समाज हमेशा बहुसांस्कृतिक, बहुधार्मिक, बहुजातीय और बहुभाषी रहा है।

बहुसंस्कृतिवाद पर महात्मा गांधी का विचार : महात्मा गांधी बहुसंस्कृतिवाद के प्रबल पक्षधर थे। अपने पूरे जीवन में, उन्होंने विभिन्न संस्कृति और धर्म के लोगों के बीच एकता और सद्भाव के महत्व पर जोर दिया। उन्होंने किसी भी प्रकार के भेदभाव का पुरजोर विरोध किया और भारतीय समाज में व्याप्त सामाजिक अन्याय के खिलाफ लड़ाई लड़ी। उन्होंने बहुसंस्कृतिवाद को आगे बढ़ाने, विभिन्न समुदायों के बीच संचार, बातचीत और सहानुभूति को बढ़ावा देने के अपने प्रयासों में लोगों को एकजुट करने का प्रयास किया।

प्रत्येक संस्कृति में भौतिक वस्तुओं के साथ–साथ सोचने, महसूस करने और व्यवहार करने के पैटर्न होते हैं, जो उसके धर्म, कला, शिल्प और उसके भौगोलिक और सामाजिक वातावरण द्वारा दर्शाए जाते हैं। गांधी विभिन्न संस्कृतियों के बीच जितना संभव हो मुक्त और स्पष्ट बातचीत चाहते थे, क्योंकि विभिन्न संस्कृतियों के मिलने से वे खुद को समृद्ध करेंगे। मन के संकीर्ण घेरे को तोड़े बिना ज्ञान का

विस्तार नहीं हो सकता। बहुसंस्कृतिवाद इस संबंध में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगा और हमें आध्यात्मिकता की ओर ले जाएगा। गांधीजी ने कहा, "I do not want my house to be walled in on all sides and my windows to be stuffed. I want the cultures of all lands to be blown about my house as freely as possible. But I refuse to be blown off my feet by any."[5] यह एक बहुसांस्कृतिक और समावेशी समाज की उनकी इच्छा को दर्शाता है, जो अपने स्वयं के मूल्यों और पहचान को बनाए रखते हुए विभिन्न संस्कृतियों को गले लगाता है।

किसी भी समाज की एकता को विकसित सबसे पहली और महत्वपूर्ण आवश्यकता होती है। इसे महसूस करने के लिए, "One should have the same regard for the others faith as he has for his own."[6] एक बहुसांस्कृतिक समाज में, सभी व्यक्ति सहयोग, सहिष्णुता, न्याय, देखभाल और साझा करने के मूल्यों को बढ़ावा देते हैं, जो अंततः समाज के सभी सदस्यों के शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व की ओर ले जाते हैं। इससे आत्म–क्षमता की अभिव्यक्ति हुई और इस तरह व्यक्ति समाज में खुद को महसूस करता है। गांधी के अनुसार, मनुष्य प्रकृति में दिव्य है और मानवता की पूर्ण एकता है, जो उसे ब्रह्मांड के हर दूसरे पहलू की शुद्धि के साथ–साथ अपनी अपूर्ण आत्मा को शुद्ध करने के लिए प्रोत्साहित करती है। गांधी का अद्वैत (non-duality) में दृढ़ विश्वास था। उन्होंने कहा, "I believe in the essential unity of man and for that matter, of all that lives. Therefore, I believe that if one man gains spiritually, the world gains with him and if one man fails, the whole world fails to that extent."[7] मनुष्य का वैश्विक जीवन मनुष्य और पूरे ब्रह्मांड के बीच प्रेमपूर्ण संबंध को महसूस करना है। प्रबुद्ध का महत्वपूर्ण पहलू सर्वव्यापी एकता का अनुभव है। यह स्वयं की गहरी और विस्तारित भावना से उभर सकता है। आत्म–साक्षात्कार स्वयं के उस गहन भाव को प्राप्त करने की प्रक्रिया है। आत्म–साक्षात्कार संपूर्ण सृष्टि के साथ स्वयं को पहचानने की प्रक्रिया है। एक व्यक्ति, जिसने इस तरह की पहचान की है, वे अपने दिव्य पहलू को महसूस किया है। मनुष्य का नैतिक कर्तव्य दूसरों के साथ अपने व्यवहार में विनम्रता और इस धरती पर जीवन के सभी रूपों के प्रति सम्मान दोनों को विकसित करना है। यदि हम इस मार्ग का अनुसरण करते हैं, तो आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करना संभव होगा। यदि हम सभी मनुष्यों के साथ, प्रकृति के साथ अपनी एकता स्थापित करें और उसकी प्राप्ति के लिए अभिव्यक्ति दें, तो एक आध्यात्मिक अनुभूति होगी। सभी प्राणियों के साथ

एकता की भावना आवश्यक है, जिसे हम केवल अहिंसा की पद्धति से, प्रेम के माध्यम से महसूस कर सकते हैं।

इस प्रकार गांधी एक ऐसे व्यक्ति की पहचान एक वैश्विक व्यक्ति के रूप में करते हैं जो अपनी सफलता को पूरी तरह से इस ब्रह्मांड की हर पहलुओं की सफलता पर निर्भर मानता है। यह अहसास पूरी दुनिया के सबसे गरीब और सबसे कमजोर वर्ग के सम्मान की आस्था पर निर्भर है। ब्रह्मांड के अभिन्न अंग के रूप में इस गरिमा को प्रत्येक व्यक्ति तक पहुंचाना है। सर्वोदय आंदोलन, गांधी के नेतृत्व में, कुल मानवीय भावना और व्यक्तित्व के जागरण को संदर्भित करता है। यह सबका उत्थान है। यह आत्म–साक्षात्कार के उच्चतम स्तर की उपलब्धि से संबंधित है, जिसमें व्यक्ति अन्य सभी में अपनी अभिव्यक्ति देखता है। गांधी ने अपने अवलोकन में इस आवश्यक कृष्टि को स्पष्ट रूप से इंगित किया, जैसा कि उन्होंने कहा, "I believe in the absolute oneness of God and, therefore, also of humanity. What though we have many bodies? We have but one soul. The rays of the sun are many through refraction. But they have the same source. I cannot, therefore, detach myself from the wickedest soul (nor may I be denied identity with the most virtuous)."[8] यह अहसास सभी के सार्वभौमिक भाईचारे के विश्वास में निहित है। यह दृष्टिकोण में सार्वभौमिक है, यह सर्वव्यापी है, सभी प्राणियों को एक बड़े परिवार के रूप में देखता है और सभी के कल्याण का लक्ष्य रखता है।

आध्यात्मिक एकता की चेतना स्वयं के प्रति एक अंतर्निहित कृष्टिकोण है। जैसे–जैसे मनुष्य के भीतर आध्यात्मिकता विकसित होती है, वैसे–वैसे वह परिमित से अनंत की ओर, अस्थायी से शाश्वत की ओर, बाह्य से आंतरिक की ओर गति करता है। यह प्रत्येक व्यक्ति का आवश्यक स्वभाव है। गांधी के अनुसार, विकास की प्रक्रिया, "…is a change from the physical to the spiritual, aiming ultimately at the complete realization of spirituality, that is, Divinity."[9] प्रत्येक व्यक्ति की यह आवश्यक दिव्यता और अच्छाई मनुष्य को आगे पूरी दुनिया में एकता की ओर ले जाती है और फिर सभी प्रकार की गतिविधियाँ– व्यक्तिगत, सामाजिक, पर्यावरणीय, आर्थिक और राजनीतिक इस धरती पर रामराज्य (Ramrajya) की स्थापना करेंगी। इसके लिए जीवन में प्रेम, सहानुभूति, सहनशीलता और करुणा के गुणों का विकास करना होगा। यह सभी प्राणियों की भलाई के प्रति स्वयं के पूर्ण उन्मुखीकरण का भाव है। यह मानवता के साथ व्यक्ति की अविभाज्य एकता की स्पष्ट धारणा है। यह भाव और कुछ नहीं, मानवता के प्रति प्रेम का विस्तार है। "The individual, being free, sacrifices himself for the family, the latter for the village, the village

for the district, the district for the province, the province for the nation, the nation for all."[10] इसलिए, आध्यात्मिक उत्थान के माध्यम से ही सभी प्रकार के भेदभाव, असमानता और उत्पीड़न को दूर किया जा सकता है, और हम एक बहुसांस्कृतिक मुक्त समाज का निर्माण कर सकते हैं जो सभी के लिए खुला हो।

बहुसंस्कृतिवाद और विवेकानंद : विवेकानंद ने सभी धर्मों की एकता और सद्भाव पर जोर दिया और मानवता की आवश्यक एकता में विश्वास किया। वह हर इंसान के निहित मूल्य और गरिमा में विश्वास करते थे, भले ही उनकी संस्कृति या धार्मिक पृष्ठभूमि कुछ भी हो। उन्होंने विभिन्न परंपराओं और संस्कृतियों का सम्मान करने और उन्हें समझने की आवश्यकता के बारे में विस्तार से बात की। विवेकानंद ने कहा, "We believe not only in universal toleration but we accept all religions as true."[11] यह संस्कृतियों और धर्मों की विविधता पर विवेकानंद के समावेशी दृष्टिकोण का सुझाव देता है। वह भारत के भीतर सह–अस्तित्व वाली विभिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक परंपराओं का सम्मान करने पर जोर देता है। विभिन्न संस्कृति और समुदायों की सद्भाव और एकता भारत की सांस्कृतिक विरासत को मजबूत करेगी। विवेकानंद ने विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों के बीच सहिष्णुता, आपसी समझ और सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया। ये सिद्धांत एक बहुसांस्कृतिक समाज को बढ़ावा देने के लिए मार्गदर्शक सिद्धांत हो सकते हैं जहां विभिन्न संस्कृतियों, धर्मों और परंपराओं का सम्मान किया जाता है और सौहार्दपूर्वक मनाया जाता है। इसके अलावा, विवेकानंद व्यक्तिगत स्वतंत्रता और आत्म–साक्षात्कार को महत्व देते हैं। उन्होंने कहा, "Growth is possible where there is freedom. If there is free growth, diversity is inevitable. Diversity is natural, uniformity is artificial. Each must grow in his own way; otherwise he cannot grow at all."[12] यह परिप्रेक्ष्य एक बहुसांस्कृतिक समाज के आदर्शों को बढ़ावा देता है।

विवेकानंद ने सभी धर्मों के मूल्य और महत्व की सराहना करते हुए सभी धर्मों के प्रति सम्मानजनक कृष्टिकोण की वकालत की। उन्होंने लोगों से अपील की कि, "…your religion teaches you that every being is only your own self multiplied. But it was the want of practical application, the want of sympathyÑ the want of heart…"[13] विवेकानंद के अनुसार व्यक्तियों और समाज के समग्र रूप से आध्यात्मिक विकास के लिए अन्य धार्मिक परंपराओं की स्पष्ट समझ और सराहना आवश्यक है। उनका यह भी मानना था कि सांस्कृतिक आदान–प्रदान और विभिन्न परंपराओं के समामेलन से एक मजबूत, शांतिपूर्ण और अधिक जीवंत समाज का निर्माण होगा। उन्होंने भारत की सांस्कृतिक जड़ों को

संरक्षित और पोषित करते हुए आधुनिकता के सकारात्मक पहलुओं को अपनाने पर जोर दिया। उन्होंने अपनी इच्छा रखी और कहा, "Can you make a European society with India's religion? I believe it is possible and must be."[14]

विवेकानंद ने वंचित वर्गों और समाज के उत्थान पर जोर दिया। उनका मानना था कि एक बहुसांस्कृतिक समाज को रिश्तेदारी, समानता, न्याय और करुणा के लिए प्रयास करना चाहिए। भारत का राष्ट्रीय आदर्श त्याग और सेवा है। प्रत्येक व्यक्ति और समूह दूसरे की भलाई के लिए त्याग करते हैं, और इस प्रकार राष्ट्र की सेवा करते हैं। इस तरह विविधता ने भारतीय एकता को मजबूत करने में मदद की है। हालांकि विवेकानंद की शिक्षाएं मुख्य रूप से व्यक्ति के आध्यात्मिक और व्यक्तिगत विकास पर केंद्रित थीं, लेकिन एकता, सम्मान, सहयोग और सामाजिक सेवा के उनके विचार भारतीय बहुसंस्कृतिवाद की भावना का समर्थन करते हैं। विवेकानंद के अनुसार जीवन का रहस्य लेन–देन का नियम है। कोई भी ज्ञान, चाहे वह कुछ भी हो, विशिष्ट नहीं हो सकता, उसे सार्वभौमिक होना चाहिए। यह सार्वभौमिक ज्ञान लेन–देन के नियम से संभव है। व्यक्ति को अपनी संस्कृति का अभ्यास करना चाहिए, लेकिन सार्वभौमिक ज्ञान को जानना भी पर्याप्त नहीं है। पूर्ण ज्ञान को स्वीकृति की आवश्यकता है, मन के विस्तार की आवश्यकता है। विवेकानंद ने कहा, "Expansion is life, contraction is death. Love is life and hatred is death. We commenced to die the day we began to hate other races….We must mix, therefore, with all the races of the earth."[15] प्रत्येक संस्कृति की महानता तब सिद्ध होगी जब कोई अपनी संस्कृति की समान दर्जा और समान सम्मान दूसरी संस्कृति को देता है। बहुसंस्कृतिवाद एक ऐसी प्रणाली है जहां सीखाने के साथ–साथ सीखने की गुंजाइश है। विवेकानंद के अनुसार, "...we must go out, exchange our spirituality for anything they have to give us; for marvels of the region of spirit we will exchange the marvels of the region of matter."[16]

विवेकानंद ने सभी संस्कृतियों में मानवता के सामान्य सूत्र को साकार करने के लिए पूरे भारत और दुनिया भर में यात्रा की। उनके भाषणों और लेखों के माध्यम से अनेकता में एकता बनाए रखने को अत्यधिक महत्व दिया जाता था। उनके अनुसार, "Unity is behind all. Call it God, Love, Spirit. Allah, Jehovahx it is the same unity that elevates all life from the lowest animal to the noblest man."[17] व्यक्ति का यह आध्यात्मिक विस्तार भारत में सांस्कृतिक विविधता को बढ़ावा देता है। किसी भी समाज की वास्तविक प्रगति उसके अन्य निवासियों के प्रति मित्रता की भावना पर बल देती है। भगवद गीता (6.32) में कहा गया है कि, आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति, –जो उन्हें हर जगह समान रूप

से देखता है, सभी में एक की अनूठी विविधता को महसूस करता है। सांस्कृतिक मूल्यों के संदर्भ में जागरूकता का व्यापक जागरण इस तरह के बहुसांस्कृतिक रवैये की स्थिरता की एक नई भावना को बनाए रखेगा। विवेकानंद के शब्दों में, "There is but one basis of wellbeing, social, political or spiritual to know that I and my brother are one. This is true for all countries and all people."[18]

स्वामी अभेदानंद[19] ने श्रमेने के उपदेश, 'love thy neighbour' को वेदांतिक आदर्श 'हम पहले से ही आत्मा में एक हैं' के साथ जोड़ते हैं। हमें इस एकता का आंतरिक बोध होना चाहिए। इस एकता की पहचान का बोध ही सच्चा धर्म है, और यही भारतीय संस्कृति की सच्ची भावना है। भारतीय आध्यात्मिकता अनादि काल से इस सांस्कृतिक दृष्टिकोण के साथ बनी हुई है कि, मनुष्य और कुछ नहीं बल्कि मानव रूप में ईश्वरीय अभिव्यक्ति है। विवेकानंद की सार्वभौमिक धर्म की अवधारणा भारतीय परंपरा के इस बहुसांस्कृतिक पहलू की वकालत करती है। वह विशिष्टतावाद को खारिज करते हैं और समावेशवाद का प्रस्ताव करते हैं, जो भारतीय संस्कृति की पहचान है। विवेकानंद के अनुसार, विभिन्न धार्मिक परम्पराओं को एक ही लक्ष्य की ओर वैकल्पिक मार्ग प्रदान करने के रूप में माना जाना चाहिए, और इस प्रकार मनुष्य को मोक्ष के लिए प्रबुद्ध करना चाहिए।

निष्कर्ष : समापन टिप्पणी में यह कहा जा सकता है कि, भारत एक ऐसा देश है जिसकी जड़ों में बहुसंस्कृतिवाद है। साथ ही यह देखा गया है कि हमारा देश विभाजनकारी ताकतों का सामना कर रहा है। इसलिए, देश के नागरिकों के सामने बहुसंस्कृतिवाद की सच्ची भावना को बढ़ावा देकर विभिन्न समुदायों को मुख्य धारा में लाने की चुनौती है। धर्म, लिंग, समुदाय, भाषा, क्षेत्र आदि की अन्य सभी विचलित और संकीर्ण भावनाओं में सबसे ऊपर होगी राष्ट्रीय भावना और देशभक्ति। बहुसंस्कृतिवाद समाज में एक मजबूत भावना जगाता है, जो हर संस्कृति को अपनी अनूठी विशेषता के भीतर स्वीकार करता है। यह पारस्परिक सहिष्णुता और सहयोग पर आधारित उदार लोकतंत्र के आदर्शों की अभिव्यक्ति है। बहुसंस्कृतिवाद एक ऐसी प्रणाली है जो किसी को व्यापक सोच रखने में मदद करती है, जो समुदाय के साथ आत्म–पहचान की ओर ले जाती है। बहुसंस्कृतिवाद ज्ञान का बहुआयामी स्रोत है। बहुसंस्कृतिवाद का अध्ययन मानविकी का यह प्रांत है, जिसका उद्देश्य भविष्य की पीढ़ियों को मूल्यों की प्रणाली की व्याख्या और संचार करना है, जिसके माध्यम से प्रतिभागियों को जीवन का अर्थ और उद्देश्य मिलता है। इस प्रकार, बहुसंस्कृतिवाद इस ब्रह्मांड की प्रक्रिया को समझने के लिए एक अनिवार्य उपकरण है।

संदर्भ

1. *EkaA vâ idaA vibabhûva sarvam*. *Zgveda*, 8/58/2.
2. e*kam sat viprâh bahuda vadanti*. *Zgveda.*
3. Vivekananda, Swami. *My India: the India eternal*. Kolkata: Ramakrishna Mission Institute of Culture, 1993. p.9.
4. *Ibid*. p.9.
5. Gandhi, M. K.; *Young India*, 1-6-1921.
6. Gandhi, M. K. *Constructive Programme.* Prabhat Prakashan, 1941. p.8.
7. Gandhi, M. K. *Young India*, December 4, 1924.
8. *Ibid*. September 25, 1924. p.313.
9. Lal, B.K.; *Contemporary Indian Philosophy*. Delhi: Motilal Banarsidass Publishers Pvt. Ltd., 1973. p.105.
10. Datta, D.M.; *The Philosophy of Mahatma Gandhi*. University of Calcutta, 1968. p.160.
11. Vivekananda, Swami. Speech on September 11, 1893, at the World's Parliament of Religions, Chicago.
12. Vivekananda, Swami. *My India: the India eternal*. Kolkata: Ramakrishna Mission Institute of Culture, 1993. p.9.
13. Vivekananda, Swami. *The Complete Works.* Vol. V, Calcutta: Advaita Ashrama, 2012. pp. 14-15.
14. Vivekananda, Swami. *Letters of Swami Vivekananda*. Calcutta: Advaita Ashrama, 1976. p.174.
15. *Ibid*. p. 172.
16. Vivekananda, Swami. *The Complete Works.* Vol. III, Calcutta: Advaita Ashrama, 2012. pp. 317-318.
17. *Ibid*. Vol. V, p.192.
18. Prasad, Bhaiya. S. *The Socio-Political Philosophy of Swami Vivekananda*. Universal Publishing com., 1999. p.132.
19. Abhedananda, Swami. *Philosophy and Religion*. Ramkrishna Vedanta Math, 1951. p.10.

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

भारतीय दर्शन में योग : एक चिंतन

*अवनीश कुमार मिस्त्री**

वर्तमान भौतिकवादी संस्कृति में मानव भौतिक सुख के पीछे भागते जा रहे हैं, और विज्ञान भी उसका साथ दे रहा है। नित्य नई खोज, एक बटन दबाने मात्र से भौतिक सुख की सारी सुविधा उपलब्ध हो जाती है, पर उसे शांति नहीं मिल पाती है क्योंकि जीवन का अर्थ नहीं समझ पाते हैं। ईश्वर द्वारा बनायी गयी सृष्टि में मानव सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। सर्वश्रेष्ठ होने के नाते उसके ऊपर बहुत सारे दायित्व भी सौंपा गया है, उस दायित्व का निर्वहन ही सच्चा जीवन है और उसके अनुरूप जीना ही योग हैं। दूसरे शब्दों में योग और जीवन दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं।

यहाँ योग पर चर्चा करने के पहले योग शब्द को स्पष्ट करना चाहूँगा। योग शब्द संस्कृत के 'युज' धातु से बना है जिसका सामान्य अर्थ है जोड़ना। पाणिनि व्याकरण के अनुसार युज धातु तीन गुणों में पाया जाता है। 'युज् समाधौ', 'युजिर् योगे', 'युज् संयमने' अर्थात् योग शब्द को क्रमशः समाधि के अर्थ में, जोड़ के अर्थ में, और संयम के अर्थ में प्रयोग किया जाता है।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने योग को परिभाषित करते हुए कहा है– "संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनो"।[1] अर्थात् जीवात्मा व परमात्मा के संयोग की अवस्था का नाम ही योग है। गीता में– "योगः कर्मसु कौशलम्"[2] यानि कर्मों में कुशलता ही योग है। पतंजलि रचित योगसूत्र "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"[3] अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। चित्त बहुत ही चंचल होता है इस पर नियंत्रण पाना ही योग है। दूसरे शब्दों में शरीर, मन और आत्मा की एक सूत्र में जोड़ना ही योग है।

अब यहाँ पर योग एवं जीवन के सम्बन्ध पर प्रकाश डालना चाहूँगा। मानव जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष अथवा त्रिविध दुःख से निवृति प्राप्त करना है। इसे

* *शोधार्थी, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया (बिहार)*

भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय तथा विश्व में प्रचलित सभी धर्मों में स्वीकार किया गया है। पर इसकी प्राप्ति के साधन को लेकर मतभेद है। जहाँ षड्दर्शन में इसके सैद्धांतिक पक्ष पर जोर दिया गया है वहीं योगदर्शन में इसके व्यावहारिक पक्ष पर जोर दिया गया है। हिन्दू धर्म का पवित्र धर्मग्रंथ भगवद्गीता में ज्ञान योग, कर्म योग तथा भक्ति योग का वर्णन किया गया है। परन्तु महर्षि पतंजलि ने राजयोग पर बल दिया है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए चित्तवृति का निरोध आवश्यक है क्योंकि चित्त बहुत चंचल होता है उसे आसानी से बस में नहीं किया जा सकता है। इसके लिए योग–सूत्र में आठ साधन बताया गया है जिस पर चल कर चित्तवृति निरोध संभव है। अर्थात् योग को प्राप्त किया जा सकता है और यही जीवन की सार्थकता है। चित्तवृतियों का निरोध समाधि में होता है, अतः योग को समाधि भी कहा जाता है।

चित्त कई अवस्थाओं से गुजरता हैं। व्यास ने चित्त की पाँच अवस्थाओं का वर्णन किया है–"क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः"[4] वे हैं–क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरूद्ध। क्षिप्त चित की वह अवस्था है जिसमें चित रजोगुण के प्रभाव में रहता है। इस अवस्था में चित्त अत्यधिक चंचल एवं सक्रिय रहता है। उसका ध्यान किसी एक वस्तु पर केन्द्रित नहीं हो पाता, अपितु वह एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर दौड़ता है। यह अवस्था योग के अनुकूल नहीं है। इसका कारण यह है कि इस अवस्था में इन्द्रियों और मन पर संयम का अभाव रहता है।

मूढ़ चित्त की दूसरी अवस्था है जिसमें वह तमोगुण के प्रभाव में रहता है। इस अवस्था में निद्रा, आलस्य इत्यादि की प्रबलता रहती है। चित्त में निष्क्रियता का उदय होता है। इस अवस्था में भी चित्त योगाभ्यास के उपयुक्त नहीं है।

विक्षिप्तावस्था चित्त की तीसरी अवस्था है। इस अवस्था में चित्त का ध्यान कुछ समय के लिये वस्तु पर जाता है। परन्तु वह स्थिर नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि इस अवस्था में चित्त स्थिरता का आंशिक अभाव रहता है। इस अवस्था में चित्तवृतियों का कुछ निरोध होता है। परन्तु फिर भी यह अवस्था योग में सहायक नहीं है।

एकाग्र चित्त की चौथी अवस्था हैं जो सत्व गुण के प्रभाव में रहता है। सत्व गुण की प्रबलता के कारण इस अवस्था में ज्ञान का प्रकाश रहता है। चित्त अपने विषय पर देर तक ध्यान लगाता रहता है। यद्यपि इस अवस्था में सम्पूर्ण चित्तवृतियों का निरोध नहीं होता है, फिर भी यह अवस्था योग–अवस्था में सहायक होती है।

निरूद्धावस्था चित्त का पाँचवाँ रूप है। इसको सभी विषयों से हटाकर एक विषय पर ध्यानमग्न किया जाता है। इस अवस्था में चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध हो जाता है। एकाग्र और निरूद्ध अवस्थाओं को योगाभ्यास के योग्य माना जाता है। इस प्रकार चित्त इन पाँच अवस्थाओं से गुजरता है। योग के लिए चित्त की इन पाँचों अवस्था से छुटकारा पाना आवश्यक है। इसकी प्राप्ति के लिए आठ मार्ग बताया गया है–

यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि[5]

अर्थात्–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यही योग के प्रमुख आठ अंग है।

योग साधन में प्रथम यम है। बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों के संयम की क्रिया को यम कहा जाता है। यम भी पाँच है–''अहिंसासत्यस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः''[6] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम है।

अहिंसा अर्थात् मन, वचन और कर्म से किसी प्राणी की हिंसा का त्याग। सत्य अर्थात् मन, वचन और कर्म से सत्य का पालन करना। अस्तेय अर्थात् मन, वचन और कर्म से किसी अन्य की वस्तु या धन की प्रवृति का त्याग। ब्रह्मचर्य अर्थात् विषय–वासना की ओर झुकने वाली प्रवृति का परित्याग और अपरिग्रह अर्थात् लोभवश अनावश्यक वस्तु के ग्रहण का त्याग को अपरिग्रह कहा जाता है। चित्त को सबल बनाने के लिए ये पाँच प्रकार के यम का पालन आवश्यक है। इससे मानव बुरी प्रवृत्तियों को वश में करने में सफल होता है जिसके फलस्वरूप वह योग मार्ग में आगे बढ़ता है।

योग साधन का द्वितीय अंग नियम है। नियम भी पांच प्रकार के हैं, जिसके विषय में महर्षि पतंजलि लिखते हैं–''शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।''[7]

अर्थात् शौच संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान यही पाँच नियम हैं। नियम का अर्थ है सदाचार को प्रश्रय देना।

शौच का अर्थ शरीर और चित्त के मलों की शुद्धि से है। शरीर की शुद्धि के लिए स्नान, पवित्र भोजन, स्वच्छता इत्यादि के द्वारा होता है तथा मैत्री, करुणा, सहानुभूति, प्रसन्नता, कृतज्ञता द्वारा आन्तरिक शुद्धि होती है।

उचित प्रयास से जो कुछ भी प्राप्त हो उसी में संतुष्ट रहना संतोष कहलाता है। अपने वर्ण–आश्रम, परिस्थिति और योग्यता के अनुसार स्वधर्म का पालन करना और उसके पालन में जो शारीरिक या मानसिक अधिक से अधिक कष्ट प्राप्त होता है उसे सहन करना तप है। व्रत, उपवास आदि को भी इसी में शामिल किया जाता है। सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास, हानि–लाभ आदि सहन कर इन द्वंद्वों

से उबरना ही तप माना जाता है। स्वाध्याय का अर्थ है शास्त्रों का अध्ययन करना तथा ज्ञानी पुरुष के कथनों का अनुशीलन करना, स्वयं का अध्ययन करना। ईश्वर प्राणिधान– ईश्वर के प्रति श्रद्धा रखना। योग दर्शन में ईश्वर के ध्यान को योग का सर्वश्रेष्ठ विषय माना गया है।

अष्टांग योग का तृतीय साधन है– आसन, जिसके विषय में महर्षि कहते हैं– स्थिरसुखमासनम्[8] अर्थात् जिस स्थिति में अतिकाल तक बैठने पर भी स्थिरता और सुख मिले वही आसन है। आसन का अर्थ है शरीर को विशेष मुद्रा में रखना। आसन की अवस्था में शरीर का हिलना और मन की चंचलता इत्यादि का अभाव हो जाता है, तन–मन दोनों को स्थिर रखना पड़ता है।

योग का चौथा एवं महत्वपूर्ण साधन है– प्राणायाम। इस विषय में महर्षि पतंजलि लिखते हैं–तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः[9]

अर्थात् आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास–प्रश्वास की जो सामान्य गति है उसमें अन्तर डाल देना, उसको तरंगित कर देना, उसमें विक्षोभ पैदा कर देना, प्राणायाम है।

श्वास–क्रिया को नियंत्रित करके उसमें एक क्रम लाना प्राणायाम कहा जाता है। जब व्यक्ति की साँस चलती रहती है तब तक उसका मन चंचल रहता है। श्वास–वायु के स्थगित होने से चित्त में स्थिरता का उदय होता है। प्राणायाम के तीन भेद हैं– पूरक, कुम्भक और रेचक। पूरक में गहरी साँस ली जाती है। कुम्भक में श्वास को भीतर रोका जाता है। रेचक में श्वास को बाहर निकाला जाता है।

प्रत्याहार– यह अष्टांगयोग का पाँचवाँ साधन है। प्रत्याहार का अर्थ है इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाना तथा उन्हें मन के वश में रखना– "स्वस्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।"[10]

इन्द्रियां स्वभाव से ही विषयोन्मुख होती हैं। बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्त होना उनका स्वभाव है। उनकी बहिर्मुखवृत्ति को अन्तर्मुख बनाना आवश्यक होता है। प्रत्याहार को अपनाना अत्यन्त कठिन है। अनवरत अभ्यास, दृढ़ संकल्प और इन्द्रिय–निग्रह के द्वारा ही प्रत्याहार को अपनाया जा सकता है।

धारणा इसका अर्थ होता है–''देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'[11] अर्थात चित्त को अभीष्ट विषय पर स्थिर रखना। धारणा आन्तरिक अनुशासन की पहली सीढ़ी है। धारणा में चित्त किसी एक वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है। इस योग साधना में चित्त को अन्य वस्तुओं से हटाकर एक वस्तु पर केन्द्रीभूत कर देना पड़ता है।

ध्यान यह सातवाँ योगमार्ग है। ध्यान का अर्थ है– तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्[12] अभीष्ट विषय का निरन्तर अनुशीलन। ध्यान की वस्तु का ज्ञान अविच्छिन्न रूप से होता है जिसके फलस्वरूप विषय का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। ध्यान में

ध्याता, ध्येय और ध्यान की अलग–अलग प्रतीति होती है। सांख्य के सूत्रकार ने इसी को सांख्य दर्शन में लिखा– ध्यान निर्विषयं मनः।[13]

अर्थात् ध्यान की स्थिति में मन निर्विषय सा हो जाता है, उसके पास ध्येय के अतिरिक्त कोई विषय नहीं रह जाता, यही ध्यान है। ध्यान योग की एक उच्च स्थिति का नाम है। अभ्यास तो धारणा का किया जाता है, ध्यान तो स्वतः हो जाता है, जितना धारणा का अभ्यास दृढ़ होगा ध्यान की स्थिति उतनी ही सुदृढ़ होती जायेगी। जब धारणा की स्थिति मजबूत हो जाती है तब साधक धीरे–धीरे समाधि के क्षेत्र में प्रवेश करता है।

समाधि– यह अंतिम योगांग है। इसको परिभाषित करते हुए महर्षि पतंजलि लिखते है– ''तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः''[14] इस अवस्था में मन ध्येय विषय में इतना लीन हो जाता है कि वह उसमें तन्मय हो जाता है और अपना कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। ध्यान की अवस्था में ध्येय विषय और ध्यान की क्रिया– ये दोनों पृथक् हैं। परन्तु समाधि की अवस्था में ध्यान की क्रिया का पृथक– अनुभव नहीं होता, वह ध्येय विषय में डूबकर अपने को खो बैठती है। अर्थात् इस अवस्था को प्राप्त हो जाने से 'चित्तवृत्ति का निरोध' हो जाता है।

जिस प्रकार योग सूत्र में चित्तवृत्ति निरोध के लिए अष्टांग योग बताया गया है। ठीक उसी प्रकार गीता में भी योग अथवा समाधि को मानव जीवन का परम् पुरुषार्थ मानते हुए इसके तीन मार्ग अर्थात् ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग तथा भक्तिमार्ग बताये गये हैं। साधक इन तीन में से किसी भी मार्ग को अपनाकर परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। ज्ञानमार्ग में आध्यात्मिक मार्ग द्वारा आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध स्थापित होता है। ''ज्ञानयोगेन सांख्यानाम् कर्मयोगेन योगिनाम्।[15]

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं जो भक्त निरंतर उन्हें ध्यान करते हैं एवं प्रेमपूर्वक भजते हैं, उन्हें वे तत्वज्ञान रूप योग देते हैं, जिससे वे ईश्वर को प्राप्त करते हैं। ज्ञानयोग निवृत्ति मार्ग पर अधिक जोर देता है। अपने सभी कर्मों, आकांक्षाओं एवं इच्छाओं को तथा अपने आपको परमात्मा में अर्पित कर देना ही गीता का ज्ञान–योग है। कर्मयोग का सम्बन्ध निष्काम कर्म से है। अर्थात् फल की इच्छा से रहित होकर अपना कर्तव्य समझकर कर्म करना और यही स्वधर्म भी है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतु भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।[16]

इसी प्रकार भक्ति मार्ग को भी उतना ही स्थान दिया गया है। ईश्वर के प्रति परम अनुराग भक्ति है। गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं–''सर्वधर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज''[17] अर्थात् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, संपूर्ण धर्मों को मुझमें

अर्पण करके केवल मेरी शरण में आओ।' यहाँ पर तीनों मार्गों को समान महत्व देते हुए समन्वय किया गया है। साधक अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार किसी भी मार्ग पर चलकर परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर सकता है।

जैन एवं बौद्ध धर्मों में भी कैवल्य एवं निर्वाण को जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है तथा दोनों त्रिरत्न एवं अष्टांगमार्ग के द्वारा इस लक्ष्य को प्राप्त करने की बात कही है। भारतीय दर्शन में मूल सत्ता का साक्षात्कार और इसकी प्राप्ति ही जीवन का निःश्रेयस है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन भी योग से अछूते नहीं हैं। इनमें भी योग की झलक दिखती है। कहीं ना कहीं इसमें भी योग के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

'समाधि विशेषाभ्यासात्।।'

समाधि विशेष के अभ्यास से तत्वज्ञान उत्पन्न होने लगता है।

'अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः।।'[18]

अरण्य अर्थात् वन, गुहा और नदीतट आदि स्थानों में योगाभ्यास उपयुक्त होता है।

जैन दर्शन के अन्य ग्रंथों में भी योग के विविध प्रमाण प्राप्त होते हैं। नियम सार कुंद–कुंद में वर्णन किया गया।

आत्मानमात्मायं युतक्त्येव निरन्तरम्।
स योग भक्तियुतः स्यान्निश्चयेन मुनीश्वरः।।[19]

जिस प्रकार योग दर्शन के आचार्य ने योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः[20] के द्वारा उपदेश दिया कि चित्तवृत्तियों का निरोध करना योग है, उसी प्रकार इस ग्रंथ में भी आत्म–चेतना को नियंत्रित करने तथा मन के निर्मलीकरण का उपदेश दिया गया है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि योग एवं जीवन दोनों एक सिक्के के दो पहलू के समान है। योग मानव जीवन का अंतिम ध्येय हैं और उसको प्राप्त करना ही जीवन की सार्थकता है। इस बात को लेकर किसी भी धर्मों में विरोध नहीं है। यहाँ तक कि भारतीय दर्शन में नास्तिक जैन एवं बौद्ध तथा आस्तिक दर्शनों में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त सभी इस बात पर एक मत हैं। पाश्चात्य दर्शन में भी सभी दर्शनों का केन्द्र यही है। साथ ही विश्व में प्रचलित सभी धर्मों हिन्दू धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म इत्यादि का एक ही मूल ध्येय है और वह है त्रिविध दुःख से निवृति। अर्थात् परम सत्ता का साक्षात्कार करना। यही योग है और यहाँ तक पहुँचना जीवन का लक्ष्य है।

संदर्भ

1. योगी याज्ञवल्क्य–1/44 सुखनन्दन सिंह 'सदय'–विहंगम योग एक झलक–सुकृत ऑफसेट प्रेस, गंगातट झूँसी प्रयागराज (उ.प्र.) सप्तम संस्करण–2014 पृष्ठ–2
2. सद्गुरु आचार्य श्री स्वतन्त्रदेव जी– श्री मद्भगवदगीता भाष्य–अध्याय–2 श्लोक–50–सुकृत ऑफसेट प्रेस, गंगातट झूँसी, प्रयाग (उ.प्र.) चतुर्थ संस्करण–2018 ई. पृष्ठ–88
3. उदयवीर शास्त्री– 'योगदर्शनम्' समाधिपाद सूत्र– 2 विजयकुमार गोविन्दराम हासानंद नई सड़क दिल्ली, संस्करण– 2021 पृष्ठ– 3
4. आचार्य राजवीर शास्त्री– पातंजल योगदर्शन भाष्यम्– व्यास भाष्य– 1/1 आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, सप्तम संस्करण– 2020 पृष्ठ– 67
5. योग सूत्र– 2/29 सन्दर्भ– 3 पृष्ठ– 188
6. वही– 2/30 पृष्ठ– 189
7. वही– 2/32 पृष्ठ– 198
8. वही– 2/46 पृष्ठ– 215
9. वही– 2/49 पृष्ठ– 218
10. वही– 2/54 पृष्ठ– 226
11. वही– 3/1 पृष्ठ– 230
12. वही– 3/2 पृष्ट– 232
13. डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगांवकर– कपिल मुनि कृत सांख्य दर्शनम्म'–चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी–पुनर्मुद्रित संस्करण–2019 अध्याय 6 सूत्र–25 पृष्ठ–754
14. योगसूत्र– 3/3 सन्दर्भ– 3 पृष्ठ– 232
15. गीता– 3/3 सन्दर्भ– 2 पृष्ठ– 87
16. वही– 2/47 पृष्ठ– 63
17. न्यायसूत्र–4/2/38 आचार्य उदयवीर शास्त्री–'न्याय दर्शनम्' विजय कुमार गोविंदराम हासानन्द–4408, नई सड़क, दिल्ली संस्करण– 1999 ई. पृष्ठ–486
18. वही– 4/2/42 पृष्ठ–489
19. नियमसार कुन्द कुन्द–137–'योग के आधार भूत तत्व' उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल –प्रकाशन वर्ष– 2015 इकाई–6 लेखक– ईश्वर भरद्वाज पृष्ठ–89
20. सद्गुरु सदाफलदेव पातंजल योग दर्शन–भाष्य–1/2 सुकृत ऑफसेट प्रेस, छतनाग रोड, गंगातट झूँसी, प्रयागराज, तृतीय संस्करण–2005 पृष्ठ–1

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

जैन परिप्रेक्ष्य में पर्यावरणीय चेतना

दिव्यानी *

पर्यावरण : सामान्य दृष्टिकोण : प्रारंभिक काल में पर्यावरण का अर्थ सिर्फ हमारे चारों ओर का वातावरण माना जाता था परन्तु आज पर्यावरण का अर्थ इतना व्यापक हो चुका है कि इसमें सम्पूर्ण पृथ्वी, उसका वातावरण और उस धरती पर विद्यमान हर वस्तु पर्यावरण का हिस्सा बन गया है। 'पर्यावरण' वह महाविज्ञान है, जिसके अन्तर्गत प्राणी–विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, स्वास्थय विज्ञान, भौतिक–विज्ञान, रसायन विज्ञान तथा खगोल विज्ञान जैसे अनेक विज्ञान एक शाखा के रूप में विद्यमान है।[1] श्री अजय मेहरोत्रा ने पर्यावरण के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है, ''पर्यावरण जैविक (पेड़–पौधे व जीव–जन्तु) व अजैविक (जल, स्थल, वायु) दो मुख्य कारकों से मिलकर बनता है। ये दोनों संयुक्त रूप से विभिन्न प्रकार के परिस्थिति निकाय या तंत्र का निर्माण करते हैं। इनका संचालन व मानव निर्धारण प्रकृति स्वयं करती है। ये हमें विरासत में मिले हैं और इनका वितरण भी समान रूप से प्रकृतिदत्त है।''[2] पृथ्वी पर उपस्थित सभी जीवों को समान रूप से जीवन जीने का अधिकार प्राप्त है। यदि मानव अन्य जीवों के इस मौलिक अधिकार की कटौती करता है, अपनी विलासिता के लिए, अन्य जीवों के जीवनाधिकार का अतिक्रमण करता है और उनके जीवन को संकट में डालता है तो एक तरह से वह स्वंय के लिए ही संकट को आमन्त्रित करता है।[3]

प्रकृति ने मनुष्य को अनूठी प्रतिभा, क्षमता, सृजनशीलता, तर्कशक्ति देकर विवेकशील, चिन्तनशील एवं बुद्धिमान प्राणी बनाया है। इस कारण मनुष्य का यह दायित्व है कि वह प्राकृतिक संसाधनों का अतिदोहन ना कर उसे संतुलित बनाए रखते हुए एक स्वस्थ पर्यावरण का निर्माण करे। परन्तु आज मानव पर्यावरण के प्रति अपनी इन जिम्मेदारियों से मुंह मोड़ लिया है। जिस कारण प्रकृति का अनूठा

* *शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची*

सौंदर्य कहीं खो सा गया है। विज्ञान की चकाचौंध में जगंलों के वक्षस्थल पर कहीं कुलहाड़ी की तेज धार चुभाई जा रही है तो कहीं जीवों के अधिकारों का हनन किया जा रहा है। पर्यावरण वस्तुतः प्रकृति का विशाल प्रांगण है जहाँ व्यक्ति उसके साथ अठखेलियाँ खेल रहा है और उसके स्वस्थ एवं स्चच्छ स्वरूप को मटियामेट कर रहा है।[4]

पर्यावरण संतुलन : प्रकृति अपने मौलिक रूप में स्वच्छ व पोषणीय होती है। उसके विभिन्न घटकों में पारस्परिकता व सहभागिता हो तो संतुलन बना रहता है। प्रकृति के विभिन्न घटकों का यह तालमेल पर्यावरण संतुलन कहलाता है। पर्यावरण में जड़ जगत एवं चेतन जगत एक–दूसरे पर निर्भर हैं। ये दोनों मिलकर विभिन्न प्रकार से पारिस्थितिकी निकाय या तंत्र का निर्माण करते हैं जिसका संचालन प्रकृति स्वयं करती है। यह प्रकृति प्रदत्त व्यवस्था ही पर्यावरण संतुलन है।[5] पर्यावरण संरचना एवं उसके प्राकृतिक चक्र में छेड़छाड होने से ये संतुलन बिगड़ जाता है। प्रकृति में सहनशीलता की शक्ति होती है इस कारण वह मानव के हस्तक्षेप एवं अतिक्रमण को बर्दाशत कर लेती है परन्तु मानव जब अपनी तृष्णा, विलासिता और असंयमित प्रवृत्ति के कारण प्रकृति के संतुलन चक्र में सतत हस्तक्षेप करता है तब प्रकृति का संतुलन बिगड़ जाता है और तब वही प्रकृति जो मानव के जीवन को कारण है वह उसके मृत्यु का कारण बन जाती है। ऐसी स्थिति में मानव इस समस्या से बचने के लिए प्रयास करना आरंभ करता है तथा थोड़ी–बहुत सफलता वह प्राप्त भी कर लेता है परन्तु तभी दूसरी ओर से कोई नयी समस्या उसके समक्ष उपस्थित हो जाती है फिर तीसरी और चौथी। समस्याओं का यह सिलसिला चलता रहता है परन्तु मानव इसका सामाधान नहीं निकाल पाता है।

मानव के इस अदूरदर्शिता एवं स्वार्थी स्वभाव का परिणाम आज सम्पूर्ण विश्व भोग रहा है। पूरा विश्व पर्यावरणीय असंतुलन की स्थिति से आहत और चिंतित है। इसके सामाधान हेतु समय–समय पर 'पर्यावरण सुरक्षा दिवस', 'वृक्ष लगाओ अभियान' तथा अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय संगोष्ठियाँ चलाई जा रही है। देश की संसद से लेकर उच्चतम न्यायालय तक इसके निदान हेतु चर्चा हो रही है। परन्तु फिर भी इन सबका परिणाम शून्य रहा है। इसका अर्थ यह है कि समसया के समाधान हेतु हमारा जो प्रयास है वह संभवतः सही लक्ष्य की ओर नहीं है, परिणामस्वरूप पर्यावरणीय विपत्तियाँ नये–नये रूप में हमारे समक्ष खड़ी होती है। इस समस्या से निपटने के लिए जैन दर्शन में एक बड़ा ही सरल उपाए बताया गया है, परन्तु यह मार्ग उन व्यक्तियों के लिए सरल होगा जो परार्थ की भावना

से कर्म करते हैं परन्तु जो स्वार्थ की भावना से कर्म करते हैं उनके लिए यह मार्ग अत्यन्त कठिन सिद्ध हो सकता है। जैन दर्शन में कहा गया है कि मानव यदि स्वंय को संतुलित एवं अनुशासित कर ले तो उपरोक्त बताए गए प्रयासों के बिना भी पर्यावरण स्वंय ही संतुलित एवं सुरक्षित हो जाएगा। ऐसी स्थिति में यह ज्ञात होता है कि पर्यावरणीय संकट से बचने के लिए जैन द्वारा बताए गए मार्गों का अनुकरण करना आवश्यक है। जब हम जैन दर्शन के सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करते है तो वहाँ पर्यावरण के संरक्षण के लिए मानव चेतना को पूर्व में ही सचेष्ट किया जा चुका है। केवल मात्र जैन धर्म ही संसार का वह पहला और अब तक का आखिरी धर्म है जिसने धर्म का मूलाधार पर्यावरण सुरक्षा को मान्य किया है।[6]

पर्यावरण : जैन दृष्टिकोण : जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषदेव ने लाखों करोड़ो वर्ष पूर्व ही पर्यावरणीय असंतुलन की रोकथाम के लिए संविधान निर्धारित किया था। इसी कारण ऋषभदेव को पर्यावरण विज्ञान का पितामह कहा जाता है। पर्यावरण के संबंध में स्थावर जीवों में पृथ्वी, जल, वायु, तेज व वनस्पति को जीवन बताकर पर्यावरण का विस्तार तीन लोक तक का बताकर तथा 'क्रिया' से अधिक 'भावना' का महत्व बताकर जैन धर्म पर्यावरण–विषयक चिंतन को एक नया आयाम देता है। जैन के अनुसार पर्यावरण शब्द का तात्पर्य केवल बाह्य जगत से नहीं बल्कि अन्तर्जगत व जीव के प्रति दृष्टिकोण से भी है। जड़ व चेतन दोनों मिलकर पर्यावरण की रचना करते हैं, जिसमें दोनों की ही निश्चित भूमिका है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति की क्रियाएँ ही पर्यावरण का हिस्सा नहीं है, अपितु व्यक्ति के दृष्टिकोण एवं भावनाओं का भी पर्यावरण को प्रभावित करने में उतना ही महत्व है। संभवतः व्यक्ति का दृष्टिकोण एवं भावना ही पर्यावरण संतुलन में अहम् भूमिका निभाता है।[7] पर्यावरण के अर्थ को लेकर आधुनिक वैज्ञानिक जगत व जैनागमों में विद्यमान अर्थ में विरोध नहीं है बल्कि जैन ग्रंथों में तो सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों जैसे पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि के स्वाभाविक संरक्षण पर अनादिकाल से बल दिया गया है।[8]

जैन के अनुसार यह संसार अनेक एवं असंख्य जीवों से परिपूर्ण है। इसमें पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति स्थावर जीव से लेकर पशु–पक्षी, मनुष्य आदि त्रस जीव विद्यमान हैं। पृथ्वी ही जिन जीवों का शरीर है, वे पृथ्वीकायिक जीव कहलाते हैं। ये जीव अव्यक्त चेतना वाले होते हैं। जल ही जिन जीवों का शरीर है, वे जलकायिक जीव कहलाते हैं। सभी प्रकार के ओले, कुहरा, ओस ये सब जलकायिक जीवों के शरीर हैं। इन जीवों के शरीर सुक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं देते। जलकायिक जीवों में केवल स्पर्शेन्द्रिय होती है। अग्नि ही जिन जीवों

का शरीर है, वे अग्निकायिक जीव कहलाते हैं। जो अग्निकायिक लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। वायु ही जिन जीवों का शरीर उन्हें वायुकायिक जीव कहते हैं। वायुकायिक जीव अति सूक्ष्म होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होते। स्थावर जीवों में वनस्पतिकायिक जीवों की चेतना अत्यधिक स्पष्ट होती है। इस प्रकार जैन धर्म में पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु को भी जीव की संज्ञा दी गई है तथा पर्यावरण संरक्षण में स्थावर जीव से लेकर पशु–पक्षी, मनुष्य आदि त्रस जीवों के जीवन को महत्त्वपूर्ण माना गया है। सभी का अपना स्वतन्त्र अस्तिव एवं मूल्य है। प्रत्येक जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति एवं अनंत आनंद से युक्त होते हैं परन्तु फिर भी अज्ञान के कारण क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी कषाय के आवरण से जीव का स्वाभाविक स्वरूप (अनन्त चतुष्टय) ढ़क जाता है। जिस कारण ये कषाय अशुभ कर्म पुद्गलों को सक्रिय कर पर्यावरण को प्रदूषित करते हैं। जैन धर्म में इन अशुभ कर्म–पुद्गलों की निवृत्ति पर विशेष बल दिया गया है। ताकि जीव के साथ–साथ पर्यावरण भी सुरक्षित एवं स्वस्थ रह सके। जैन के अनुसार पर्यावरण के संरक्षण, विशुद्धि और पोषण के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके मूल्य और उपयोगिता को जानें तथा उसके साथ आत्मीयता स्थापित करें। जैन धर्म में पर्यावरण संरक्षण के लिए स्वंय को अनुशासित करना तथा अन्य जीवों के सहज जीवन में हस्तक्षेप ना कर उनके जीवन को सुख से संयोग एवं दुःख से वियोग करना आवश्यक माना गया है।[9]

जैन के अनुसार पर्यावरण के दो पक्ष होते हैं– एक तो 'बाह्य प्रकृति', जो हमारे शारीरिक अस्तित्व को चारों और से आवृत्त करती है और दूसरी 'आभ्यान्तर प्रकृति', जो आत्मा या चेतना को आवृत्त करती है। आभ्यान्तर प्रकृति में उत्पन्न असन्तुलन बाह्य प्रकृति में भी असंतुलन उत्पन्न कर देता है। मूल्य और उसके चिन्तन में आये परिवर्तन पर्यावरणीय परिवर्तन को जन्म देता है।[10] कहने का तात्पर्य यह है कि जैसा मानव का विचार एवं आचरण होता है वैसा ही पर्यावरण भी रहता है। मानव का यदि विचार एवं आचरण शुद्ध होगा तो निश्चय ही पर्यावरण भी शुद्ध एवं संरक्षित रहेगा।

परन्तु आज वैज्ञानिक एवं भौतिकवादी प्रगति ने मानव समाज की आत्मिक चेतना की शुद्धता को लुप्त कर दिया है। वस्तुतः आज अध्यात्मवाद एवं भौतिकवाद के बीच संघर्ष चल रहा है। महावीर जैन के अनुसार अध्यात्मवाद का अर्थ है– पदार्थ को परम मूल्य ना मानकर आत्मा को ही परम मूल्य मानना। भौतिकवाद का अर्थ है– सुख एवं स्वार्थ की लालसा में प्राकृतिक संसाधनों का अतिदोहन

कर उसका शोषण करना। मानव के इस भौतिकवादी विचारधाराओं के कारण ही शोषण एवं संग्रह जैसी अनेक सामाजिक बुराईयों का जन्म हो रहा है। जिस कारण मानव स्वंय तो त्रस्त होता ही है साथ–ही–साथ समाज को भी त्रस्त करता है। इसके विपरीत आध्यात्मवाद के अनुसार सुख हमें बाह्य वस्तु से नहीं बल्कि अन्तरात्मा से प्राप्त होती है। जैन आचार्यों ने कहा है कि जीव सुख दुःख का कर्त्ता एवं भोक्ता दोनों है। कर्त्ता होने के कारण वह सुख–दुःख का निर्माण करता है तथा स्वंय ही उसे भोक्ता भी है। मानव यदि अपनी अन्तरात्मा में सद्‌गुणों को स्थापित करेगा तो वह सुख का निर्माण कर स्वंय उस सुख को भोगेगा। इसके विपरीत मानव यदि दुर्गुणों को स्थापित करेगा तो वह दुःख का निर्माण कर स्वंय उसे भोगेगा। इस प्रकार व्यक्ति अपना मित्र एवं शत्रु स्वयं होता है। जैन कहते हैं वास्तविक सुख या आनंद भौतिकता में नहीं बल्कि आध्यात्म में है।[11] अतः यदि हम भौतिकता का मार्ग छोड़कर आध्यात्म के मार्ग पर चलें तो हम अवश्य ही ना केवल स्वयं के जीवन की समस्याओं का समाधान कर सकते हैं बल्कि समाज के भयंकर पर्यावरणीय समस्याओं जैसी अनेक समस्याओं का भी सामाधान कर सकते हैं। जिसके परिणामस्वरूप हमारे साथ–साथ भावी पीढ़ी भी सुख एवं शान्ति का आनंद उठा सकती है। सूत्रकृतांग में कहा गया हैं भविष्य में तुम्हे कष्ट नहीं भोगना पड़े इसलिए अभी से अपने आप को अनुशासित करो।[12]

पर्यावरण एवं अहिंसा : पर्यावरणीय चेतना की दृष्टि से जैन धर्म में अहिंसा की जितनी विशुद्ध रूप से व्याख्या की गई है उतनी अन्य किसी धर्मों में नहीं की गई है। जैन धर्म में पर्यावरण, की सुरक्षा के लिए सबसे महत्वपूर्ण धर्म 'अहिंसा' को माना गया है। अहिंसा को शुद्ध, नित्य एवं शाश्वत धर्म कहा गया है। अहिंसा को परिभाषित करते हुए आचारांगसूत्र में कहा गया है–

''सव्वे पाणा सव्वे भूता, सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा,
ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा''[13]

किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्तवा का हनन नहीं करना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, उन्हें दास नहीं बनाना चाहिए उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए, उनका प्राण वियोजन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार जैन धर्म में पर्यावरण के सभी स्थावर एवं त्रस जीवों के जीवन की रक्षा करने की बात कही गई है। अहिंसा का अर्थ ही है हिंसा का त्याग, जिसे इस अहिंसा धर्म का ज्ञान नहीं है, उसे अन्य तत्वों का ज्ञान कहाँ से होगा। देह के प्रति अनासक्त मनुष्य ही अहिंसा जैसे परम धर्म को जान सकता है। भगवान महावीर का उपदेश है कि दुःख हिंसा से उत्पन्न होता है। इसलिए हिंसा का परित्याग करना चाहिए।[14]

अहिंसा एक महान मार्ग है। हर कोई व्यक्ति इस मार्ग पर नहीं चल सकता। जो पराक्रमी एवं वीर होते हैं, वे ही इस महान पथ के पथिक बनते हैं। अहिंसा कायरों का मार्ग नहीं अपितु यह पराक्रम शालियों का मार्ग है। पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु वनस्पति और त्रस आदि जीवों को जानकर उठने, बैठने, ठहरने आदि सभी क्रियाओं में हिंसा आदि का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है। जीव के कुल योनि, मार्ग स्थान आदि को जानकर जीव हिंसा से बचना ही अहिंसा है। जैनागमों में अहिंसा को जीवन का पर्याय माना गया है। जीवन के प्रत्येक क्रिया कलापों में अहिंसा का पालन कर पर्यावरण को संतुलित एवं सुरक्षित किया जा सकता है। इसलिए चलने, बैठने, बोलने, खाने–पीने आदि सभी–दैनिक क्रियाओं में अहिंसा का पालन करने की बात कही गई है। इससे सिद्ध होता है कि जैन धर्म का मूलाधार अहिंसा ही है। इस विराट विश्व में जितने भी प्राणी हैं वे चाहे छोटे हों या बड़े हों, पशु हो या मानव हो, सभी जीवित रहना चाहते हैं। कोई भी मरना नहीं चाहता। अहिंसा में सभी प्राणियों के कल्याण की भावना निहित है।[15] जैनधर्मावलम्बीयों ने सब वस्तुएँ–पशु एवं कीट–पतंग, पौधे और पत्ते को जीवात्म कहकर, इन सभी को पुनर्जन्म के सिद्धान्त से जोड़ दिया है। जिस कारण जीव–हिंसा किसी भी रूप में भयावह प्रतीत होती है।[16]

जैन दर्शन के विचार व आचार का प्राण अहिंसा है। जैन उन सभी भोग पदार्थों का त्याग करते हैं। जिनमें जीव विद्मान होते हैं। अर्थात् जिन सब्जियों में छोटे कीड़े या सुक्ष्म जीव होते है, उन्हें वे नहीं खाते हैं। जड़ और जमीन के अंदर उगाई गई सब्जियों को वे ग्रहण नहीं करते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि जमीन के अंदर सूरज की रौशनी नहीं पहुँचती है, जिस कारण इन सब्जियों में अनेक छोटे–छोटे जीव की उत्पत्ति हो जाती है तथा जैनियों के लिए जीव हिंसा घोर पाप है। जैन अत्यन्त कट्टरता के साथ अहिंसा का पालन करते हैं। कहीं किसी जीव की हत्या ना हो जाए इस विचार से कुछ जैनी चलने से पूर्व मार्ग में झाड़ू देते हैं, मुख पर परदा डालकर चलते हैं जिससे कि कोई जीवित जन्तु श्वास के साथ उनके नाक में ना चला जाए।[17] पानी को छानकर पीते है और शहद का भी त्याग करते हैं, क्योंकि इसका संग्रहण मधुमक्खियों के विरूद्ध हिंसा के समान होगा। जैनियों के व्यवहार में कहीं किसी भी रूप में अकस्मात जीव हिंसा ना हो जाए, सदा व्याप्त रहता है। जैन दर्शन में कहा गया है कि विश्व में उसर कुछ भी नहीं है, कुछ भी उत्पादन में अक्षम अथवा एकदम मृत नहीं है।[18] सम्पूर्ण विश्व जीव से परिपूर्ण है, जिनकी सुरक्षा के लिए अहिंसा पालन का उपदेश दिया गया है। पर्यावरण संरक्षण हेतु अहिंसा रूपी व्यवहार ही सर्वोत्तम

है। जहाँ अहिंसा है वहीं सर्वांगीण विकास एवं प्रगति भी है। हिंसक रूप से किया गया प्रत्येक कार्य भौतिक विनाश कहलाता है जो कि एकांगी विकास है क्योंकि इस विकास के साथ विनाश सहगामी है। वस्तुतः इसे विकास नहीं अपितु विनाश का आरंभ कहना उचित होगा।

निष्कर्ष : मानव प्रकृति का सर्वोच्च प्राणी है, क्योंकि उसके पास जैसा मस्तिष्क व तार्किक क्षमता है वैसी अन्य किसी भी जीव में नहीं है। प्रकृति में उपलब्ध अन्य जीवों, वस्तुओं व उपादानों का मूल्य मानव अपने उपयोग के द्वारा ही तय करता है। वह प्राकृतिक संसाधनों का अपने विकास व प्रगति के लिए जैसा चाहे वैसा उपयोग करता है। इससे मानव यह निष्कर्ष निकाल लेता है कि उसके अतिरिक्त पर्यावरण में पाई जाने वाली प्रत्येक वस्तु व जीवन उसके भरण–पोषण व सुख–सुविधा तथा उसकी विलासिता के लिए है। सारी प्रकृति मानव की सेविका है और मानव के लिए समस्या उत्पन्न नहीं कर सकती। परन्तु नित्य प्रतिदिन वायु, जल स्थल आदि से सम्बन्धित समस्याएँ उत्पन्न हो रही है, इसका मुख्य कारण मानव का अधकचरा ज्ञान ही है, जो अभी पूर्ण ज्ञान तथा तर्क की पराकाष्ठा तक नहीं पहुँचा है। ये अपूर्ण ज्ञान ही पर्यावरण असंतुलन का कारण है। जैन दर्शन में वर्णित 'केवल ज्ञान' की स्थिति ज्ञान की चरम स्थिति है जिसकी प्राप्ति के लिए अहिंसा को साधन बनाया गया है। अहिंसा का मूल मंत्र है 'जीओ और जीने दो' तथा जैन दर्शन में इस कर्म के पालन का उपदेश दिया गया है। परन्तु मानव का कर्म एवं व्यवहार उसकी भावनाओं और विचारों द्वारा नियमित होता है। मानव अहिंसा के मार्ग पर तब तक नहीं चल सकता है जब तक कि उसकी चेतना में इस मार्ग पर चलने की इच्छा उत्पन्न ना हो जाए। पर्यावरण संरक्षण में मानव का पर्यावरण के प्रति दृष्टिकोण एवं विचार ही उसे अहिंसक कर्मो के लिए प्रेरित करता है। तत्पश्चात वह पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर पर्यावरण के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह कर पाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति यदि भावनाओं एवं विचारों को शुद्ध तथा दृष्टिकोण को सही कर ले तो उसका कर्म भी निःसंदेह ही न्यायसंगत हो जाएगा। जिसके परिणामस्वरूप पर्यावरण स्वयं ही संतुलित एवं सुरक्षित हो जाएगा। अतः पर्यावरणीय समस्या से बचने के लिए उचित कर्म से कहीं अधिक उचित विचार एवं उचित दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है। इसलिए जैन दर्शन में द्रव्य कर्म से ज्यादा भाव कर्म को महत्व दिया गया है।

पर्यावरणीय चेतना के संदर्भ में अर्न्तदृष्टि एवं आत्म समीक्षण का जितना अधिक विचार जैन दर्शन में किया गया है, उतना कहीं उपलब्ध नहीं है।

संदर्भ

1. डॉ. राजीव कुमार, पर्यावरणीय नीतिशास्त्र–I और II, मेमर्स लक्ष्मी पब्लिकेशन्स प्रा.लि., दिल्ली, 2019, पृ.–133
2. मेहरोत्रा अजय, पर्यावरण वानिकी, सूरज एंटरप्राइजेज प्रकाशन, भोपाल, 1992
3. निर्मला गोदिका, पर्यावरण चेतना एवं संरक्षण, जैन धर्म एवं संस्कृति के विशेष संदर्भ में, प्रथम संस्करण, 2005, अविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, जयपुर, पृ.–06
4. भास्कर, प्रो0 डॉ0 भागचन्द्र जैन, जैन धर्म और पर्यावरण, न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, पृ.–01
5. निर्मला गोदिका, पर्यावरण चेतना एवं संरक्षण, जैन धर्म एवं संस्कृति के विशेष संदर्भ में, प्रथम संस्करण, 2005, अविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, जयपुर, पृ.–34
6. डॉ. राजीव कुमार, पर्यावरणीय नीतिशास्त्र–I और II, मेमर्स लक्ष्मी पब्लिकेशन्स प्रा.लि., दिल्ली, 2019, पृ.–200
7. निर्मला गोदिका, पर्यावरण चेतना एवं संरक्षण, जैन धर्म एवं संस्कृति के विशेष संदर्भ में, प्रथम संस्करण, 2005, अविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, जयपुर, पृ.–10
8. वही, पृ.–08
9. वहीं, पृ.–137
10. सिंह, डॉ. श्यामकिशोर, जैन अध्यात्मवाद, पार्शवनाथ, विद्यापीठ, वाराणसी, 2007, पृ.–113
11. वही, पृ.–114
12. सूत्रकृतांग (1.2.3.7)
13. आचारागंसूत्र 4/1/1
14. त्रिपाठी, डॉ. राकेशमणि एवं तातेड़, प्रो. (डॉ.) सोहन राज, जैन आगमों और उपनिषदों की आचार मीमांसा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, प्रथम संस्करण 2011, पृ.–111
15. वहीं, पृ.–119
16. डॉ. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन–1, वैदिक युग से बौद्ध काल तक, दीपिका एन्टरप्राइज़ेज, दिल्ली, 2017, पृ.–238
17. वही, पृ.–264
18. वही, पृ.–270

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-2, अप्रैल-जून, 2023

ज्ञान निर्माण में काण्ट के दर्शन की प्रासंगिकता

*सुरबाला वर्मा**

विषय प्रवेश : इमान्युएल काण्ट आधुनिक दर्शन के महानतम दार्शनिक हुए। आधुनिक युग में पाश्चात्य दर्शन में तत्वमीमांसा से अधिक ज्ञानमीमांसा का महत्व रहा है। वस्तुतः आधुनिक युग की यह एक बड़ी विशेषता रही है कि दर्शनिकों ने तात्त्विक समस्याओं को हल करने के पूर्व उस साधन पर गंभीरता से विचार करना प्रारंभ किया जिससे ज्ञान की उपलब्धि होती है। ज्ञानमीमांसा वस्तुतः मानवीय बोध की परख ही तो है। हमारा ज्ञान आखिर कैसे निर्मित कैसे होता है? हमारे ज्ञान के साधन क्या है? हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता क्या है? किस सीमा तक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं? आदि प्रश्नों का हल आधुनिक विचारक बड़ी शिद्दत से ढूंढते हैं। काण्टके दर्शन में भी ज्ञानमीमांसा के प्रश्नों पर गंभीरता से विचार हुआ है।

काण्ट के दर्शन की पृष्ठभूमि : प्रारंभ में काण्ट बुद्धिवादी परंपरा से प्रभावित हुए थे। इसीलिए उनकी प्रारंभिक शिक्षा वुल्फ के बुद्धिवादी परंपरा में हुई। लेकिन बाद में उन्हें ज्ञात हुआ कि बुद्धिवाद हमारे ज्ञान में निश्चयात्मकता दे सकता है पर सत्यता नहीं दे सकता। काण्ट बुद्धिवाद का खण्डन इस आधार पर करता है वह हवाई आकृति पर चर्चा करता है जिसका तथ्यों से कोई संबंध नहीं है"।[1] इसी परिस्थिति में उनको ज्ञानमीमांसा की दूसरी परंपरा आकर्षित की, वह है 'अनुभववाद'। ज्ञान में सत्यता लाने के लिए अनुभववाद को स्वीकारना भी आवश्यक है। इसके लिए वे ब्रिटिश दर्शन विशेषकर ह्यूम की ओर आकर्षित हुए। लेकिन आगे चल कर उनको अनुभववाद के भीतर भी त्रुटियां दिखाई देने लगीं। उन्हें ज्ञात हुआ कि अनुभववाद की स्वाभाविक परिणति संशयवाद में ही हो सकती है। उनका मानना था कि संशयवाद एक आत्मघाती सिद्धांत है जो कभी भी किसी भी दर्शन का निष्कर्ष नहीं हो सकता हैं। संशयवाद की त्रुटियों को

* *शोध छात्रा, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी*

देखकर एक बार फिर वे बुद्धिवाद की ओर आकर्षित हुए। बुद्धिवादी परंपरा के दार्शनिक लाइबनित्ज के नवीन लेखों ने काण्ट को प्रभावित किया पर अंत में उन्हें यह भी अनुभव हुआ कि विशुद्ध बुद्धिवाद ज्ञान को सत्यता प्रदान नहीं कर सकता है। अतः काण्ट एक बार पुनः अनुभववाद की ओर आकृष्ट हुए। लेकिन "ह्यूम ने काण्ट की मताग्रही निद्रा को सदा के लिए भंग कर दिया"[2] जिसके परिणामस्वरूप उनकी सबसे महत्वपूर्ण रचना "शुद्ध बुद्धि की परीक्षा" 1781 में प्रकाशित हुई। "शुद्ध बुद्धि की परीक्षा" में कांट ने अपने 'आलोचनात्मक दर्शन' का प्रतिपादन किया है। इसमें उन्होंने बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों के गुण दोषों का वर्णन करते हुए उनके केवल गुणों के आधार पर आलोचनात्मक दर्शन की स्थापना की।

काण्ट के अनुसार ज्ञान का स्वरूप : "काण्ट ने ज्ञान के दो प्रमुख लक्षण बताए है, वो है 'अनिवार्यता' और 'सार्वभौमिकता'"।[3] ज्ञान को अनिवार्यता और सार्वभौमिकता बुद्धि प्रदान करती है। एक अन्य गुण होता है 'सत्यता' का। ज्ञान की सत्यता अनुभव से आती है। इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति में बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों का योगदान होता है। यही बुद्धिवाद और अनुभववाद के समायोजन से ज्ञान की उत्पत्ति कराने की संपूर्ण प्रक्रिया ही काण्ट का आलोचनात्मक दर्शन है। काण्ट ने अपने दर्शन में अनुभव को तो महत्व दिया ही है लेकिन उससे कहीं ज्यादा बुद्धि और बुद्धि शक्तियों को दिया है। काण्ट अपनी रचना में मानवीय मस्तिष्क की छःशक्तियों का वर्णन किया है जिसमें

1. संवेदनशक्ति जिसके द्वाराहम बाह्य संवेदनाओं को ग्रहण करते है।
2. बुद्धि शक्ति जिसके द्वारा हम बुद्धि विकल्पों द्वारा बाह्य संवेदनाओं के बीच संबंध स्थापित करते हैं।
3. भाव शक्ति जिसके द्वारा हमें सुख, इच्छाओं इत्यादि का बोध होता है।
4. संकल्प शक्ति जिसके द्वारा हम नैतिक–अनैतिक का बोध कर उनके अनुसार आचरण करते है।

बुद्धि शक्ति का पुनः तीन विभाजन करते हैः 1. प्रत्यय शक्ति, 2. निर्णय शक्ति तथा 3. अनुमान शक्ति।

संवेदन शक्ति एवं ज्ञान शक्ति के विषय में काण्ट का मानना है कि दोनों शक्तियों में प्रकार भेद पाया जाता है। संवेदन शक्ति संवेदन प्राप्त करने की शक्ति है और प्रत्ययों या विकल्पों के प्राप्त करने की शक्ति को ज्ञान शक्ति कहते है। संवेदनाएं विशेष–विशेष होती है पर विकल्प सामान्य होती है। संवेदनाएं बाह्य वस्तुओं के साथ अपरोक्ष संबंध स्थापित करती है पर विकल्पों का बाह्य वस्तुओं के साथ परोक्ष संबंध ही होता है। काण्ट का मानना है कि संवेदन में आत्मा केवल संग्राहक की भूमिका में होती है लेकिन संप्रत्यय शक्ति में आत्मा स्वतः प्रवृत्त हो जाती है। काण्ट कहते है "संवेदनाओं के द्वारा वस्तुएं प्रदत्त होती हैं, प्रत्ययों के

द्वारा वे परिकल्पित होती हैं" ।[4] इस कथन से स्पष्ट है कि संवेदनाओं और प्रत्ययों में से किसी एक के द्वारा ही ज्ञान का निर्माण नहीं किया जा सकता है, ज्ञान प्राप्ति के लिए दोनों ही तत्वों की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से बुद्धिवादी और अनुभववादी दोनों ही ज्ञान परंपरा में दोष है क्योंकि दोनों ने ही ज्ञान के निर्माण के लिए इनमें से केवल एक ही तत्व की आवश्यकता पर बल दिया था।

अरस्तू के दर्शन में जैसा की हम देखते है कि प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति के लिए दो कारकों को महत्वपूर्ण मानते है पहला 'द्रव्य' और दूसरा 'आकार' ।दोनों के संयोग से किसी पदार्थ का निर्माण होता है। जैसे–घट नामक पदार्थ के लिए मिट्टी रूपी उपादान और विशिष्ट आकृति रूपी आकार की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार ज्ञान के निर्माण के लिए इंद्रिय संवेदन रूपी द्रव्य या उपादान की तथा बुद्धि विकल्प रूपी स्वरूप या आकार जो उसे सांचा प्रदान करें, की आवश्यकता है। दोनों एक दूसरे के अभाव में अपूर्ण है। अगर बुद्धि विकल्पों का अभाव होता है तो जो संवेदनाएं आएंगी वह अस्त–व्यस्त, असंबद्ध विशिष्ट इंद्रिय संवेदन ही होंगी। इसे ज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकेगी। इसके विपरीत अगर संवेदनाएं ही न हो तो क्या बुद्धि विकल्प स्वयं ज्ञान उत्पन्न कर लेगा? नहीं, बुद्धि विकल्प संवेदनाओं के अभाव में निष्क्रिय बने रहेगें। काण्ट का मानना है कि संवेदन और बुद्धि के आकार आत्मा में प्रागनुभाविक रूप में पहले से ही सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते है, पर उन्हें सक्रिय बनाने के लिए बाह्य उत्तेजना की अनिवार्य आवश्यकता है। ज्यों ही संवेदनाओं के रूप में आत्मा को बाह्य उत्तेजना प्राप्त होती है, संवेदन और बुद्धि के आकार सक्रिय होकर ज्ञान का निर्माण करने लगते है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि आत्मा को ज्ञान कहीं बाहर से प्राप्त होता है। ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है, उसके कहीं बाहर से आने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। बाह्य उत्तेजनाएं आत्मा को केवल इस बात का अवसर प्रदान करती हैं कि वह बीज रूप ज्ञान को विकसित करें। इसीलिए काण्ट ने बुद्धि विकल्पों को "मौलिक रूप में अर्जित"[5] कहा है। इसी बात को ध्यान में रखकर काण्ट ने अपनी रचना "शुद्ध बुद्धि की परीक्षा" की प्रस्तावना में लिखी, "यद्यपि हमारे समस्त ज्ञान का प्रारंभ अनुभव से होता है, किंतु इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता कि उसकी उत्पत्ति अनुभव से होती है" ।[6] बुद्धि विकल्पों को यहां प्रागनुभविक कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वे काल की दृष्टि से अनुभव से पहले आते हैं, उन्हें प्रागनुभविक कहने का मात्र इतना अर्थ है कि वे अनुभव पर आश्रित नहीं हैं। वे अनुभव से पूर्णतया स्वतंत्र हैं। वे अनुभव निरपेक्ष है।

काण्ट का स्पष्ट उल्लेख है कि वास्तविक ज्ञान में यथार्थता, सार्वभौमिकता एवं अनिवार्यता नामक तीन गुण सदा विद्यमान रहना चाहिए। ज्ञान में सत्यता या यथार्थता इंद्रिय संवेदनों द्वारा प्राप्त होती है पर उसमें सार्वभौमिकता और

अनिवार्यता बुद्धि विकल्पों द्वारा आता है। इंद्रिय संवेदनों एवं बुद्धि विकल्पों के बीच परस्पर पूरकता का संबंध है। इसी बात को काण्ट ने इस प्रकार व्यक्त किया है। "इंद्रिय संवेदनों के बिना बुद्धि विकल्प पंगु या शून्य है तथा बुद्धि विकल्पों के बिना इंद्रिय संवेदन अंध हैं"।[7]

काण्ट ने अपने दर्शन को 'समीक्षात्मक' एवं 'अतीन्द्रिय विज्ञानवाद' की संज्ञा दी है। उन्होंने अपने दर्शन को समीक्षात्मक इसीलिए कहा कि उसमें बुद्धिवाद एवं अनुभववाद दोनों की समीक्षा की गई है। पहले की चर्चा की जा चुकी है कि काण्ट के अनुसार बुद्धि का पर्यवासन रूढ़िवाद एवं अंधविश्वास में होता है तथा अनुभववाद का पर्यवासन संदेहवाद में होता है। अनुभववाद ज्ञान का उपादान देता है तथा बुद्धिवाद ज्ञान का स्वरूप देता है, दोनों पृथक–पृथक रूप में ज्ञान का निर्माण नहीं कर सकते हैं। ज्ञान के निर्माण में दोनों के परस्पर सहयोग की आवश्यकता होती है। इस प्रकार काण्ट का दर्शन बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों के दोषों से बचने का प्रयत्न करता है तथा उनके दर्शनों के उपयोगी पक्षों का ग्रहण कर ज्ञान प्राप्ति की बेहतर प्रक्रिया का प्रतिपादन कर ज्ञान को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। इसीलिए उसके दर्शन को 'समीक्षात्मक'दर्शन कहा जाता है।

काण्ट अपने दर्शन में 'अतीन्द्रिय' शब्द का भी प्रयोग करते है। इसका कारण है कि जहां इंद्रिय संवेदन प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त होता है, वहां बुद्धि विकल्प इंद्रिय प्रत्यक्ष का विषय है ही नहीं बल्कि इसका स्वरूप अतीन्द्रिय है। "काण्ट स्वयं कहते हैं ज्ञान हमारे अनुभव का विषय हो सकता है पर उसकी प्रागपेक्षाएं हमारे अनुभव के विषय नहीं हो सकते। ज्ञान की प्रागपेक्षाएं हमारे अनुभव के विषय इसीलिए नहीं हो सकती क्योंकि स्वयं अनुभव उन प्रागपेक्षाओं पर आश्रित है"।[8] इसीलिए काण्टने बुद्धि विकल्पों को अतीन्द्रिय कहा है।

काण्ट के दर्शन में एक और शब्द 'विज्ञानवाद' का भी प्रयोग दिखता हैं। काण्ट ने विज्ञानवाद शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया है। विज्ञानवाद के दो रूप है प्रथम रूप 'तत्वमीमांसीय विज्ञानवाद' जिसमें तत्व भौतिक न होकर चेतन है। द्वितीय रूप 'ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद' है जिसमें ज्ञान का विषय ज्ञाता के ऊपर आश्रित होता है। काण्ट का विज्ञानवाद तत्वमीमांसीय विज्ञानवाद बिलकुल नहीं है। इनके विज्ञानवाद को ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद कहा जा सकता है लेकिन पूर्ण रूप से नहीं ही। उनके अनुसार वास्तविक ज्ञान अपनी सामग्री के लिए इंद्रिय अनुभव पर निर्भर रहता है। इनके दर्शन को 'दृष्टि– सृष्टिवाद' भीकहना ठीक नहीं है। ज्ञान का विषय हमारी मनोमय कल्पना नहीं है। ज्ञान के विषय पारमार्थिक स्व–लक्षणों द्वारा उत्थापित होते हैं जिनका हमें कदापि ज्ञान नहीं हो सकता है। इस दृष्टि से काण्टके दर्शन को आनुभविक वस्तुवाद एवं अतीन्द्रियविज्ञानवाद कहा जाता है।

हम देख चुके हैं काण्ट के कुछ पहले पाश्चात्य दर्शन जगत में दो विरोधी विचारधाराएं प्रचलित थीं। प्रथम विचारधारा बुद्धिवादियों की जिसमें डिकार्ट्स, स्पिनोजा, और लाइबनित्ज मुख्य प्रतिनिधि थे, दूसरी अनुभववाद की विचारधारा थी जिसके लॉक, बर्कले और ह्यूम मुख्य प्रतिनिधि थे। बुद्धिवाद के ये तीनों दार्शनिक एक ही विचारधारा से अपनी बात शुरू करते है लेकिन फिर भी इनके मतों में भेद हो जाता है। उसी प्रकार अनुभववाद के तीनों दार्शनिक भी एक ही बिंदु से अपनी दार्शनिक व्याख्या शुरू करते है लेकिन उनके विचार परंपरा के विकास में भी भेद आ ही जाता है।

काण्ट के अनुसार दोनों परंपराएं ज्ञान की उत्पत्ति संबंधी समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके। ह्यूम का संदेहवाद लॉक के अनुभववाद का साक्षात् परिणाम था। प्रारंभ में काण्ट लाइबनित्ज और वुल्फ के बुद्धिवाद से विशेष प्रभावित थे, किंतु ह्यूम के तर्क प्रहारों ने बुद्धिवाद का प्रासाद सदा के लिए ढाह दिया। ह्यूम के संदेहवाद ने काण्टको इतना प्रभावित किया कि उन्हें कहना पड़ा कि "ह्यूम ने मुझे रूढ़िवादी मोहनिद्रा से जगा दिया"।[9] उन्होंने ह्यूम के संदेहवाद को काफी गंभीरता से लिया। चूंकि ह्यूम का संशयवाद लॉक के अनुभववाद के साक्षात् परिणाम है अतः काण्ट ने लॉक की प्रारंभिक प्राक्कल्पनाओं को प्रतिवर्तित करके घोषित किया कि ज्ञान को बाह्य वस्तुओं के अनुरूप न होकर स्वयं बाह्य वस्तुओं को ही ज्ञान के अनुरूप होना चाहिए। इसकी तुलना काण्ट ने खगोल विद्या के कॉपरनिकस की क्रांति से की है। कॉपरनिकस के पहले खगोल विद्या में पृथ्वी को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केंद्र माना जाता था। इसे भू–केंद्रिक सिद्धांत कहते थे। बाद में कॉपरनिकस ने सिद्ध किया कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केंद्र पृथ्वी न होकर सूर्य है। खगोलविद्या में इसे सूर्य–केंद्रिक सिद्धांत कहते हैं। खगोलविद्या में इसे 'कॉपरनिकस की क्रांति' कहते हैं। काण्टने भी दर्शन के क्षेत्र में कॉपरनिकस जैसी क्रांति उपस्थित की। उन्होंने स्पष्ट रूप में देखा कि यदि ज्ञान के लिए आनुभविक सोपपाधिकता के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाय तो ज्ञान असंभव हो जायेगा। यही कारण है कि उन्होंने ज्ञान को संभव बनाने के लिए 'अतीन्द्रियसोपपाधिकता'में विश्वास कर लिया। इसके कारण इन्हें अज्ञेयवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन करना पड़ा। ज्ञान की प्राप्ति के लिए काण्ट ने इंद्रियों की अपेक्षा बुद्धि को अधिक महत्व दिया। इस संदर्भ में उनकी इस उक्ति "बुद्धि प्रकृति को नियमित करती है" का विशेष महत्व है।[10]

काण्ट के ज्ञान मीमांसा की मूल समस्या रही है कि "कैसे अनुभव निरपेक्ष संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य को स्थापित किया जा सकेगा?"[11] काण्ट ऐसे तर्कवाक्य को स्थापित करके ज्ञान के तीनों गुणों का लाना चाहते थे। पहले ही बात हो चुकीं

है कि काण्ट यथार्थ ज्ञान में सत्यता, सार्वभौमता, एवं अनिवार्यता इन तीनों गुणों की होने की बात करते है।

काण्ट को ज्ञान में इन तत्वों में शामिल करने की प्रेरणा ग्रीक दार्शनिक थेलीज से मिली है। "थेलीज कहते थे अगर हमें त्रिभुज की विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त करना है तो इसके लिए हमें किसी आनुभविक त्रिभुज के निरीक्षण करने की आवश्यकता नहीं है, वरन् केवल आवश्यकता इस बात की है कि हम त्रिभुज के उस प्रत्यय को प्रस्तुत करें जिसका कि हमने प्रागनुभविक रूप में अपने मस्तिष्क में निर्माण कर रखा है। बाद में किसी आनुभविक त्रिभुज में हम यह देखें कि हमारे मानक त्रिभुज का यह आनुभविक त्रिभुज किस सीमा तक प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह, त्रिभुज के यथार्थ ज्ञान के लिए प्रागनुभविक रूप में मस्तिष्क में स्थित प्रत्यय को भी देखना है और उसका आनुभविक परीक्षण भी करना"।[12]

काण्ट सामान्य रूप से वाक्य को दो भागों में बांटते है—1. विश्लेषणात्मक 2. संश्लेषणात्मक

"विश्लेषणात्मक वाक्य वैसे वाक्य होते है जिसमें विधेय उद्देश्य के भीतर पहले से ही विद्यमान होता है। इसमें विधेय का उद्देश्य के साथ तादात्म्य संबंध होता है। इसमें विधेय उद्देश्य के विषय में कोई नवीन बात नहीं बताता बल्कि उद्देश्य में निहित विचारों का मात्र विश्लेषण करता है"।[13] उदाहरण, पिण्ड विस्तृत होता है।

"संश्लेषणात्मक वाक्य वे वाक्य हैं जिनमें विधेय उद्देश्य के भीतर पहले से ही विद्यमान नहीं होता है। इनमें सदा उद्देश्य के बाहर होता है यद्यपि वह उद्देश्य के साथ किसी —न —किसी रूप में संबंधित अवश्य रहता है। यहां विधेय उद्देश्य के विषय में कोई नवीन सूचना अवश्य प्रदान करता है"।[14] उदाहरण, पिण्डभारी है।

इसके बाद संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य को काण्ट दो भागों में विभाजित करते हैं, प्रथम अनुभव सापेक्ष वाक्य तथा द्वितीय अनुभव निरपेक्ष वाक्य। संश्लेषणात्मक अनुभव सापेक्ष वाक्य वे वाक्य हैं जिनमें विधेय उद्देश्य की सीमा के बाहर तो होता ही है, साथ—साथ वह वाक्य पूर्ण रूप से अनुभव पर आश्रित होता है। उदाहरण, अग्नि जलाती है। संश्लेषणात्मक अनुभव निरपेक्ष वाक्य वे वाक्य है जिसमें विधेय उद्देश्य की सीमा के बाहर तो होता है, पर वह अनुभव से बिलकुल स्वतंत्र होता है। उदाहरण, प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। यह वाक्य अनुभव सापेक्ष इसीलिए नहीं है कि स्वयं बहुत से अनुभव इस पर आश्रित हैं तथा इस वाक्य में जो अनिवार्यता और सार्वभौमता पाई जाती है वह अनुभव सापेक्ष वाक्यों में मिलनी असंभव है। यह स्पष्ट है कि किसी वाक्य की अनिवार्यता और सार्वभौमता केवल बुद्धि से ही प्राप्त होती है इसीलिए ऐसे वाक्यों को काण्ट ने संश्लेषणात्मक अनुभव निरपेक्ष वाक्य कहा है। इस प्रकार काण्ट वाक्य की एक तीसरी कोटि को लाते है और उसी को यथार्थ ज्ञान देने वाला वाक्य मानते है

क्योंकि इसमें ज्ञान के तीनों गुणों का समावेश मानते है। इसके द्वारा काण्ट ने अनुभववाद और बुद्धिवाद के बीच समन्वय स्थापित करने का भी प्रयत्न करते हैं। कोई वाक्य अनुभव निरपेक्ष होता है तो वह निश्चित ही प्रागनुभविक होगा और संश्लेषणात्मक होने से आनुभविक भी हो गया। इस तरह दोनों विचारधाराओं का समन्वय हो जाता है। इसको पुष्ट करने के लिए काण्ट दो विज्ञानों को लेते है, प्रथम गणित और दूसरा भौतिकी। उनके अनुसार गणित और भौतिकी दोनों के कथन संश्लेषणात्मक अनुभव निरपेक्ष होते है लेकिन तत्व विज्ञान को इस कोटि में नहीं मानते है।

संक्षेप में, ज्ञान प्राप्त करने की पूरी प्रक्रिया देखते हैं तो इस रूप में दिखता है, जो संवेदनाएं हमें प्राप्त होती है और जो ज्ञान प्राप्त होता है उन दोनों के बीच दो स्तर आता है, उससे गुजरने के बाद ही संवेदनाएं ज्ञान का रूप लेता है। मान लीजिए विभिन्न संवेदनाएं स1, स2, स3, स4, स5, हमारे पांचों ज्ञान इंद्रियों से अंदर प्रवेश करता है, उसे सर्वप्रथम संवेदन शक्ति के रूपों से होकर गुजारना पड़ता है। ये संवेदन शक्ति देश और काल है, "ये हमारी बुद्धि में स्थित ऐसे दो द्वार हैं, जिनसे होकर ही संवेदनाएं बुद्धि तक पहुंचती हैं। हमारा प्रत्येक इन्द्रिय अनुभव देश और काल के आवरण में लिपट कर ही हम तक पहुंचता है। इनके बिना हम किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण कर ही नहीं सकते"।[15] उसके बाद ये बुद्धि की 12 कोटियां में जा कर अपने को ढालता है। प्रत्येक निर्णय किसी न किसी बुद्धि विकल्प को अभिव्यक्त करता है। इन बुद्धि विकल्पों के बिना निर्णय संभव नहीं हो सकता है। वास्तव में 'जानना' एक प्रकार से निर्णय करना है। "इन निर्णयों के स्वरूप में बुद्धि की वे क्रियाएं निहित है, जो समस्त ज्ञान की अनिवार्य शर्तें है"।[16] इन विकल्पों के बाद जो बाहर निकलता है वह ज्ञान होता है।

निष्कर्ष : काण्ट अपने आलोचनात्मक दर्शन की जिसकी चर्चा अपने महत्त्वपूर्ण रचना "शुद्ध बुद्धि की परीक्षा" में करते हैं। संश्लेषणात्मक अनुभव निरपेक्ष निर्णय की प्राप्ति कैसे होगी इसका विस्तृत वर्णन करते है क्योंकि यही निर्णय यथार्थ ज्ञान के तीनों गुणों को पूरा करते है। इस कोटि में गणित और प्राकृतिक विज्ञान को रखते है। तत्वविज्ञान को इस कोटि में नहीं रखा जा सकता है क्योंकि उसे अतीन्द्रिय भ्रम कहा जाता हैं। डेविड ह्यूम ने कहा "ज्ञान संभव ही नहीं है", इसे में संपूर्ण दार्शनिक परंपरा जो ज्ञान को परिभाषित करने में लगी रही है, सब बेकार साबित हो जाता इसीलिए काण्ट यथार्थ ज्ञान की परिभाषा में लग गए। उन्होंने बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों के कमियों को हटा कर उनके गुणात्मक पक्षों को शामिल किया। उन्होंने बताया कि ज्ञान की उत्पत्ति बुद्धि और अनुभव दोनों के समायोजन से ही संभव है। अनुभव ज्ञान के लिए सामग्री प्रदान करती है, और बुद्धि की कोटियां उसे सांचा प्रदान करती हैं।

संदर्भ

1. या. मसीह, पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास (अंग्रेजी), मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 2009, च. 333.
2. Hume aroused me from my dogmatic slumber. Prolegomena to Any Future Metaphysics, Foreword.
3. डॉ. हरिशंकर उपाध्याय, पाश्चात्य दर्शन का उद्‌भव और विकास, पृष्ठ 253
4. Through intuitions, objects are given to us; through concepts, they are thought.
5. Originally Acquired.
6. प्रस्तावना, But although all our knowledge begins with experience it by no means follows that it all originates from Experience. B I (second edition of Critique of Pure Reason)
7. Concepts without percepts are empty and percepts without concepts are blind.Y. Masih, p. 355.
8. जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पाश्चात्य दर्शन की दार्शनिक प्रवृत्तियां, पृष्ठ 167
9. Prolegomena to Any Future Metaphysics, Foreword.
10. Kant, Understanding makes Nature. बुद्धि प्रकृति के अनुरूप नहीं बल्कि प्रकृति बुद्धि के अनुरूप होती है। प्रकृति को ग्राह्य होने के लिए उसे बुद्धि के सांचे के अनुरुप होना ही पड़ता है। इसी कारण कांट कहते है कि बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है।
11. How are apriori synthetic judgement possible?
12. जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पाश्चात्य दर्शन की दार्शनिक प्रवृत्तियां, पृष्ठ 168–69
13. डॉ. बद्रीनाथ सिंह,पाश्चात्य दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 292
14. जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पाश्चात्य दर्शन की दार्शनिक प्रवृत्तियां, पृष्ठ169
15. डॉ. शोभा निगम,पाश्चात्य का ऐतिहासिक सर्वेक्षण,पृष्ठ 315
16. डॉ. हरिशंकर उपाध्याय, पाश्चात्य दर्शन का उद्‌भव और विकास, पृष्ठ 266

❑